Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust
: 302, 'Krishna-Kunj', Plot No.30, Navyug CHS Ltd., V. L Mehta Marg, Vile Parle (w), Mumbai–400056
Phone No. : (022) 2613 0820. **Website**: www.vitragvani.com **Email**: vitragva@vsnl.com

"Bruhad Dravya Sangrah Part-1" has been published by us & the PDF version of the same has been put on our website www.vitragvani.com

We have taken due care, while preparing the same. However, if you find any typographical error, you may kindly inform us on info@Vitragvani.com

By "Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust"
(Shri Shantilal Ratilal Shah-Parivar, Mumbai)

परमात्मने नमः

ॐ

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय-पुण्य नं.-7

वृहद-द्रव्यसंग्रह प्रवचन

भाग-1

परमपूज्य आचार्य श्री नेमिचन्दसिद्धान्तिदेव विरचित वृहद-द्रव्यसंग्रह शास्त्र पर
आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्मरसपूरित गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद
(गाथा 1 से 27 तक)

सम्पादन एवं पद्यानुवाद
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

सह सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :
श्री शान्तिलाल रतिलाल शाह परिवार, सायन (मुम्बई)
श्री सूरजबेन अमुलखभाई सेठ स्मृति ट्रस्टपरिवार, सायन (मुम्बई)

दो शब्द
(प्रकाशकीय)

श्री समयसार आदि परमागमों के गंभीर रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री तीर्थंकर भगवान के शुद्धात्मानुभव प्रधान आध्यात्मिक शासन को जीवन्त रखने वाले आध्यात्मिक सन्त परम कृपालु पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने सरल तथा सुगम प्रवचनों द्वारा उनके अनमोल रहस्य मुमुक्षु समाज को समझाये हैं और इसप्रकार इस काल में अध्यात्म रुचि का नवयुग प्रवर्ता कर आपने असाधारण महान उपकार किया है। इस विषम भौतिक युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में भी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिपूर्ण अध्यात्म विद्या के प्रचार का जो आन्दोलन प्रवर्तित है, वह पूज्य गुरुदेवश्री के चमत्कारी प्रभावना योग का अद्‌भुत फल है।

ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों के प्रकाशन करने का अवसर प्राप्त होना भी अपना परम सौभाग्य है। तदनुसार परम पूज्य श्रीमद् नेमिचन्द सिद्धान्तिदेव विरचित 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का संकलन 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह प्रवचन' भाग-1 के रूप में प्रकाशित करते हुए कल्याणी गुरुवाणी के प्रति अति भक्तिपूर्ण प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

इस 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' के प्रवचनकार परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी शुद्धात्म दृष्टिवंत, स्वरूपानुभवी, वीतरागी देव-गुरु धर्म के परम भक्त, कुमार ब्रह्मचारी, समयसार आदि अनेक गहन अध्यात्म शास्त्रों के पारगामी, स्वानुभवरचंदी भावश्रुतलब्धि के धनी, सततज्ञानोपयोगी, वैराग्यमूर्ति, नयाधिराज शुद्धनय की मुख्यतासहसम्यक् अनेकान्तरूप अध्यात्म तत्त्व के असाधारण उत्तम प्रवचनकार और आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारक अध्यात्म युग सृष्टा महापुरुष थे। उनके इन प्रवचनों का अवगाहन करते ही अध्येता को उनके गाढ़ अध्यात्म प्रेम, शुद्धात्म अनुभव, स्वरूप सन्मुख ढल रही परिणति, वीतराग-भक्ति के रंग से रंगा हुआ चित्त, ज्ञायकदेव के तल को स्पर्शता अगाध श्रुतज्ञान और सातिशय परम कल्याणकारी अद्‌भुत वचनयोग का ख्याल आ जाता है।

पूज्य गुरुदेव ने अध्यात्म नवनीत पूर्ण इस 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' की प्रत्येक गाथा को सर्व ओर से छानकर, विराट अर्थों को इन प्रवचनों में खोला है। अतिशय सचोट, पर सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और प्रकृत विषयसंगत अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा पूज्य गुरुदेव ने 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' के अर्थ गंभीर सूक्ष्म भावों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाये हैं। जीव को कैसे भाव सहज बनें तब जीव पुद्‌गल का स्वतंत्र परिणमन समझा कहा जाए, कैसे

भाव रहें तब आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझा गिना जाए, भूतार्थ ज्ञायक निज ध्रुव तत्त्व का (अनेकान्त सुसंगत) कैसा आश्रय हो तो द्रव्यदृष्टि यथार्थ परिणमी मानी जाए, कैसे-कैसे भाव रहें तब स्वावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-वीर्यादि की प्राप्ति हुई कहलाये - इत्यादि मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषयों को मनुष्य जीवन में बनते अनेक प्रसंगों के सचोट दृष्टान्तों से ऐसे स्पष्ट किये गये हैं कि आत्मार्थी को उस-उस विषय का स्पष्ट भाव भासन होकर अपूर्व गंभीर अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं और वह शुभभावरूप बंधमार्ग में मोक्षमार्ग की मिथ्याकल्पना छोड़कर, शुद्धभावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक् पुरुषार्थ में जुड़ता है। इसप्रकार 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' के स्वानुभूति दायक गंभीर भाव हृदय में सीधे उतर जायें - ऐसी असरकारक भाषा में अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाकर गुरुदेव ने आत्मार्थी जगत पर अनहद उपकार किया है। 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' की गाथाओं में छिपे हुए अनमोल तत्त्वरत्नों का मूल्य स्वानुभव विभूषित कहान गुरुदेव ने जगत विदित किया है।

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पंथ को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं, परन्तु साथ-साथ मुमुक्षुजीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ अंशों में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा चमत्कारिक कार्य करते हैं - ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ़ प्रवचन वाणी में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती है।

इसप्रकार 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' शास्त्र में निहित अध्यात्म तत्त्वविज्ञान के गहन रहस्य अमृत झरती वाणी में समझाकर, साथ ही शुद्धात्म रुचि जागृत करके पुरुषार्थ प्रेरक, प्रत्यक्ष सत्समागम की झांकी खड़ी करानेवाले ये प्रवचन जैन साहित्य में अजोड़ हैं। प्रत्यक्ष सत्समागम के वियोग में ये प्रवचन मुमुक्षुओं को अनन्य आधारभूत है। निरावलम्बन पुरुषार्थ समझाना और प्रेरित करना ही उद्देश्य होने के साथ 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' के सर्वांग स्पष्टीकरणरूप इन प्रवचनों में समस्त शास्त्रों के समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वों का तलस्पर्शी दर्शन आ गया है। मानों श्रुतामृत का सुख सिंधु ही इन प्रवचनों में हिलोरे ले रहा है। यह प्रवचन ग्रन्थ शुद्धात्म तत्त्व की रुचि उत्पन्न करके पर के प्रति रुचि नष्ट करनेवाली परम औषधि है, स्वानुभूति का सुगम पथ है और भिन्न-भिन्न कोटि के सभी आत्मार्थियों का अत्यन्त उपकारक है। पूज्य गुरुदेव ने यह अमृतसागर प्रवचनों की भेंट देकर देश-विदेश में स्थित मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया है।

स्वरूपसुधा प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारम्बार मनन करना योग्य है। यह संसाररूपी विषवृक्ष को छेदने के लिए अमोघ शस्त्र है, जो डाली और पत्रों को छुए बिना ही मूल पर ही सीधा प्रहार करता है। इस अल्पायु मनुष्यभव में जीव का प्रथम में प्रथम कर्तव्य एक निज शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि कराने में ये प्रवचन परम निमित्तभूत हैं।

इस प्रवचन ग्रन्थ में गाथा 1 से 27 तक के प्रवचन संकलित हैं। आगे की गाथाओं का अनुवाद व सम्पादन कार्य प्रारम्भ है, जो अतिशीघ्र प्रकाशित होगा।

इस प्रसंग पर मुमुक्षु समाज पर जिनका विशिष्ट उपकार है, उन धर्मरत्न प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के चरण कमल में अत्यन्त भक्तिभाव से अभिवंदन करके भावना भाते हैं कि मुमुक्षु अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, उग्र पुरुषार्थ से इनमें कथित भावों को सम्पूर्ण रीति से हृदय में उतारकर निज शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को पायें।

इस प्रवचन ग्रंथ के प्रकाशन प्रसंग पर इनके गुजराती संकलनकार श्री अमृतभाई एन. सेठ तथा श्री खीमचंद जे. सेठ का हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। जिन्होंने करुणासागर गुरुदेवश्री के प्रवचनों को लिपिबद्ध कर 'सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' के रूप में संकलित कर जीवंत रखा। सद्गुरु प्रवचन प्रसाद से इन प्रवचनों का व सम्पादन कार्य डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर के मार्गदर्शन में पण्डित देवेन्द्रकुमारजी बिजौलियाँ ने किया है। मुद्रण कार्य श्री मौसम प्रिन्टर्स, दिल्ली द्वारा सम्पन्न हुआ है। अत: उक्त सभी के आभारी हैं।

इस ग्रंथ के स्वाध्याय द्वारा मुमुक्षु निज कल्याण साधें - ऐसी भावना भाते हैं।

- प्रस्तुतकर्त्ता

विषयानुक्रमणिका

मंगलाचरण..१

मंगलाचरण पर प्रवचन..३

गाथा १..५

गाथा १ पर प्रवचन..७

गाथा २..१८

गाथा २ पर प्रवचन..२०

गाथा ३..३५

गाथा ३ पर प्रवचन..३६

गाथा ४..४१

गाथा ४ पर प्रवचन..४२

गाथा ५..४८

गाथा ५ पर प्रवचन..५०

गाथा ६..६४

गाथा ६ पर प्रवचन..६५

गाथा ७..६९

गाथा ७ पर प्रवचन..७०

गाथा ८..७३

गाथा ८ पर प्रवचन..७४

गाथा ९..८२

गाथा ९ पर प्रवचन..८३

गाथा १०..८८

गाथा १० पर प्रवचन..९०

गाथा ११..१०२

गाथा ११ पर प्रवचन..१०३

गाथा १२..१०५

गाथा १२ पर प्रवचन..१०६

गाथा १३..१११

गाथा १३ पर प्रवचन..११७

गाथा १४ .... १७१
गाथा १४ पर प्रवचन १७६
गाथा १५ .... २००
गाथा १५ पर प्रवचन २०१
गाथा १६ .... २०७
गाथा १६ पर प्रवचन २०९
गाथा १७ .... २३०
गाथा १७ पर प्रवचन २३०
गाथा १८ .... २३७
गाथा १८ पर प्रवचन २३७
गाथा १९ .... २४१
गाथा १९ पर प्रवचन २४२
गाथा २० .... २४६
गाथा २० पर प्रवचन २४७
गाथा २१ .... २५२
गाथा २१ पर प्रवचन २५४
गाथा २२ .... २६५
गाथा २२ पर प्रवचन २६८
गाथा २३–२४ .... २८०
गाथा २३–२४ पर प्रवचन २८२
गाथा २५ .... २८८
गाथा २५ पर प्रवचन २८९
गाथा २६ .... २९१
गाथा २६ पर प्रवचन २९२
गाथा २७ .... २९५
गाथा २७ पर प्रवचन २९६
चूलिका २९९
चूलिका पर प्रवचन ३०२

ॐ

वृहद्-द्रव्यसंग्रह प्रवचन

(१)
षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय अधिकार

इस वृहद्-द्रव्यसंग्रह में छह द्रव्यों का वर्णन है। भगवान सर्वज्ञदेव ने ज्ञान में छह वस्तुयें पृथक्-पृथक् देखी हैं, उनका इसमें वर्णन है। इस शास्त्र के कर्ता श्री नेमिचन्द्र आचार्य हैं, वे सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। भगवान की दिव्यध्वनि परम्परा में से सन्तों ने षट्खण्डागम रचे (बनाये) हैं। उनका जिसको ज्ञान हो, उसको सिद्धान्तचक्रवर्ती कहा जाता है। वे आचार्य लगभग वि.सं. ७०० में हुए हैं। इसमें छह द्रव्यों के भिन्न-भिन्न स्वरूप का वर्णन है। 'समयसार' में तो शुद्ध द्रव्यदृष्टि के विषय की प्रधानता से ज्ञायकद्रव्य का वर्णन है और इसमें ज्ञानप्रधान कथन है। इस द्रव्यसंग्रह में ५८ गाथायें हैं, यहाँ सर्वप्रथम अनुवादक मंगलाचरण करते हैं –

श्री वीरं जिनमानस्य जीवाजीवावबोधकम्।
द्रव्यसंग्रहग्रन्थस्य देशभाषां करोम्यहम्॥

श्री वीर भगवान को नमस्कार कर, जीव-अजीव द्रव्यों का बोध करानेवाले – ऐसे इस द्रव्यसंग्रह शास्त्र की देशभाषा को करता हूँ।

इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव हैं। वे मंगलाचरण करते हैं –

प्रणम्य परमात्मानं सिद्धं त्रैलोक्यवन्दितम्।
स्वाभाविकचिदानन्दस्वरूपं निर्मलाव्ययम्॥१॥

शुद्धजीवादिद्रव्याणां देशकं च जिनेश्वरम्।
द्रव्यसंग्रहसूत्राणां वृत्तिं वक्ष्ये समासतः ॥२॥

टीकाकार का मंगलाचरण :– तीनों लोकों द्वारा वंदनीय, स्वाभाविक चिदानन्दस्वरूप, निर्मल तथा अविनाशी – ऐसे सिद्ध परमात्मा को और शुद्धजीवादि द्रव्यों के उपदेशक श्रीजिनेश्वर भगवान को प्रणाम करके, मैं (ब्रह्मदेव) द्रव्यसंग्रह (नामक ग्रन्थ) के सूत्रों की टीका संक्षेप में कहूँगा।

टीका :– मालवा देश में, धारानगरी के अधिपति कलिकालचक्रवर्ती भोजदेव राजा के संबंधी महामंडलेश्वर श्रीपाल के 'आश्रम' नामक नगर में श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के चैत्यालय में, शुद्धात्मद्रव्य के संवेदन से उत्पन्न हुए, सुखामृत के रसास्वाद से विपरीत नारकादि दुःखों से भयभीत, परमात्मभावना से उत्पन्न हुए, सुखरूपी सुधारस के पिपासु, भेदाभेद रत्नत्रय की भावना के प्रेमी, भव्यवरपुंडरीक, राजकोष के कोषाध्यक्ष आदि अनेक राज्यकार्य के अधिकारी 'सोम' नामक राजसेठ के निमित्त श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने प्रथम छब्बीस गाथाओं में लघु द्रव्यसंग्रह बनाकर, तदुपरान्त विशेष तत्त्व के परिज्ञान के लिए वृहद्-द्रव्यसंग्रह की रचना की। उसकी (वृहद्-द्रव्यसंग्रह की) अधिकारशुद्धिपूर्वक व्याख्या का (टीका का) प्रारम्भ किया जाता है।

वहाँ प्रथम **जीवमजीवं दव्वं** इत्यादि सत्ताईस गाथा पर्यन्त छह द्रव्य, पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करनेवाला प्रथम अधिकार है। उसके पश्चात् **आसवबंधण** इत्यादि ग्यारह गाथा पर्यन्त सात तत्त्व और नव पदार्थों के प्रतिपादन की मुख्यता से द्वितीय महाधिकार है। तत्पश्चात् **सम्मद्दंसणणाणं** इत्यादि बीस गाथाओं में मोक्षमार्ग के कथन की मुख्यता से तृतीय अधिकार है। इसप्रकार अट्ठावन गाथाओं में तीन अधिकार जानना।

उनमें भी आदि के प्रथम अधिकार में चौदह गाथाओं में जीवद्रव्य का व्याख्यान है। तत्पश्चात् **अज्जीवो पुण णेओ** इत्यादि आठ गाथाओं में अजीवद्रव्य का कथन है। तत्पश्चात् **एवं छब्भेयमिदं** आदि पाँच गाथाओं में पंचास्तिकाय का विवरण है। इसप्रकार प्रथम अधिकार में तीन अंतराधिकार जानना। उनमें भी चौदह गाथाओं में पहली गाथा नमस्कार की मुख्यता से है, द्वितीय गाथा **जीवो उवओगमओ** इत्यादि जीवादि नव अधिकारों की सूचनारूप है। तत्पश्चात् नव अधिकारों के विवरणरूप बारह गाथासूत्र हैं।

उन (बारह गाथासूत्रों) में भी प्रारंभ में जीव की सिद्धि के लिए **तिक्काले चदुपाणा** आदि एक सूत्र है। तत्पश्चात् ज्ञान और दर्शन दोनों उपयोगों का कथन करने के लिए **उवओगो दुवियप्पो** आदि तीन गाथायें हैं। तत्पश्चात् (जीव के) अमूर्तपने के कथन हेतु **वण्णरसपंच** आदि एक सूत्र है। तत्पश्चात् कर्म के कर्त्तापने के प्रतिपादनरूप से **पुग्गलकम्मादीणं** आदि एक सूत्र है। तत्पश्चात् भोक्तापने का निरूपण करने के लिए **ववहारा सुहदुक्खं** आदि एक सूत्र है। तत्पश्चात् (जीव को) स्वदेहप्रमाण सिद्ध करने के लिए **अणुगुरुदेहपमाणो** आदि एक सूत्र है। तत्पश्चात् संसारी जीव का स्वरूप कथन करने के लिए **पुढविजलतेउवाऊ** आदि तीन गाथायें हैं। तत्पश्चात् **णिक्कम्मा अट्ठगुणा** आदि गाथा के पूर्वार्ध में सिद्धस्वरूप का और उत्तरार्ध में (जीव के) ऊर्ध्वगमनस्वभाव का कथन किया है। इसप्रकार नमस्कारादि चौदह गाथाओं द्वारा प्रथम अधिकार में समुदायपातनिका है।

मंगलाचरण पर प्रवचन

मंगलाचरण में सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है, सिद्ध भगवान तीनों लोकों से वन्दनीय हैं। तीनों लोकों के प्रधान पुरुष सिद्धों को नमस्कार करते हैं। सिद्धों को स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द है। बाहर से ज्ञान और आनन्द नहीं आता, किन्तु स्वयं के स्वभाव में एकाग्रता करने से स्वभाव में से ही ज्ञान और आनन्द उत्पन्न हुए हैं। ज्ञान और आनन्द स्वभाव से उत्पन्न हुए हैं अर्थात् पर से, परद्रव्य से उत्पन्न नहीं होते हैं। आत्मा में शक्तिरूप से सामर्थ्य तो थी, किन्तु सिद्धदशा अनादि से व्यक्त नहीं थी; स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके एकाग्रता से सिद्धदशा प्रकट हुई, उसमें - स्वभाव से ही ज्ञान और आनन्द है। इसके अतिरिक्त सिद्ध भगवन्त निर्मल हैं, राग-द्वेषादि मेल नहीं हैं तथा निमित्त की अपेक्षा कर्म का मेल भी नहीं है तथा उन सिद्धों का फिर से (दुबारा) जन्म नहीं होता। उन्होंने अविनाशी परमात्मदशा को प्राप्त किया है। भगवान को देह से जन्म लेने की इच्छा नहीं होती और उनका जन्म-अवतार भी नहीं होता - ऐसे सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो।

शुद्ध जीवद्रव्य वगैरह छह द्रव्यों का उपदेश देनेवाले श्री जिनेन्द्र भगवान को भी नमस्कार हो। इसप्रकार मंगलाचरण कर द्रव्यसंग्रह नाम के सूत्र की मैं टीका करूँगा, श्री ब्रह्मदेवसूरि ने ऐसी प्रतिज्ञा की।

यह शास्त्र किसके निमित्त से रचा है ? उसे कहते हैं –

मालवा देश की धारा नगरी में भोजदेव नामक राजा के संबंधी श्रीपाल मण्डलेश्वर थे। उनके आश्रम नाम के नगर में श्री मुनिसुव्रत भगवान के चैत्यालय में इस शास्त्र की रचना की थी। सोम नामक राज–श्रेष्ठी के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है।

वे सोम नाम के नगरसेठ कैसे हैं ? यह कहते हैं – शुद्धात्मद्रव्य के ज्ञान से उत्पन्न जो परमानन्द अमृत है, उससे विपरीत चारगति के दु:ख हैं। इन चारों गतियों के दु:खों से जो भयभीत हैं और चिदानन्द परमात्मा की भावना से उत्पन्न – ऐसे परम सुखामृतपान के अभिलाषी हैं तथा निश्चय–व्यवहार सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय की भावना जिनको प्रिय है। देखिये, जिसको संसार प्रिय है, उसको यह बात रुचिकर नहीं होगी। श्रोता कैसा होना चाहिए ? वह इसमें आ जाता है कि चारगति का भय होता है और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की भावना जिसको प्रिय हो – ऐसा जीव इस द्रव्यसंग्रह का श्रोता होने योग्य है। देखो, गृहस्थाश्रम में रहनेवाले महान सेठ को भी ऐसे धर्म से प्रेम होता है। ऐसे धर्मप्रेमी जीव के लिए आचार्यदेव ने पहले द्रव्यसंग्रह की २६ गाथायें रचीं और बाद में विशेष तत्त्व बताने के लिए अन्य गाथायें रचीं – बनायीं। इसप्रकार इस वृहद् द्रव्यसंग्रह की रचना हुई।

❑❑❑

स्वभाव में हठ काम नहीं आता....

आत्मार्थी हठ नहीं करता कि मुझे झटपट अपना कार्य करना है। स्वभाव में हठ काम नहीं आता। मार्ग सहज है; हठ से, जल्दबाजी से, अधैर्य से मार्ग हाथ नहीं आता। सहज मार्ग को प्राप्त करने के लिए धैर्य तथा विवेक चाहिए। ऋषभदेव भगवान जैसे को तेरासी लाख पूर्व तक चारित्रदशा नहीं थी और भरत चक्रवर्ती जैसे को भी सत्तर लाख पूर्व राज्यपद तथा छह लाख पूर्व चक्रवर्तीपद था। वे जानते थे कि भीतर स्वरूप में अवगाहनरूप एकाग्रता के चारित्र का पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए हठ नहीं करते थे। कितनों को ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन हुआ, परन्तु चारित्र धारण न करें तो किस काम का ? किन्तु भाई! भीतर स्वभाव में हठ नहीं चलती, सहज पुरुषार्थ से अंतर में पहुँचा जाता है। यह बात समझने योग्य है।

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–१५१

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-१

अब गाथा के पूर्वार्ध द्वारा मैं संबंध, अभिधेय और प्रयोजन कहता हूँ और उत्तरार्ध द्वारा मंगल के लिए इष्टदेव को नमस्कार करता हूँ - ऐसा अभिप्राय मन में रखकर भगवान (श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव) इस गाथासूत्र को कहते हैं -

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंद-विंद-वंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा॥१॥

जीवमजीवं द्रव्यं जिनवरवृषभेण येन निर्दिष्टम्।
देवेन्द्र-वृन्द-वन्द्यं वन्दे तं सर्वदा शिरसा॥१॥

कहे जीव-अजीव जिन जिनवर वृषभ ने लोक में।
वे वंद्य सुरपति वृन्द मैं वंदन करूँ कर जोर कर॥१॥

गाथार्थ :- मैं (नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव), जिस जिनवरवृषभ ने जीव और अजीव द्रव्य का वर्णन किया है, उस देवेन्द्रों के समूह से वंद्य तीर्थंकर-परमदेव को सदा मस्तक द्वारा नमस्कार करता हूँ।

टीका :- **वंदे** इत्यादि पदों का क्रियाकारकसंबंध से पदखण्डनारूप से व्याख्यान किया जाता है। **वंदे** एकदेश शुद्धनिश्चयनय से स्वयं शुद्धात्माराधनालक्षण (निज-शुद्धात्मा की आराधना जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है - ऐसे) भावस्तवन द्वारा तथा असद्भूतव्यवहारनय से उसके प्रतिपादक वचनरूप द्रव्यस्तवन द्वारा नमस्कार करता हूँ। परमशुद्धनिश्चयनय से तो वंद्य-वंदक भाव नहीं है। वह नमस्कार करनेवाला कौन है? मैं नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव हूँ। किसप्रकार नमस्कार करता हूँ? **सव्वदा** सदा। किसके द्वारा? **सिरसा** उत्तम अंग द्वारा "**तं**" (वंदनक्रिया के) कर्मपने को प्राप्त है, उसको वह (वंदनक्रिया के कर्मपने को प्राप्त) कौन है? वीतराग सर्वज्ञ। वह कैसा है? **देविंदविंदवंदं** मोक्षपद के अभिलाषी देवेन्द्र आदि से वंद्य है। "**भवणालयचालीसा विंतरदेवाण होंति बत्तीसा। कप्पामरचउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ॥**" (अर्थ:- भवनवासी देवों के चालीस इन्द्र, व्यंतर देवों के बत्तीस इन्द्र, कल्पवासी देवों के चौबीस इन्द्र, ज्योतिषी देवों के चन्द्र और सूर्य - ये दो इन्द्र, मनुष्यों का एक इन्द्र चक्रवर्ती और तिर्यंच का एक इन्द्र सिंह - इसप्रकार सब मिलकर सौ इन्द्र हैं।) - इस गाथा में कहे हुए सौ इन्द्रों

से वंद्य हैं। **जेण** जिन भगवान ने क्या किया है? **णिद्दिट्ठं** निर्दिष्ट किया है – कहा है– प्रतिपादन किया है। क्या? **जीवमजीवं दव्वं** जीव और अजीव दो द्रव्य, वे इसप्रकार:– सहजशुद्धचैतन्यादिलक्षण जीवद्रव्य और उससे विलक्षण, पुद्गलादि पाँच भेदवाला अजीवद्रव्य। तदुपरान्त चिच्चमत्कारलक्षण शुद्ध–जीवास्तिकायादि पाँच अस्तिकायों का, परमचिज्ज्योतिस्वरूप शुद्धजीवादि सात तत्त्वों का और निर्दोष परमात्मादि नव पदार्थों के स्वरूप का उपदेश किया है। तथा वे भगवान कैसे हैं? **जिणवरवसहेण** मिथ्यात्व और रागादि जीते होने के कारण असंयत–सम्यग्दृष्टि आदि एकदेश जिन हैं, उनमें जो वर अर्थात् श्रेष्ठ हैं, वे गणधर–देव हैं, उन जिनवरों के (गणधरों के) भी जो वृषभ अर्थात् प्रधान हैं, वे जिनवरवृषभ अर्थात् तीर्थंकर–परमदेव हैं। (उन जिनवरवृषभ द्वारा कहा गया है।)

यहाँ अध्यात्मशास्त्र में यद्यपि सिद्धपरमेष्ठी को नमस्कार करना योग्य है तो भी व्यवहारनय का आश्रय लेकर उपकार स्मरण करने के लिए अर्हत्–परमेष्ठी को ही नमस्कार किया है। तथा कहा भी है – अर्हत् परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है, अत: मुनिवरों ने शास्त्र के आदि में अर्हत्–परमेष्ठी के गुणों की स्तुति की है।

यहाँ गाथा के उत्तरार्ध से **नास्तिकत्वपरिहारः शिष्टाचारप्रपालनम्। पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः॥** अर्थ: – नास्तिकता का त्याग, शिष्टाचार का पालन, पुण्य की प्राप्ति और विघ्नविनाश – इन चार लाभों के लिए शास्त्र के आरंभ में इष्टदेव की स्तुति की जाती है। इस श्लोक में कहे गये चार फलों को जानते हुए शास्त्रकार शास्त्र के आरंभ में तीन प्रकार के देवों को तीन प्रकार से नमस्कार करते हैं।

तीन प्रकार से देव का कथन किया जाता है। किसप्रकार से? इष्ट, अधिकृत और अभिमत – इन तीन भेदों से। (१) **इष्ट** – अपने द्वारा पूज्य, वह इष्ट। (२) **अधिकृत** – ग्रन्थ अथवा प्रकरण के प्रारम्भ में नमस्कार के लिए जो विवक्षित हो, वह। (३) **अभिमत** – सब लोगों को जो विवाद बिना मान्य हो, वह।

इसप्रकार मंगल का व्याख्यान किया। यहाँ मंगल उपलक्षण पद है। कहा है –

मंगलणिमित्तहेउं परिमाणं णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमायरिओ॥

अर्थ :- मंगलाचरण, (शास्त्र बनाने का) निमित्तकारण, प्रयोजन, परिमाण, नाम और कर्ता - इन छह अधिकारों की व्याख्या करने के पश्चात् आचार्य शास्त्र का व्याख्यान करें।

वक्खाणउ व्याख्यान करना। किसके द्वारा? **आयरिओ** आचार्यदेव द्वारा। किसका? **सत्थं** शास्त्र का। **पच्छा** पश्चात्। प्रथम क्या करके? **वागरिय** व्याख्या करके। किसकी? **छप्पि** छ: अधिकारों की। कौन से? **मंगलणिमित्तहेउं परिमाणं णाम तह य कत्तारं** मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्त्ता - इसप्रकार गाथा में कहे गये मंगल आदि छह अधिकार भी जानना चाहिए।

गाथा के पूर्वार्ध से संबंध, अभिधेय और प्रयोजन सूचित किया है। किसप्रकार? विशुद्ध ज्ञानदर्शन जिसका स्वभाव है - ऐसे परमात्मा के स्वरूपादि के विवरणरूप जो वृत्तिग्रन्थ, वह व्याख्यान है और उसका प्रतिपादन करनेवाला जो गाथासूत्र वह व्याख्येय है। इसप्रकार व्याख्यान-व्याख्येयरूप संबंध जानना। जो व्याख्या करने योग्य सूत्र हैं, वे ही अभिधान-वाचक-प्रतिपादक कहलाते हैं। अनंतज्ञानादि अनंतगुणों के आधाररूप परमात्मा आदि का स्वभाव, वह अभिधेय-वाच्य-प्रतिपाद्य है। इसप्रकार अभिधान-अभिधेय का स्वरूप जानना। व्यवहार से छ: द्रव्यादि का परिज्ञान, वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है, निश्चय से निज निरंजन-शुद्धात्मसंवित्ति से उत्पन्न निर्विकार परमानन्द जिसका एक लक्षण है - ऐसे सुखामृत के रसास्वादरूप स्वसंवेदनज्ञान वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। परमनिश्चय से उस स्वसंवेदनज्ञान के फलरूप, केवलज्ञानादि अनंतगुण के साथ अविनाभावी, निजात्म-उपादानसिद्ध अनंत सुख की प्राप्ति, वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।

इसप्रकार नमस्कार गाथा का व्याख्यान किया॥१॥

गाथा १ पर प्रवचन

देखो, निर्ग्रन्थ दिगम्बर संत श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती, जंगल में रहनेवाले, आत्मा के आनन्द में झूलनेवाले - रमण करनेवाले महान संत थे। वन में जैसे सिंह विचरण करता है, वैसे ही वे आत्मा के मोक्षमार्ग में विचरण करते थे। वे कहते हैं कि जिनवरों में प्रधान ऐसे श्री तीर्थंकरदेव ने जीव और अजीव द्रव्यों का कथन किया है तथा देवेन्द्रों के समूह से वन्दित हैं - ऐसे तीर्थंकरदेव को मैं हमेशा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

देखो, विकल्प हुआ है, इसलिए ऐसा कहा है कि हमेशा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ। यह तो निमित्त का कथन है। नमस्कार में भी नयों का अवलम्बन लेकर अद्‌भुत कथन होगा। इस शास्त्र में नयों का बहुत ही सरल विस्तार है।

अब गाथा के प्रत्येक शब्द का अर्थ करते हैं –

वन्दे – अर्थात् वन्दन करता हूँ। किसप्रकार वंदन करता हूँ, इसमें नय की अपेक्षा है।

(१) एकदेश शुद्ध – ऐसा जो निश्चयनय है, उसकी अपेक्षा से स्वयं के शुद्ध आत्मा का आराधन करनेवाले भावस्तवन से वन्दना करते हैं। स्वयं के चिदानन्दस्वभाव का भान करके उसमें एकाग्रता से जिस अंश में शुद्धपर्याय प्रकट हुई है, उसका नाम एकदेश शुद्ध निश्चयनय से नमस्कार है। देखो, इस शरीर की क्रिया तो बाहर में आयी और विकल्प हुआ, वह व्यवहार में आया। निर्मल पर्याय प्रकट हुई और अंतर में अभेद हुई उतना निश्चयनय से नमस्कार है। देखो, अरिहन्त भगवान को नमस्कार करने की यह रीति। स्व-पर्याय की शुद्धता हुई, उसको जाननेवाला ज्ञान, वह पर्याय अपेक्षा से शुद्ध निश्चयनय है। यहाँ निश्चयनय कहा है, वह पर्याय अपेक्षा से है। पर्याय में आंशिक शुद्धता प्रकट हुई उसको जानना, उसका नाम एकदेश शुद्ध निश्चयनय है। समयसार तो शुद्धद्रव्य की दृष्टि की अपेक्षा से निर्मल पर्याय को भी अभूतार्थ कहकर व्यवहार का विषय मानता है और यहाँ उस पर्याय को एकदेश शुद्ध निश्चयनय का विषय कहा है।

देखो, यथार्थ तत्त्व समझे बिना जीव ने मंदराग अनन्तबार किया और अनन्तबार नमस्कारमंत्र बोलकर पुण्य का बंध किया, स्वर्ग में अनन्तबार गया, लेकिन यहाँ कहते हैं कि ऐसा एकदेश शुद्ध निश्चयरूप भाव नमस्कार करे तो अल्पकाल में मोक्ष हुए बिना न रहे। यहाँ तो ऐसा वन्दन करता है कि जिससे मुक्ति हो।

स्वयं के शुद्ध स्वभाव के भान बिना यथार्थ नमस्कार नहीं होता। वंदन करनेवाला कैसा है ? और वन्दन करने योग्य कैसा है ? इसके भान बिना सत्य वन्दन नहीं होता। मैं ज्ञायक मूर्ति भगवान हूँ – ऐसे स्वयं के स्वभाव की आराधना करना उसका नाम निश्चय से भावस्तवन है। शुभभाव हो, उसको यहाँ भावस्तवन नहीं कहा; किन्तु रागरहित चैतन्य में एकाग्रता हो उसका नाम भावस्तवन है – ऐसे भावस्तवन से मैं नमस्कार करता हूँ अर्थात् मैं शुद्धात्मा का भान करके उसकी आराधना करता हूँ। बीच

में विकल्प आये, उस पर ध्यान नहीं देता। भगवान की ओर का लक्ष्य (लड़ी) वह विकल्प है, राग है; वह वास्तविक नमस्कार नहीं। स्वयं की निजशुद्धात्मा की प्रतीति और एकाग्रता हो, वह भाव नमस्कार है। पर को-अन्य को नमस्कार करना - यह व्यवहार है। स्वयं, स्वयं की निर्मल वीतरागी पर्याय द्वारा स्वयं की आत्मा में झुक गया, नम गया - यह निश्चय से भाव नमस्कार है। अभी तक साधकदशा की बात है, इससे एकदेश शुद्धता की बात ली गयी है। अन्दर में ऐसे निश्चयसहित भगवान को नमस्कार करने का विकल्प आये, वह व्यवहार नमस्कार है।

(२) असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से तो निज शुद्धात्मा का प्रतिपादन करनेवाले वचनरूप द्रव्यस्तवन से नमस्कार करता हूँ। देखो, जिसके अन्तरंग में शुद्ध चैतन्य की आराधनारूप नमस्कार विद्यमान है - ऐसे जीव को विकल्प उठते ही वाणी से शुद्ध आत्मा की प्रशंसा करता है, उसको द्रव्य नमस्कार कहा जाता है। अहो! निजशुद्धात्मा में अन्तरंग की ओर झुकावभाव होना, वही धर्म है। इसप्रकार के वचनों से निजशुद्धात्मा का स्तवन करना, वह असद्भूतव्यवहारनय से नमस्कार है। वचन-वाणी जड़ है, वह आत्मा से भिन्न है, इसलिए उसको द्रव्य नमस्कार कहा और उससमय स्वभाव में एकाग्रता हुई है, उतना भाव नमस्कार कहा है। इसप्रकार भाव और द्रव्य दोनों को साथ-साथ रखकर वर्णन किया है। अन्तरस्वरूप में वीतरागभाव से एकाग्रता हुई, जितना भावनमन वह निश्चय और विकल्प उठने से वाणी निकली तो उस वाणी में भी शुद्धात्मा का ही आदर और बहुमान करता है। अहो! मेरा आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा का आराधन करके मैं ही परमात्मा होऊँगा - ऐसी वाणी निकाले, उसको भी असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्य नमस्कार कहा है। देखो, इसका नाम भगवान को नमस्कार है। भगवान का नाम लो - ऐसी बात भी नहीं आयी। जिसने भगवान शुद्धात्मा का बहुमान किया, यथार्थ में उसने ही भगवान को नमस्कार किया है। अरे! शुद्धात्मा ही श्रवण करना, शुद्धात्मा ही कहना, उसका ही मनन-चिन्तन करना - इसप्रकार शुद्धात्मा की भावना कर उसमें लीनता-तल्लीनता की, उतना ही निश्चय से भाव नमस्कार है और अभी साधकदशा है; वहाँ विकल्प उठा, वाणी निकली, वह द्रव्य नमस्कार है, वह असद्भूतव्यवहार से नमस्कार है। नमस्कार करने में दो नयों की अपेक्षा से कहा। १. शुद्धात्मा का श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकाग्रता से शुद्धपर्याय प्रकट हुई, उसका नाम एकदेश शुद्ध निश्चय

से नमस्कार है। २. विकल्प उठा, शुद्धात्मा के बहुमान की वाणी निकली, वह असद्भूतव्यवहार से नमस्कार है।

(३) अब तीसरे नय की अपेक्षा कहते हैं। परमशुद्धनिश्चयनय से तो वंद्य-वंदक भाव ही नहीं। मैं वंदन करनेवाला हूँ और भगवान वंद्य हैं - ऐसा वंद्य-वंदकभाव का विकल्प आत्मा के स्वभाव में नहीं तथा जहाँ पूर्णदशा शुद्ध प्रकट हुई है, वहाँ केवली भगवान को भी वंद्य-वंदकभाव नहीं है। सातवें गुणस्थान से ही ऐसी निर्विकल्पदशा होती है कि वहाँ वंद्य-वंदकभाव का विकल्प नहीं होता। केवली भगवान **नमो तीर्थाय** - इसप्रकार चार तीर्थों को नमस्कार नहीं करते। चिदानन्दस्वभाव के भान के बाद निर्विकल्पदशा न हो, तबतक छठवें गुणस्थान तक वंद्य-वन्दकभाव का विकल्प होता है, इसके बाद उसको विकल्प नहीं होता।

द्रव्यसंग्रह के मंगलाचरण में श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करते हैं। अन्तर के चिदानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक उसमें एकाग्रता से क्षण-क्षण में वीतरागी शुद्धता बढ़ती जाती है, इसका नाम एकदेश शुद्धनिश्चयनय से भाव नमस्कार है। जहाँ तक स्वयं, स्वयं के ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करके आंशिक वीतरागभाव प्रकट नहीं करता, वहाँ तक भगवान को सही-सत्य भाव नमस्कार नहीं होता। जैसा भगवान का स्वभाव है, वैसा ही स्वयं का स्वभाव है - ऐसे स्वभाव की दृष्टि से जितनी शुद्धता प्रकट हुई, उतना भाव नमस्कार है।

देखो! धर्मी को चैतन्यस्वभाव की दृष्टि में ऐसी शुद्धता तो क्षण-क्षण बढ़ती ही है, लेकिन यहाँ मंगलाचरण में जब पर को नमस्कार करने का विकल्प उठता है-होता है, तब अन्दर में स्वयं के स्वभाव की ओर जितनी एकाग्रता होती है, उसको निश्चय से भाव नमस्कार कहा और पर की ओर के झुकावरूप भाव का विकल्प हुआ, उसको तथा वाणी को द्रव्य नमस्कार कहा।

इसीप्रकार निश्चय प्रतिक्रमण, वन्दन, स्तुति इत्यादि में भी ऐसा ही समझना कि जिस-जिस क्षण जिसप्रकार का विकल्प हुआ, उस-उस क्षण स्वभाव की ओर एकाग्रता को वह नाम दिया है। प्रतिक्रमण का विकल्प हुआ, तब उस शुद्धता को निश्चयप्रतिक्रमण कहा और स्तुति का विकल्प हुआ, तब उस शुद्धता के अंश को ही निश्चयस्तुति कहा

है। इसप्रकार स्वभाव के आश्रय से जो शुद्धता हुई; उसमें ही निश्चयस्तुति, निश्चयप्रतिक्रमण आदि आ जाते हैं।

यहाँ शुद्धता के अंश को एकदेश शुद्धनिश्चयनय कहा है। यह भी मूल शुद्धनिश्चय नहीं है। त्रिकाली एकरूप चिदानन्दस्वभाव - यह परमशुद्धनिश्चय है तथा उससमय स्तुति का विकल्प हुआ है और वाणी निकली है, इससे उस वाणी को द्रव्यस्तुति कहा जाता है, यह भी असद्भूतव्यवहार है। वाणी का आत्मा में अभाव है; किन्तु उससमय उस जाति का विकल्प हुआ है, इसलिए वाणी को भी उपचार से द्रव्यस्तवन कहा। इसप्रकार दो नयों का वर्णन किया।

परमशुद्धनिश्चयनय से तो स्वयं का आत्मा सिद्धसमान है। उस स्वभाव में एकाग्रता से सातवें गुणस्थान की निर्विकल्पदशा हुई, वहाँ तो वंद्य-वंदकभाव का विकल्प नहीं है। छठवें गुणस्थान तक ही वंद्य-वंदकभाव का विकल्प होता है।

देखो! यह वस्तुस्वरूप समझने जैसा है। एकदेश शुद्धनिश्चय कहो, भावस्तवन कहो, संवर और निर्जरा कहो अथवा धर्म कहो, वह एक ही है। लेकिन वह अखंड चिदानन्द स्वभाव की दृष्टि और आश्रय से ही प्रकट होता है। बीच में विकल्प हुआ, वह भी द्रव्यस्तवन में गिना जाता है और वह पुण्यबंध का कारण है।

अहो! मैं एक समय में परिपूर्ण सामर्थ्य का पिण्ड हूँ, अनन्त लोकालोक को एकसमय में जान लेना ही मेरी पर्याय का सामर्थ्य है। इसप्रकार स्वयं के स्वभाव की, वाणी से महिमा करना, यह द्रव्यस्तवन है और वहाँ स्वभावदृष्टि से जो शुद्धता प्रकट हुई है, वह भावस्तवन है - ऐसे भावस्तवन बिना व्यवहारस्तवन भी सत्य नहीं होता। ज्ञानी को ही निश्चयस्तवन सहित व्यवहारस्तवन होता है। अज्ञानी को निश्चय अथवा व्यवहारस्तवन नहीं होता।

देखो! स्वयं के स्वभाव की दृष्टि करके उसकी आराधना की, उसमें जिनेन्द्र भगवान का स्तवन आ जाता है। आत्मा के भान बिना जिनेन्द्र की स्तुति भी सत्य-यथार्थ नहीं होती - इसप्रकार स्तुति का वर्णन किया।

अब नमस्कार करनेवाला कौन है और वन्दनीय कौन है ? यह कहते हैं। यहाँ नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव तो नमस्कार करनेवाले हैं। वे श्री जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार

करते हैं; किसप्रकार, कि मस्तक झुकाकर सर्वदा नमस्कार करते हैं।

देखो! मस्तक झुकाकर चौबीस घंटे नमस्कार नहीं करते, किन्तु अन्तर में चैतन्य स्वभाव की दृष्टि से प्रतिक्षण शुद्धता ही बढ़ती जाती है, ज्ञायकस्वभाव का ही सदा आदर करते हैं, इसलिए भगवान को हमेशा नमस्कार करता हूँ – ऐसा कहा।

मुनि को अल्पनिद्रा हो, उस निद्रा के समय भी चिदानन्दस्वभाव का जितना अवलम्बन है, उतनी तो शुद्धि बढ़ती जाती है। उससे नींद के समय भी भगवान को नमस्कार करता हूँ – ऐसा कहा है। अन्दर में परमार्थस्वभाव में हमेशा नमस्कार होता है, इसीलिए व्यवहार में भी सदा नमस्कार करने को कह दिया है। कोई हमेशा ऐसा विकल्प नहीं होता, किन्तु अन्दर की वीतरागदशा बढ़ती जाती है; इससे हमेशा नमस्कार होता ही रहता है।

जो सम्पूर्ण वीतरागदशा को प्राप्त हुए हैं – ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया है। श्री जिनेन्द्रदेव कैसे हैं ? मोक्षपद को चाहनेवाले देवेन्द्रों से भी पूज्य हैं। सौ इन्द्र हैं, उनको मोक्षपद की ही अभिलाषा है। इन्द्रपद प्राप्त किया है, किन्तु उसकी भावना नहीं है – ऐसे इन्द्र भी भगवान के चरण-कमलों में नमन करते हैं। अरे! जिनको इन्द्रपद की ऋद्धि का आदर नहीं, किन्तु चिदानन्दस्वभाव का ही आदर है – ऐसे इन्द्रों से भी भगवान वंदित हैं।

सौ इन्द्र हैं, वे इसप्रकार हैं – भवनवासी देवों के ४०, व्यन्तर देवों के ३२, कल्पवासी देवों के २४, ज्योतिषी देवों के २, मनुष्यों का १ तथा तिर्यंचों का १।

इसप्रकार सौ इन्द्र हैं, वे सब त्रिलोकनाथ जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करते हैं। देखो! भगवान तो सर्वज्ञ हैं, उस सर्वज्ञता की महिमा है और वहाँ पुण्य भी ऐसा है कि सौ इन्द्र भगवान को नमस्कार करते हैं। देखो, सनातन प्रणाली में सौ इन्द्र हैं, उनमें कम माने तो वह सर्वज्ञ की परम्परा नहीं।

सर्वज्ञदेव ने जीव-अजीव तत्त्वों का वर्णन किया है। उनमें सहज शुद्ध चैतन्य वगैरह लक्षण का धारक तो जीव है। यहाँ शुद्ध चैतन्य की मुख्यता ली है, किन्तु अशुद्धता वगैरह भी जीवद्रव्य में सन्निहित है। जीव की जितनी पर्यायें हैं, वे सब जीव में समाविष्ट हो जाती हैं और ऐसे जीव से विपरीत लक्षणवाले यानी जड़ पदार्थ, वे अजीव हैं।

अजीवद्रव्य पाँचप्रकार के होते हैं – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। देखो, यह जीव-अजीव द्रव्यों का भेदज्ञान! जीव का सहजस्वभाव जानने-देखनेवाला है और दूसरे द्रव्य पाँच द्रव्य हैं, वे जड़-अचेतन हैं। ऐसे जीव-अजीव द्रव्य भगवान ने केवलज्ञान में जाने हैं और वाणी में, दिव्यध्वनि में उनका कथन आया है। ऐसे छह द्रव्यों में जीवद्रव्य ही उपादेय है।

लेकिन चैतन्यचमत्कार लक्षण को धारण करनेवाला जो शुद्ध जीवास्तिकाय है, उसकी मुख्यता सहित पाँच अस्तिकाय का वर्णन किया है। कालद्रव्य अस्तिरूप है, लेकिन अस्तिकाय में काल के अतिरिक्त पाँच द्रव्य हैं, वे भगवान की वाणी में आये हैं – कहे गये हैं।

भगवान की वाणी में सात तत्त्वों का भी कथन किया गया है। परमज्ञानज्योति को धारण करनेवाला शुद्ध जीवतत्त्व है, वह सात तत्त्वों में मुख्य है तथा दोषरहित परमशुद्धजीव सहित नौ पदार्थों का भी कथन भगवान की वाणी में कहा गया है। नव तत्त्वों को भगवान ने जुदा-जुदा बताया है। शुद्धचैतन्यमय जीवतत्त्व है, वह पुण्य-पाप तत्त्व से भिन्न है। जीवतत्त्व तो अनादि-अनन्त निर्दोष ज्ञायक परमात्मा है। इसप्रकार अर्थात् सामान्यतया भगवान की वाणी में जीव-अजीव आदि का स्वरूप कहा गया है। इसप्रकार पहिचान कर भगवान को नमस्कार किया गया है। इससे विपरीत कहनेवाला हो तो वह वन्दनीय नहीं है।

भगवान कैसे हैं ? कि जिनवरवृषभ हैं। सम्यग्दृष्टि जीव ने आत्मा के भान से मिथ्यात्व और राग-द्वेष को जीता है, इससे वह **जिन** है। चौथे गुणस्थान में असंयत सम्यग्दृष्टि भी **जिन** है। देखो! यह तत्त्वदृष्टि की बात है। आत्मस्वभाव की दृष्टि हुई, वहाँ एकदेश वीतरागता हुई, इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी **जिन** हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टियों में छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए गणधरदेव प्रमुख हैं, इसलिए वे **जिनवर** हैं। चौथे-पाँचवें गुणस्थानवालों की अपेक्षा गणधरदेव को विशेष वीतरागता प्रकट हुई है, इससे वे **जिनवर** हैं। इन जिनवरों में भी जो प्रधान हैं – ऐसे श्री तीर्थंकर परमात्मा **जिनवरवृषभ** हैं, ऐसे जिनवरवृषभ को यहाँ नमस्कार किया है।

नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव कहते हैं कि अहा! मैं मेरे स्वभाव का आदर करता हुआ

तीर्थंकरदेव को नमस्कार करता हूँ। यहाँ स्वभाव के आश्रय से जितनी शुद्धता प्रकट हुई, उतना भाव नमस्कार है; वाणी में जो कहा गया, वह द्रव्य नमस्कार है।

अहो! मैं मेरे हृदय में पूर्ण परमात्मदशा का श्रेष्ठ परमोत्तम स्थान रखता हूँ। पूर्ण शुद्धदशा प्रकट नहीं हुई, इसलिए परमात्मदशा की प्राप्ति के लिए प्रस्थान करता हूँ। मैं मेरी परमात्मदशा का आदर करता हूँ।

समयसार में भगवान कुन्दकुन्द कहते हैं कि **वंदित्तु सव्व सिद्धे**। अरे! मैं सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करता हूँ। मेरी आत्मा में सिद्धपने की प्राप्ति को प्रस्थान करता हूँ। इसप्रकार अध्यात्म शास्त्रों में सिद्ध को नमस्कार करने में आता है और इस अध्यात्मशास्त्र में अरिहन्त भगवान को–परमात्मा को नमस्कार किया है। इसका खुलासा स्पष्ट करते हैं। वर्तमानकाल में श्री तीर्थंकर भगवान की वाणी का उपकार है, इसलिए व्यवहार में तीर्थंकर का उपकार मानकर, उनको यहाँ नमस्कार किया है। तीर्थंकर भगवान की वाणी उपकारी है, इसलिए पंच परमेष्ठियों में सिद्ध के पहले अरहन्त को नमस्कार किया है। अहा! मुझे मेरे चिदानन्दस्वरूप की प्राप्ति में भगवान की वाणी का उपकार है – ऐसा लक्ष्य में लेकर यहाँ प्रथम अरिहन्त को नमस्कार किया है।

आप्तपरीक्षा में कहा है कि अर्हत् परमेष्ठी के प्रसाद से कल्याणरूप मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। देखो, यह निमित्त का कथन है। स्वयं, स्वयं के आत्मा का भान करके मोक्षमार्ग प्रकट किया है, तब स्वयं की प्रसन्नता के निमित्त में आरोप कर ऐसा कहा कि ''अहो! भगवान की प्रसन्नता हुई। भगवान की कृपा से हमको मोक्षमार्ग मिला।'' वास्तव में भगवान को कुछ कृपा का विकल्प नहीं है। जिसने स्वयं के आत्मा के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रकट किया, वह जीव उपचार से भगवान की प्रसन्नता हुई – ऐसा कहता है।

सिद्ध भगवान की वाणी नहीं होती, अरिहन्त भगवान की वाणी होती है और वह कल्याण मार्ग का निमित्त है, इसलिए उत्तम मुनिवरों ने शास्त्र के आरंभ में, आदि में अरिहन्त परमेष्ठी के गुणों की स्तुति कर उनको नमस्कार किया है।

यहाँ गाथा के उत्तरार्द्ध में भगवान को नमस्कार किया, उसमें चार प्रयोजन हैं। (१) नास्तिकता का त्याग (२) उत्तम पुरुषों के विनय का पालन (३) पुण्य की प्राप्ति और (४) विघ्नरहितपना।

देखिए! प्रिय पुत्र दूर हो तो माता-पिता उसको याद करते हैं, वैसे ही यहाँ सर्वज्ञता का विरह है। यहाँ साधक जीव सर्वज्ञ भगवान को बहुमानपूर्वक स्मरण कर नमस्कार करता है कि हे नाथ! मेरी साधकदशा में मुझे शास्त्र रचना का विकल्प उठा है-हुआ है, उसमें आपको याद करता हूँ। मेरी सर्वज्ञता को साधने में विघ्न न आये; मेरी परमात्मदशा के बीच में विघ्न आये, इसप्रकार सर्वज्ञदेव को नमस्कार कर मंगलाचरण किया है।

शास्त्र के प्रारंभ में छह चीजें कही जाती हैं। (१) **मंगल** - यहाँ द्रव्यसंग्रह के पहले सूत्र में - गाथा में मंगलाचरण चलता है, उसमें ऐसा कहा है कि भगवान तीर्थंकरदेव को भावस्तवन से और द्रव्यस्तवन से वंदन करता हूँ। भगवान कैसे हैं ? देवेन्द्रों के समूह से वंदनीय हैं, जिनवरों में श्रेष्ठ हैं - ऐसे भगवान ने जीव-अजीव द्रव्यों का स्वरूप कहा है। इसप्रकार स्वयं के अभीष्ट, अधिकृत और अभिमत - ऐसे भगवान को नमस्कार किया है। अभीष्ट अर्थात् स्वयं को इष्ट-प्रिय, अधिकृत अर्थात् नमस्कार करने योग्य ऐसे उत्तम, अभिमत अर्थात् स्वयं को सम्मत है - ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा को नमस्कार कर मंगलाचरण किया।

(२) **निमित्त** - शास्त्र बनाने-रचने का निमित्त कारण पहले कहा कि सोम सेठ के निमित्त यह शास्त्र रचा है।

(३) **प्रयोजन** - मूल प्रयोजन तो सहजानन्दमूर्ति ज्ञायक आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करना इस शास्त्र का प्रयोजन है।

(४) **परिमाण** - शास्त्र की गाथाओं की संख्या ५८ है, यह उसका परिमाण है।

(५) **नाम** - शास्त्र का नाम द्रव्यसंग्रह है।

(६) **कर्त्ता** - शास्त्र के कर्ता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव हैं। इसप्रकार शास्त्र का मंगल, निमित्त, प्रयोजन, परिमाण, नाम और कर्त्ता - ये छह बातें कहीं।

ज्ञानदर्शनमय शुद्धचिदानन्द निर्मल आत्मस्वभाव है, उसके स्वरूप को विस्तार से कहनेवाली इस शास्त्र की जो टीका है, व्याख्यान है, परमात्मस्वरूप के प्रतिपादक ५८ मूलसूत्र हैं, वे व्याख्या करने योग्य हैं। देखो, यहाँ तो कहा है कि सभी सूत्र परमात्मा

के स्वरूप के प्रतिपादक हैं। भले ही अजीव द्रव्यों का भी वर्णन आयेगा, किन्तु उसका ज्ञायक तो आत्मा है।

पुण्य-पाप से दूर ज्ञायकमूर्ति परमात्मा का प्रतिपादन करनेवाले सूत्र हैं, वे व्याख्या करने योग्य हैं और टीका द्वारा उसका विस्तार से विवेचन किया है, वह व्याख्यान है और व्याख्या करने योग्य इस द्रव्यसंग्रह के जो सूत्र हैं, वे तो अभिधान अर्थात् वाचक शब्द हैं और शब्दों द्वारा कहने योग्य अनन्तज्ञानादि गुणों के धारक जो चिदानन्द परमात्मा हैं, वे अभिधेय हैं। इसप्रकार इस शास्त्र का और चिदानन्द परमात्मस्वरूप का अभिधान-अभिधेय संबंध है।

अभिधेय अर्थात् शास्त्र का विषय क्या है? कि अनन्तज्ञानादि अनन्तगुणों के धारक ऐसे शुद्ध परमात्मा, वे अभिधेय हैं। शास्त्र पढ़-पढ़कर क्या निकालना-ग्रहण करना? कि शुद्ध, ज्ञानादि अनन्तगुण मूर्ति आत्मा है, उसको पहिचानना।

इस शास्त्र का प्रयोजन क्या है ? इसे तीन प्रकार से कहते हैं:-

(१) व्यवहार से तो जीवादि छह द्रव्यों को भिन्न-भिन्न जानना - यह प्रयोजन है।

(२) निश्चय से उसका प्रयोजन तो स्वयं के निर्लेप शुद्ध आत्मा के ज्ञान से उत्पन्न, जो परमानन्दरूपी सुख के आस्वाद रूप - ऐसा स्वसंवेदन, वही प्रयोजन है।

देखो, पर को जानना - यह तो व्यवहार में गया, किन्तु छह द्रव्यों को जानकर स्वयं के शुद्ध चिदानन्दस्वभाव के सहज आनन्द का अनुभव करना, यही निश्चय प्रयोजन है; बीच में पुण्य के परिणाम हों और स्वर्ग मिले, वह प्रयोजन नहीं। छह द्रव्यों का ज्ञान करना, वह व्यवहार प्रयोजन है। आत्मा के परम आह्लादरूप जो वीतरागी आनंद, उसका ज्ञान करना; वह निश्चय प्रयोजन है - ऐसी दो बातें कहीं।

(३) परमशुद्धनिश्चय से स्वसंवेदन आत्मज्ञान के फलरूप जो अनंत सुखमयदशा-मुक्तदशा की प्राप्ति होना, वह प्रयोजन है। उस अनन्तसुख की प्राप्ति केवलज्ञान वगैरह अनन्त गुण बिना नहीं होती और स्वयं के आत्मा के उपादान से ही उस अनन्तसुख की सिद्धि है। कोई निमित्त से उसकी प्राप्ति नहीं होती। वैसे ही शुभाशुभ भावों से भी परमसुख की प्राप्ति नहीं होती। देखो, अनन्त सहजानन्दमय जो मुक्तदशा है, वही

परमनिश्चय से इस शास्त्र का प्रयोजन है। तीन प्रकार से प्रयोजन की बात की, लेकिन उसमें कहीं भी राग का प्रयोजन नहीं कहा।

जीवादि छह द्रव्य भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं, जीव का विकार जीव से है; अजीव कर्म के कारण विकार नहीं - ऐसा भिन्न-भिन्न जाने, तब तो अभी शास्त्रों का व्यवहार प्रयोजन समझना कहा जाता है।

छह द्रव्यों की भिन्नता का जिसे ज्ञान भी नहीं और जीव के कारण अजीव की क्रिया होती है - ऐसा माने तथा अजीव के कारण जीव को विकार होता है - ऐसा माने, तो वह जीव शास्त्रों के व्यवहार प्रयोजन को भी समझा नहीं है।

देखो, सर्वज्ञ-वीतराग की वाणी में छह द्रव्य कहे हैं। इन छह द्रव्यों में से कोई भी एक द्रव्य को यदि छोड़ दे तो वह सर्वज्ञ का कथन नहीं। सर्वज्ञदेव की वाणी ने छह द्रव्यों में से एक भी द्रव्य को नहीं छोड़ा। विश्व में छह द्रव्य हैं और प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की ऋद्धिवाला है - ऐसा जानना, यह तो अभी भी व्यवहार ज्ञान है। निश्चय प्रयोजन तो यह है कि आत्मा के सहजस्वभाव सुख का ज्ञान करना और आत्मज्ञान का फल केवलज्ञानादि अनन्तगुण सहित जिस अनन्तगुण की प्राप्ति हुई, यह इस शास्त्र का परम निश्चयप्रयोजन है। इसप्रकार नमस्कार गाथा का अर्थ पूर्ण हुआ।

❑❑❑

उसका जीवन भी प्रशंसनीय है....

संसार में भटकते-भटकते अनंतबार मनुष्यभव पाकर आत्मा को जाने बिना मरा; परन्तु आत्मा क्या वस्तु है, उसे नहीं जाना। कभी आत्मा का यथार्थ विचार भी नहीं किया, इसलिए यहाँ उसकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि बाहर की चिन्ता-पकड़ छोड़कर जो आत्मा के स्वरूप में स्थिर हुए हैं, उन्होंने तो करने योग्य कार्य कर ही लिया है, उनकी क्या बात! परन्तु जगत की चिन्ता-पकड़ छोड़कर जिसे आत्मा की चिन्ता-पकड़ हुई है कि अहो! अपने आत्मा को मैंने अनंतकाल से नहीं जान पाया, अनंतकाल में कभी उसका ध्यान नहीं किया, आत्मा को भूलकर बाह्य-पदार्थों की चिन्ता में ही भटकता रहा हूँ; इसलिए अब सत्समागम से आत्मा को पहिचान कर उसका ध्यान करूँगा - ऐसी आत्मा की चिन्ता का परिग्रह, उसकी पकड़ करता है, उसका जीवन भी प्रशंसनीय है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१९५

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा -२

अब नमस्कार गाथा में जो जीवद्रव्य कहा गया, उस जीवद्रव्य के संबंध में मैं नव अधिकार संक्षेप में सूचित करूँगा - ऐसा अभिप्राय मन में रखकर (नव अधिकारों का) कथन करनेवाले सूत्र का (श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव) निरूपण करते हैं -

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥२॥

जीवः उपयोगमयः अमूर्तिः कर्त्ता स्वदेहपरिमाणः।
भोक्ता संसारस्थः सिद्धः सः विस्त्रसा ऊर्ध्वगतिः॥२॥

जीव कर्त्ता भोक्ता अर अमूर्तिक उपयोगमय।
अर सिद्ध भवगत देहमित निजभाव से ही ऊर्ध्वगत॥२॥

गाथार्थ :- जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेहप्रमाण है, भोक्ता है, संसारस्थ है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करनेवाला है; वह जीव है।

टीका :- **जीवो** - यह जीव यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से आदि-मध्य-अंतरहित, स्व-परप्रकाशक, अविनाशी, निरुपाधि शुद्धचैतन्य जिसका लक्षण (स्वरूप) है - ऐसे निश्चयप्राण से जीता है तो भी अशुद्धनय से अनादिकर्मबंध के वश अशुद्ध द्रव्यप्राणों और भावप्राणों से जीता है, अत: वह जीव है।

उवओगमओ - यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान-दर्शनरूप उपयोगमय है तो भी अशुद्धनय से क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन से रचित होने से ज्ञानदर्शनरूप उपयोगमय है।

अमुत्ति - यद्यपि व्यवहार से मूर्तकर्म के आधीनपने से स्पर्श-रस-गंध-वर्णरूप मूर्तपना सहित है, इसलिए मूर्त है तो भी परमार्थ से अमूर्त-अतीन्द्रिय-शुद्ध-बुद्ध- एक स्वभाववाला होने से अमूर्त है।

कत्ता - यद्यपि यह जीव भूतार्थनय से निष्क्रिय-टंकोत्कीर्ण-ज्ञायक-एक स्वभाववाला है तो भी अभूतार्थनय से मन-वचन-काया के व्यापार को उत्पन्न करनेवाले कर्मसहित होने से, शुभाशुभ कर्म का कर्ता होने से कर्ता है।

सदेहपरिमाणो – यद्यपि निश्चय से सहज शुद्ध लोकाकाशप्रमाण असंख्यप्रदेशी है तो भी व्यवहार से, अनादि कर्मबन्ध के आधीनपने से शरीर नामक कर्म के उदय से उत्पन्न संकोच–विस्तार के आधीनपने के कारण, घटादि पात्र में स्थित दीपक की भाँति स्वदेह प्रमाण है।

भोत्ता – यद्यपि (यह जीव) शुद्धद्रव्यार्थिकनय से रागादिविकल्प उपाधिरहित, अपने आत्मा से उत्पन्न सुखामृत का भोक्ता है तो भी अशुद्धनय से उसप्रकार के सुखामृत भोजन का अभाव होने से शुभाशुभ कर्म से उत्पन्न सुख–दु:ख को भोगनेवाला होने के कारण भोक्ता है।

संसारत्थो – यद्यपि (यह जीव) शुद्धनिश्चयनय से नि:संसार–नित्यानन्द–एक स्वभाववाला है तथापि अशुद्धनय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाँच प्रकार के संसार में रहता है, अत: संसारस्थ है।

सिद्धो – यद्यपि (यह जीव) व्यवहार से, निजात्मा की उपलब्धि जिसका लक्षण (स्वरूप) है – ऐसे सिद्धत्व के प्रतिपक्षभूत कर्मोदय से असिद्ध है तो भी निश्चयनय से अनंतज्ञानादि अनंतगुणरूप स्वभाववाला होने से **सिद्ध** है।

सो – वह – इसप्रकार के गुणों वाला जीव है। **विस्ससोड्ढगई** – यद्यपि (यह जीव) व्यवहार से चार गति उत्पन्न करनेवाले कर्मोदय के वश ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् गतिरूप स्वभाववाला है तो भी निश्चय से केवलज्ञानादि अनन्तगुणों की प्राप्ति जिसका लक्षण है – ऐसे मोक्षगमन के समय विस्रसा–स्वभाव से उर्ध्वगमन करनेवाला है। यहाँ पदखंडनारूप शब्दार्थ कहा है तथा शुद्ध और अशुद्ध – दो नयों के विभाग से नयार्थ भी कहा है। अब मतार्थ कहा जाता है –

जीव की सिद्धि चार्वाक के प्रति है। (जीव का) ज्ञानदर्शन–उपयोगरूप लक्षण नैयायिक के प्रति है, जीव के अमूर्तपने का स्थापन भट्ट और चार्वाक – इन दोनों के प्रति है, जीव कर्म का कर्ता है – यह स्थापन सांख्य के प्रति है, जीव स्वदेहप्रमाण है– यह स्थापन नैयायिक, मीमांसक और सांख्य – इन तीनों के प्रति है, जीव कर्म का भोक्ता है – यह व्याख्यान बौद्ध के प्रति है, जीव के संसारस्थपने का व्याख्यान सदाशिव के प्रति है, जीव के सिद्धत्व का व्याख्यान भट्ट और चार्वाक – इन दोनों के प्रति है, जीव

के उर्ध्वगमन-स्वभाव का व्याख्यान मांडलिक ग्रंथकार के प्रति है। इसप्रकार मतार्थ जानना चाहिए।

आत्मा अनादि से बँधा हुआ है - इत्यादि आगमार्थ तो प्रसिद्ध ही है।

शुद्धनयाश्रित जीवस्वरूप उपादेय है और अन्य सभी हेय हैं - इसप्रकार हेय-उपादेयरूप से भावार्थ भी जानना चाहिए।

- इसप्रकार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ यथासंभव व्याख्यानकाल में सर्वत्र जानना चाहिए।

इसप्रकार जीवादि नव अधिकारों का सूचन करनेवाली यह सूत्र गाथा है॥२॥

गाथा २ पर प्रवचन

अब दूसरी गाथा में जीवद्रव्य का वर्णन शुरू करते हैं। महावीर भगवान की दिव्यध्वनि के साथ सीधा संबंध रखनेवाले षट्खण्डागम की रचना सन्तों ने की है, उसको जो स्वयं के मतिज्ञानरूपी चक्र से सिद्ध करता है; उसको सिद्धान्तचक्रवर्ती कहा जाता है।

श्री नेमिचन्द्र आचार्यदेव सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते सन्त थे। वे इस शास्त्र में जीवद्रव्य का वर्णन करते हैं। उसमें जीवद्रव्य संबंधी जीव अधिकार का कथन करते हैं।

(१) जीव (२) उपयोगमय (३) अमूर्त्त (४) कर्त्ता (५) स्वदेहपरिमाण (६) भोक्ता (७) संसारस्थित (८)सिद्ध (९) ऊर्ध्वगमनस्वभावी - इसप्रकार जीव के नौ अधिकार हैं। इसका विस्तार से वर्णन पृथक्-पृथक् आयेगा।

ज्ञायकमूर्त्ति शुद्ध चिदानन्द अभेद आत्मा है। उसके उपयोग के बारह भेद हैं। वे बारह पर्यायें जीवद्रव्य की हैं अर्थात् उपयोग के जितने भेद हैं, वे सब जीव की पर्याय के कारण हैं। अन्य के-पर के कारण वह पर्याय नहीं। द्रव्यदृष्टि के विषय में तो पर्याय को अभूतार्थ कहा है, किन्तु यहाँ तो ज्ञान का विषय है अर्थात् पर्याय भी स्वयं के कारण से है - यह पहिचान कराना है। भावकर्म का कर्त्ता निश्चय से जीव है - ऐसा इसमें कहेंगे। समयसार में ऐसा कहा है कि निश्चय से आत्मा राग का कर्त्ता है ही नहीं, किन्तु

वहाँ शुद्धदृष्टि का कथन है और यहाँ द्रव्य-पर्याय दोनों के प्रमाणज्ञान का कथन है। जीव स्वयं की पर्यायरूप भावकर्म का कर्त्ता निश्चय से है और जड़कर्म का कर्त्ता व्यवहार से है – ऐसा यहाँ कहेंगे।

इसप्रकार नौ अधिकारों में नयों से अद्भुत कथन होगा। संसारदशा भी जीव की है और सिद्धदशा भी जीव की है। कोई अन्य के कारण से संसारदशा अथवा सिद्धदशा नहीं है। देखिये! सिद्धदशा प्राप्त होने पर जीव का ऊर्ध्वगमन होता है, वह उसका स्वभाव है। वह कोई विभाव नहीं। यहाँ सिद्ध हुआ, तब यहाँ से सिद्धलोक में गमन करता है, उस एक समय की पर्याय में स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। अब, नौ अधिकार कहे, उनकी व्याख्या कहते हैं।

(१) प्रथम जीव की व्याख्या करते हैं:-

१. शुद्धनिश्चय से तो आदि, मध्य और अन्त रहित है, निज-परप्रकाशक है, कर्म वगैरह की उपाधिरहित है और शुद्ध है। ऐसे चैतन्यस्वरूप प्राण – यह जीव के निश्चयप्राण हैं और उनसे ही जीव त्रिकाल जीता है। देखो! जीव की प्राण कथा कि त्रिकाल एकरूप चैतन्यप्राण, वही जीव के निश्चयप्राण हैं और उनसे ही जीव जी रहा है। सभी जीवों का ऐसा स्वभाव है।

इन्द्रिय आदि जड़ प्राणों से अथवा अशुद्ध प्राणों से वास्तव में जीव जीता नहीं है। अज्ञानी जीव अन्न और धन को प्राण मानते हैं, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि शुद्धचैतन्य प्राण, वही तेरा प्राण है और उससे ही तू त्रिकाल जीनेवाला है। जीव का स्वभाव त्रिकाल स्व-परप्रकाशक है, अनादि से ऐसा ही स्वभाव है; किन्तु उसको भूलकर मिथ्यात्व से दूसरी प्रकार मान बैठा है। निगोदिया जीव को भले ही खबर नहीं, लेकिन उसका भी ज्ञान-स्वभाव तो स्व-परप्रकाशक ही है।

अहो! त्रिकाल चैतन्यप्राण से जीनेवाला और स्व-परप्रकाशक चैतन्य प्रभु है, लेकिन मिथ्यादृष्टि जीव दूसरे के कारण से जीनेवाला मानता है। चैतन्यप्राण जीव के त्रिकाल है। कभी नया प्रकट नहीं हुआ और कभी उसका वियोग नहीं हुआ – ऐसे चैतन्यप्राण द्वारा निश्चय से जीव जीता है। जिसको ऐसे शुद्ध निश्चय का भान हो, उसको ही अशुद्धप्राण का सच्चा ज्ञान होता है।

२. अशुद्ध निश्चयनय से अनादि कर्मबंधन के वशीभूत होकर अशुद्ध ऐसे द्रव्यप्राण और भावप्राणों से जीता है। ज्ञानादिक की हीनता तथा राग-द्वेष और निमित्तरूप जड़ इन्द्रियाँ वगैरह को यहाँ अशुद्धप्राण कहा है, उनसे जीव जीता है – ऐसा कहना, वह अशुद्ध निश्चयनय से है; किन्तु त्रिकाल शुद्धचैतन्य प्राण का भान रखकर इस अशुद्ध निश्चयनय का ज्ञान होता है। शुद्धचैतन्य के भान बिना अशुद्धता का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

पर्याय की स्वतंत्रता के ज्ञान बिना पर्याय को अपनी ओर लक्ष्य करके द्रव्य का निर्णय कहाँ से कर सकेगा ? मेरी पर्याय स्वतंत्र मेरी है, पर से नहीं – ऐसा पर से भिन्नता का भान किया, उसको यथार्थ ज्ञान कब कहा जाये ? जो पर्याय को अन्तर्मुख करके शुद्धद्रव्य का आश्रय करता है, तब पर्याय की स्वतंत्रता का ज्ञान सच्चा कहा जाता है।

शुद्धद्रव्य का आश्रय कर निश्चय प्रकट करता है, तब पूर्व के ज्ञान में व्यवहार का आरोप आता है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा भी जिसकी खोटी हो, झूठी हो – ऐसा जीव तो वस्तु समझने का पात्र भी नहीं है। किन्तु समीचीन देव-शास्त्र-गुरु को पहिचाने, उसको व्यवहार का आरोप कब आता है? जब अखंड स्वभाव की ओर लक्ष्य कर उसकी निश्चित प्रतीति प्रकट करता है, तब पूर्व के ज्ञान को व्यवहार का आरोप आता है अर्थात् निश्चय सहित व्यवहार को सत्य व्यवहार कहा जाता है।

पहिले व्यवहार, इसके बाद निश्चय ऐसा नहीं है। शुद्धता के भान बिना अकेली अशुद्धता का ज्ञान, उसको तो व्यावहारिक सही ज्ञान भी नहीं कहा जाता। स्वयं के ज्ञान बिना पर का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जीव, स्व-परप्रकाशक है; लेकिन अपने को न जाने, पर को जाने; तब उसमें पचास प्रतिशत भी सत्य ज्ञान नहीं आता। स्वयं को जाने बिना पर का ज्ञान भी सत्य होता ही नहीं। कर्म को और जीव की अशुद्धता को निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। इसलिए द्रव्यप्राण और भावप्राण दोनों को यहाँ अशुद्धनिश्चय में ले लिया है। वास्तविक रीति से तो जड़प्राण असद्भूतव्यवहार में आता है, लेकिन यहाँ उसको भिन्न नहीं किया।

(२) अब उपयोग का वर्णन करते हैं:-

जीव उपयोगमय है। बारह प्रकार का उपयोग, वह भी जीवस्वभाव है। उपयोग के

बारह भेद हैं, वह भी स्वयं की पर्याय है; इसलिए उस भेद को भी यहाँ निश्चय में माना है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से तो परिपूर्ण और निर्मल – ऐसा जो केवलज्ञानदर्शनरूप उपयोग है, उस उपयोग की पर्याय अन्तर में लक्ष्य कर अभेद हुई, वहाँ उसको द्रव्यार्थिकनय के विषय में लिया है और अशुद्धनय से जीव क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनवाला है। इसप्रकार दो नय से जीव को उपयोगमय कहा है।

निश्चय से शुद्ध चैतन्यप्राण से जीव अनादि-अनन्त जीता है। शुद्धदृष्टि से तो चैतन्यप्राण और भावप्राण – ये भिन्न नहीं, किन्तु अभेद हैं। अशुद्धनय से आत्मा रागादि और इन्द्रियोंरूप अशुद्धप्राण से जीता है, वह भी स्वयं की पर्याय की योग्यता से ही है। इसप्रकार जानने योग्य है और त्रिकाली शुद्धस्वभाव है, वह आदर करने योग्य है।

निश्चय से तो आत्मा केवलज्ञान और केवलदर्शन से अभेद शुद्ध उपयोगस्वरूप है और अशुद्धनय से क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनवाला है। पर्याय में ज्ञानादि की हीनता है, वह भी स्वयं की योग्यता से है। क्षायिक ज्ञान-दर्शन को तो द्रव्य में अभेद जानकर के द्रव्यार्थिकनय में लिया। समयसार में अभेददृष्टि से तो गुण-गुणी के भेद का भी निषेध है। शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा त्रिकाल एकरूप है। वह ही स्वभावदृष्टि का अवलम्बन है, उसे ही भूतार्थ कहा है और यहाँ केवलज्ञानपर्याय को द्रव्य के साथ अभेद जानकर द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा है। केवलज्ञान पर्याय का भेद कर लक्ष्य में लेना, वह तो व्यवहार है और वह अभूतार्थ है। अभेद द्रव्य की दृष्टि कराने के लिए केवलज्ञानपर्याय के भेद को भी अभूतार्थ कहा। अभेदस्वभाव को मुख्य कर उसे ही भूतार्थ कहा और वह ही द्रव्यदृष्टि का विषय है। यहाँ तो केवलज्ञानपर्याय को द्रव्य के साथ अभेद जानकर द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा है और जो मलिन अपूर्ण पर्याय है, वह अशुद्धनय का विषय है। थोड़ी ज्ञानदशा हो, वह भी स्वयं की पर्याय है; किन्तु वह असली स्वभाव नहीं, इसलिए उसको अशुद्धनय का विषय कहा। मतिज्ञान इत्यादि पर्यायें हैं, वे जीव की पर्यायें हैं, कोई पर के कारण से नहीं।

मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्ययज्ञान अथवा चक्षु-अचक्षु अवधिदर्शन – ये सब उपयोग जीव के स्वयं के कारण से होते हैं, कर्म के कारण से या इन्द्रिय के कारण से नहीं होते। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के प्रत्येक भेद भी जीव की स्वयं की पर्याय के कारण से हैं, पर के कारण से नहीं। श्रुतज्ञान के बीस बोल अथवा भेद (पर्यायज्ञान,

पर्यायसमास आदि) आते हैं, वे भी जीव की स्वयं की पर्याय से रचे हुए हैं। इसप्रकार उपयोग के जितने प्रकार हैं, वे सब जीव के परिणाम हैं। अखण्डज्ञायक चैतन्यवस्तु की दृष्टि करते शुद्धि बढ़ती है; इसलिए वह दृष्टि कराने के लिए इसप्रकार कहा कि ज्ञानमार्गणा आदि भी पुद्गल के परिणाम हैं; किन्तु मतिज्ञान आदि भेद जीव की स्वयं की पर्याय में हैं - ऐसा भी जानना चाहिए। यहाँ तो स्वतंत्रता का डंका बजा कर कहते हैं कि मतिज्ञान आदि उपयोग है, वह तेरी ही पर्याय है। दूसरे के कारण से तेरा उपयोग नहीं है। पर्याय स्वयं की है, परन्तु पर्याय के आश्रय से शुद्धता होती नहीं; अत: पर्याय को अभूतार्थ कहकर शुद्ध अभेद द्रव्य का आश्रय कराया है।

देखो, जीव स्वयं उपयोगमय है - ऐसा कहा। इसप्रकार जीव और उपयोग भिन्न-भिन्न नहीं हैं। जो जीव को और ज्ञान को भिन्न मानते हैं, वे अन्यमती मिथ्यादृष्टि हैं, उसीप्रकार जैन सम्प्रदाय में रहकर भी जो कोई ऐसा मानता है कि मुझे ज्ञान परनिमित्त से होता है तो उसने भी जीव को उपयोगमय जाना नहीं, किन्तु गुण-गुणी को भिन्न माना है। इसलिए वह भी मिथ्यादृष्टि है।

(३) अब अमूर्त का वर्णन करते हैं:-

जीव का स्वभाव तो चिदानन्द अमूर्तिक है। व्यवहारनय से मूर्तकर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाला मूर्तपदार्थ संयुक्त है; इसलिए मूर्त है। देखो, यह तो निमित्त का कथन है। मूर्तकर्म जड़ हैं, वे कोई जीव को जबरदस्ती पराधीन नहीं करते; परन्तु जीव स्वयं, स्वयं के स्वभाव को भूलकर जड़कर्मों के अधीन होता है, इसलिए मूर्त का संयोग है। उस संयोग-अपेक्षा से व्यवहार से जीव को मूर्त कहा जाता है।

कर्म मुझे हैरान करते हैं - ऐसी उलटी मान्यता करके स्वयं मूर्तकर्मों के अधीन होता है, इस अपेक्षा से आत्मा को व्यवहार से मूर्त कहा है; पर कोई आत्मा अमूर्तिक मिटकर मूर्त नहीं हो सकता। यद्यपि जड़कर्म निमित्त है, वह मूर्त है; इसलिए उस निमित्त की अपेक्षा से जीव को व्यवहार से मूर्त कहा है, तथापि जीव स्वयं के यथार्थ स्वभाव से तो त्रिकाल अमूर्त है, इन्द्रियों से जानने योग्य नहीं, पुद्गल इन्द्रियों (द्रव्येन्द्रियों) से तो अगोचर है और खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप भावेन्द्रियों से भी अगोचर है। जीव तो शुद्ध, बुद्ध, एकरूप, चिदानन्द भगवान है; शुद्ध चैतन्यस्वभावी होने से अमूर्त है - ऐसा जीव आदरणीय है।

(४) अब कर्त्ता का वर्णन करते हैं:-

निश्चय से तो जीव देहादि की क्रिया से भी रहित, शुभाशुभ की क्रिया से भी रहित, निरुपाधि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव है; वह रागादि का या पर की क्रिया का कर्ता नहीं है; परन्तु व्यवहारनय से मन-वचन-काय की क्रिया के कारणभूत - ऐसे जड़कर्मों का तथा शुभाशुभ भावों का कर्त्ता है। जड़कर्मों का कर्त्ता तो उपचार से है। जड़कर्मों के बाँधने में जीव का विकार भाव निमित्त है; इसलिए उपचार से जड़कर्मों का कर्त्ता कहा है।

वास्तव में तो कर्म स्वयं से भिन्न वस्तु है, इसलिए जीव उसका कर्त्ता है ही नहीं; किन्तु निमित्त-नैमित्तिक की अपेक्षा उपचार से जीव को जड़कर्मों का कर्त्ता कहा है।

जीव विकार करे, तब कर्म बँधते हैं। कर्म बाँधने में जीव का विकार निमित्त है; इसप्रकार जो जीव निमित्त-नैमित्तिक संबंध को भी न जाने तो वह अज्ञानी है। राग-द्वेष भी स्वयं की पर्याय में होते हैं, वह पर्याय भी सत् है, वह कोई भ्रम नहीं है। जो उस पर्याय को नहीं जाने, वह मिथ्यादृष्टि है। राग पर्याय है; वह भी सत् है, वह कोई पर के कारण से नहीं है। विकार त्रिकाल सत् तो नहीं, परन्तु एक समयमात्र पर्याय का सत् है। द्रव्यगुण वे त्रिकाली सत् हैं और पर्याय वह एक समयमात्र सत् है। इसप्रकार दोनों को जो ज्ञान जाने, उस ज्ञान का झुकाव क्षणिक सत् से हटकर त्रिकाली सत् पर ढल जाता है; परन्तु विकारी पर्याय या जो एक समयमात्र की सत् है, उसको न माने तो ज्ञान ही मिथ्या है। वर्तमान और त्रिकाल दोनों को सत्रूप जानता हुआ ज्ञान त्रिकाली सत् की तरफ झुक जाता है अर्थात् वर्तमान के ज्ञान को त्रिकाल का आदर हो जाता है - इसका नाम धर्म है।

जीव स्वयं, स्वयं के विकार को इष्ट कर्म बनाकर स्वयं शुभ-अशुभ भाव का कर्ता होता है। कोई कर्म, क्षेत्र, काल को लेकर नहीं। जड़कर्म राग-द्वेष, उलझन कराये - ऐसा तीन काल में नहीं होता, क्योंकि कोई जीव संसार-अवस्था में भी परमाणु को छूता नहीं है। जड़कर्म की पर्याय जीव का कुछ नहीं कर सकती; क्योंकि तीनों कालों में जीव और कर्म में परस्पर अत्यन्त-अभाव है।

नय साधक के होते हैं। कर्म बँधते हैं, उसमें विकारी भाव निमित्त हैं और नया

कर्म नैमित्तिक है, वह जड़ के कारण से होता है। इसप्रकार व्यवहारनय का विषय जानना चाहिए। निमित्त-नैमित्तिक संबंध आदरणीय नहीं है। विकार अपने लक्ष्य से नहीं होता, किन्तु परलक्ष्य से होता है और उस पराश्रय में निमित्त कर्म है। इसप्रकार जानना, वह व्यवहारनय है।

(५) अब स्वदेहपरिमाण का वर्णन करते है:-

निश्चय से प्रत्येक जीव स्वयं अरूपी असंख्यप्रदेशवाला है। असंख्यप्रदेशी अपने क्षेत्र में रहता है, वह दूसरे क्षेत्र में रहा नहीं; दूसरे क्षेत्र के आधार से नहीं। वास्तव में लोकाकाश बराबर असंख्यप्रदेशीपना प्रत्येक जीव का त्रिकाली स्वरूप है। समुद्घात से लोकप्रमाण और संकोच से वर्तमान शरीर प्रमाण होना, वह व्यवहार है। वह मूल स्वरूप नहीं है। जीव निगोद में हो, एकेन्द्रिय दशा में हो; वहाँ भी असंख्यप्रदेशी है। लोक के प्रदेशों की जितनी संख्या है, उतनी ही संख्या प्रत्येक जीव के प्रदेशों की तीनों काल रहती है। तो भी शरीर नामकर्म के निमित्त से और स्वयं की योग्यता से शरीरप्रमाण से संकोच-विस्ताररूप हो जाता है। चींटी में हो या हाथी में हो, उसके प्रदेश छोटे-बड़े हों या बढ़ें-घटें - ऐसा होता नहीं, लेकिन सिकुड़ जाते हैं या विस्ताररूप हो जाते हैं।

जैसे दीपक है, वह छोटे-बड़े घड़े या मकान में रहे, वहाँ छोटे-बड़े आकार से उसका प्रकाश संकोच-विस्ताररूप हो जाता है। उसीप्रकार अपने छोटे-बड़े शरीरप्रमाण से जीव स्वयं के कारण से छोटा-बड़ा आकार धारण करता है। जैसे पानी छोटे-बड़े तबेले में या लोटे में हो, तब उसी के आकार का होता है, वह स्वयं योग्यता से होता है। यदि वह बर्तन आकार का हो जाये तो फिर दूसरे आकार का हो नहीं सकता। इसीतरह जीव में भी उसकी स्वतंत्र योग्यता से शरीरप्रमाण से प्रदेशों में संकोच-विस्तार होता है, वह व्यवहार है।

इसप्रकार क्षणिक पर्याय की स्वतंत्र योग्यता जानकर, पर्यायबुद्धि छोड़कर त्रिकाली शुद्धद्रव्य पर दृष्टि करना ही धर्म का कारण है।

(६) अब भोक्तृत्व का वर्णन करते हैं:-

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से त्रिकाल शुद्धस्वभाव को देखने पर आत्मा में रागादि की उपाधि

(भावकर्म आदि) नहीं होती, वह एकरूप चिदानन्द ध्रुव है। वह स्वयं के आत्मा से उत्पन्न ऐसे सहज आनन्द का ही भोक्ता है। भगवान आत्मा रागादि की उपाधि से शून्य है – ऐसा शुद्धद्रव्य त्रिकाल है, किन्तु उसको देखनेवाला शुद्ध द्रव्यार्थिकनय तो वर्तमान है।

सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्दृष्टि से स्वयं के आत्मा में से उत्पन्न हुए आनन्द का भोगनेवाला है। सम्यग्दृष्टि साधक को पर्याय में आनन्द का पूर्ण उपभोग नहीं, किन्तु आंशिक आनन्द का उपभोग है। पूर्ण आनन्द के अभाव में शुभ-अशुभ कर्म के निमित्त से सुख-दुख का भोक्ता अशुद्धनय से है। देखो, ये नय ज्ञानी के ही होते हैं। अज्ञानी तो एकान्तत: में हर्ष-शोक का भोक्ता होता है, किन्तु उसके नय नहीं होता। दूसरा, ज्ञानी ऐसा कहता है कि यह अज्ञानी जीव स्वयं के शुद्ध चिदानन्द को छोड़कर अकेला पर की ओर झुकाव से हर्ष-शोक को ही भोगता है। ज्ञानी को तो त्रिकाल स्वभाव तथा अशुद्ध पर्याय दोनों का ज्ञान है। अज्ञानी को तो त्रिकाली शुद्धस्वभाव का भान (ख्याल) ही नहीं। इसलिए उसके नय नहीं होते।

ज्ञानी के, स्वभाव के आनन्द का आंशिक उपभोग है और आंशिक हर्ष-शोक का उपभोग है। दृष्टि अपेक्षा से तो ज्ञानी के स्वभाव की एकता की ही अधिकता होने से वह आनन्द का ही भोक्ता है, वह हर्ष-शोक का भोक्ता नहीं; फिर भी अभी अस्थिरता से राग-द्वेष और हर्ष-शोक भी होते हैं, उसका वह अशुद्धनय से भोक्ता है। शुद्धनय से तो स्वभाव के आधार से आनन्द का ही भोक्ता है।

इसप्रकार दोनों पक्ष का ज्ञान करना, वह प्रमाणज्ञान है। ज्ञानी या अज्ञानी कोई जीव परद्रव्य का भोगनेवाला तो है ही नहीं। ज्ञानी स्वयं के स्वभाव की दृष्टि से अतीन्द्रिय सहजानन्द का अनुभव करता है और जो अल्प हर्ष-शोक होता है, उसका अशुद्धनय से भोक्ता है। अज्ञानी अकेला हर्ष-शोक को ही भोगता है।

स्पष्ट ज्ञान का स्वभाव जैसा है, वैसा सब जानना है। विशेष जानना उसमें कुछ तकलीफ या उदासीनता नहीं है।

द्रव्य त्रिकाल है और पर्याय क्षणिक है। वहाँ त्रिकाली द्रव्य का आश्रय कर पर्याय जितनी अभेद हुई है, उतना तो आनन्द का उपयोग है। उस आनन्द का भोक्ता शुद्धनय

से है और अभी साधकदशा होने से अल्प शोक-हर्ष का वेदन भी है, उसका भोक्ता अशुद्धनय से है। आत्मा जड़ का भोक्ता नहीं है।

देखिये, यह शास्त्र नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने बनाया है, वे महान संत थे। गोम्मटसार में वे कहते हैं कि "अहो! मेरे अभयनन्दि गुरु के चरण-कमलों के प्रसाद से मैं इस संसार को तैर कर पार हो गया हूँ।" देखिये, यह विनय का व्यवहार-कथन है। निश्चित ही स्वयं के भाव से संसार को तैरता है। यहाँ गुरु के बहुमान का विकल्प उठने से निमित्त सापेक्ष कथन किया है। उसीप्रकार आत्मा व्यवहार से पर का भोक्ता है - ऐसा आगे कहेंगे। वहाँ भी निमित्त सापेक्ष कथन जानना। पर-सामग्री (आत्मा से भिन्न पर-पदार्थ) से जीव को सुख-दुःख नहीं होता, किन्तु पर-सामग्री का लक्ष्य करके स्वयं आप सुख-दुख की कल्पना करता है; इसलिए उपचार से सामग्री को सुख-दुख का कारण कहा जाता है और उपचार से पर का भोक्ता कहा जाता है। वास्तविक रूप से जीव पर का भोक्ता नहीं है।

(७) अब संसारस्थ का वर्णन करते हैं:-

संसार-पर्याय भी जीव में होती है। संसार एकसमय की विकारी पर्याय है, जीव ने उसको धारण कर रखा है। अर्थात् संसार, वह भी जीव का पर्याय धर्म है। कर्म से संसार है - ऐसा नहीं है। जीव के जितने शुद्ध-अशुद्ध भाव हैं, उन सभी भावों को जीव धारण करता है।

शुद्ध निश्चयनय से जीव के स्वभाव में संसार है ही नहीं। शुद्ध निश्चयनय से तो जीव सदा आनन्दस्वरूप एकरूप है, उसमें संसार नहीं है; किन्तु अशुद्धनय से जीव की पर्याय में संसार है, इसलिए जीव संसारस्थ है। देखिये, इसे भी जानना चाहिए कि संसार पर में (अन्य पदार्थों में) नहीं है, किन्तु जीव की पर्याय में है। पर्याय में संसार है, वह त्रिकाल में नहीं है। अशुद्धनय से संसार है अर्थात् शुद्धनय से देखने पर जीव में संसार नहीं है। इसप्रकार नयों से वस्तुस्वरूप को जाने तो संसार-पर्याय जितना (अपने को) मानने की बुद्धि छूट जाती है और शुद्ध स्वभाव की दृष्टि होती है।

इस द्रव्यसंग्रह में तो प्रत्येक गाथा में नयों के अनुसार कथन होगा। शुद्धनय से देखें तो इस समय भी जीव का स्वभाव संसाररहित है। पर्याय में संसार है, यह अशुद्धनय

का विषय है। ऐसे दोनों पहलुओं से ज्ञानी जीव स्वयं के आत्मा को जानता है। अरे! पर्याय में संसार होने पर भी मेरी आत्मा का स्वभाव नित्य आनन्दरूप है – ऐसा धर्मी जानता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के परावर्तनरूप जो संसार है, उन पाँचों में जीव की स्वयं की योग्यता है। कर्म के कारण परिभ्रमण होता है – ऐसा नहीं है। जीव जिस क्षेत्र में रहता है, वहाँ जीव स्वयं की योग्यता से ही रहा है, कर्म के कारण नहीं। पंच परावर्तन में घूमने या भ्रमण करने की योग्यता जीव की स्वयं की है और वह अशुद्धनय का विषय है। संसार पर में नहीं, किन्तु अपनी पर्याय में है। जिसको सम्यग्दर्शन हुआ हो, उसको पर्याय का भी ज्ञान होता है।

श्रेणिक राजा को क्षायिक सम्यग्दर्शन था तो भी नरक में गये। वहाँ कर्म के कारण गये – ऐसा कहना, उपचार मात्र है। वास्तव में तो अपनी वैसी योग्यता के कारण ही नरक में गये थे। देखिये, श्रेणिक नरक में गये; तब उनको ऐसा सम्यग्ज्ञान मौजूद था। ज्ञानी प्रमाणज्ञान के द्वारा संसार-असंसार दोनों को देखता है। स्वभावदृष्टि से देखने पर एकसमय की पर्याय का संसार आत्मा में नहीं है।

(८) अब सिद्धत्व का वर्णन करते हैं:-

जीव की उस समय की योग्यता से सिद्धत्व पर्याय की प्राप्ति हुई है। शुद्धनय से आत्मा त्रिकाल अनंतज्ञानादि स्वभाव का धारक होने से सिद्ध है, लेकिन संसार में कर्मोदय के निमित्त से स्वयं की योग्यता से असिद्धपना है, वह असिद्धपना (असिद्धत्व) व्यवहारनय का विषय है। देखिये, संसारदशा के समय भी सिद्ध होने की शक्ति है और उसमें से सिद्ध की पर्याय प्रकट होती है। चार गति में घूमता है, वह भी उसकी वैसी योग्यता से है और चार गति का नाश कर सिद्धदशा प्रकट करता है, वह भी स्वयं की योग्यता से प्रकट करता है।

(९) अब स्वभाव से ऊर्ध्वगमनत्व का वर्णन करते हैं:-

देखिये, जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है अर्थात् सिद्धदशा होते ही एक समय में ऊर्ध्वगमन कर लोकाग्र (सिद्धलोक) में जाता है। जैसे धुएँ का स्वभाव ही ऊँचे जाना है, वैसे ही जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है। सिद्ध भगवान को एक समय में जो ऊर्ध्वगमन होता है, वह विभाव नहीं है; लेकिन स्वभावगति है। चौदहवें गुणस्थान के

अन्तिम समय का व्यय होते ही संसार का व्यय हुआ और उसी समय सिद्धदशा का उत्पाद हुआ; वहाँ एक समय में ऊर्ध्वगमन होता है; वह स्वभाव से ही होता है। पूर्व प्रयोग वगैरह के कारण ऊर्ध्वगमन कहना, वह तो उपचार से है। लोकाग्र में स्थिर होता है, वह स्वयं के स्वभाव से ही होता है। धर्मास्तिकाय का ऊपर अभाव है, इसलिए ऊपर जाता नहीं – ऐसा कहना, वह उपचार का कथन है।

कोई कहता है कि जैसे पक्षी का पंख टूट जाये, तब वह जहाँ हो, वहीं पड़ा रहता है; वैसे सिद्धभूमि (मुक्ति-स्थान) पर मुक्त जीव रहता है – ऐसा नहीं है, यह बताने के लिए स्वभाव से ऊर्ध्वगमन होता है – ऐसा कहा है। सिद्ध भगवन्त सादि-अनन्तकाल लोकाग्र में रहते हैं और वहाँ स्वयं की स्वतंत्र सत्ता में अनन्त आनन्द का अनुभव करते हैं। शक्तिरूप से पूर्ण स्वभाव था, उसको पहिचान कर एकाग्र होते-होते पूर्ण एकाग्र हुए, वहाँ पूर्ण विकास रूप से परमपारिणामिकभाव की पूर्णदशा प्रकट हुई, वह मोक्ष है।

व्यवहार से कर्म के निमित्त से यानी वर्तमान चार गति में जाने की योग्यता से जीव ऊँचा-नीचा, आड़ा – इसप्रकार संसार में गमन करता रहता है, वह विभावरूप गमन था। एकेन्द्रिय अवस्था में (निगोदिया जीव) सिद्ध भगवान के पास अनन्तबार गया, वह ऊर्ध्वगमन स्वभाव नहीं, किन्तु विकारी योग्यता है। निश्चयनय से केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की प्राप्ति स्वरूप मोक्ष है। उस दशा की प्राप्ति होने पर मोक्षगमन के समय स्वभाव ऊर्ध्वगमन होता है। देखिये, कोई ऐसा कहता है कि सिद्ध भगवान को ऊर्ध्वगमन होता है, वह विभाव है – यह बात असत्य है। सिद्ध भगवान को मोक्षदशा होते ही एक समय में स्वभाव ऊर्ध्वगमन होता है।

इसप्रकार नौ अधिकारों में अनेक नयों से जीवद्रव्य का वर्णन किया। इसका नाम नयार्थ है। शब्दार्थ पहिले कहा था। शास्त्रों के अर्थ करने के पाँच भेद हैं। शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ। उनमें से शब्दार्थ और नयार्थ कहा।

कर्म से जीव ने भ्रमण किया – ऐसा कहा, वह तो व्यवहार का कथन है। इसप्रकार नयार्थ जहाँ जैसा हो, वहाँ वैसा समझना चाहिए।

शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ – इन पाँच प्रकार से शास्त्र का अर्थ होता है। मूलसूत्र के शब्दानुसार अर्थ करना, वह शब्दार्थ है। वह कथन किस नय का

है – यह समझना, वह नयार्थ है।

सम्यग्दृष्टि जीव सचेत-अचेत (कुटुम्ब परिवार और बाह्य वैभव) वस्तु को भोगता हुआ भी निर्जरा करता है – ऐसा वचन शास्त्र में आया, वहाँ उसका आशय समझे बिना ऐसा ही कह देता है कि आत्मा पर को नहीं भोग सकता तो वह ठीक नहीं है। पहिले शास्त्र में जैसा कथन है, वैसा उसका शब्दार्थ समझना चाहिए। शास्त्र का शब्दार्थ न समझे, तब उसका आशय कहाँ से समझेगा? पहिले शास्त्र में क्या कहा है? वह तो समझना चाहिए और शब्दार्थ समझने के पश्चात् वह किस नय का कथन है, वह समझना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जीव सचेत-अचेत वस्तु को भोगता हुआ भी निर्जरा करता है। इस कथन में भोगने की बात तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के व्यवहार से कही है। इसलिए वह कथन व्यवहारनय का है और उस समय उसको अन्तर की (आन्तरिक) दृष्टि मौजूद है, उसके प्रभाव से निर्जरा होती है। निर्जरा तो निश्चयदृष्टि के प्रभाव से होती है, किन्तु उपचार से सचेत-अचेत के उपभोग को भी निर्जरा का कारण कह दिया है। पर को भोगता है – इसप्रकार जो कहा है – अज्ञानी तो संयोग को देखता है – इस दृष्टि से कहा है।

'जीव को और शरीर को अभिन्नता है – ऐसी श्रद्धा करना' – ऐसा **जयधवल** में कहा है, किन्तु निमित्त-नैमित्तिक अपेक्षा संयोग संबंध है, इस अपेक्षा से अभिन्नता कही है; इसलिए कोई भी कथन का शब्दार्थ, नयार्थ वगैरह समझना चाहिए। राग है, इससे आत्मा के और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, इतना ज्ञान कराने के लिए अभिन्नता कह दी है। आत्मा को सर्वथा सिद्धदशा नहीं हुई और पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान भी नहीं हुआ, इससे निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, उसका ज्ञान कराया है – ऐसा इस कथन का भावार्थ है।

जयधवल में कहते हैं कि जो क्रोधभाव के निमित्त हैं, वे क्रोध हैं। सम्यग्ज्ञान का प्रसंग चलता हो, वहाँ जिसे उदासीनता और द्वेष उत्पन्न हो, उसके द्वेष में ज्ञान निमित्त है – इससे उपचार से, नैगमनय ज्ञान को भी द्वेष कह देता है। इस रीति से सिद्ध आदि सभी पदार्थों को द्वेष कहा जाता है, उसीप्रकार राग भी कहा जाता है। जीव राग-द्वेष

का निमित्त बनावे, वहाँ सामने वाली वस्तु को राग या द्वेष कहते हैं, इसप्रकार भी एक नय है।

इसप्रकार से जो नय का कथन हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए।

यहाँ दूसरी गाथा का मतार्थ कहते हैं। जैनमत में कहा हुआ वस्तु का स्वरूप क्या है? अन्यमत में क्या विपरीतता है? उसे समझना, उसका नाम मतार्थ है। दूसरी गाथा में जीव के नौ अधिकार कहे, उसमें मतार्थ इसप्रकार है:-

(१) **जीव** कहा, वहाँ चार्वाक आदि अन्यमत वाले जीव को नहीं मानते, उनका निषेध हो गया ।

(२) जीव को **उपयोगमय** कहा, वहाँ नैयायिकमत वाले गुण-गुणी को सर्वथा भिन्न मानते हैं, उनका खण्डन हुआ।

(३) भट्ट तथा चार्वाकमत वाले जीव को अमूर्त नहीं मानते। उनके सामने यहाँ जीव के अमूर्तपने का स्थापन किया।

(४) जीव कर्म का कर्त्ता है - ऐसा कहा, वहाँ सांख्यमत वाले आत्मा को सर्वथा कूटस्थ मानते हैं, उनका निषेध हुआ।

(५) आत्मा शरीर-प्रमाण है - ऐसा कहा; वहाँ नैयायिक, मीमांसक और सांख्यमत वाले आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, उनका खण्डन हुआ।

(६) भोक्तापना कहा, उसमें सर्वथा क्षणिक माननेवाले बौद्धमत का निषेध हुआ। सर्वथा क्षणिक तत्त्व में भोक्तापना नहीं होता। जो जीव करता है, वही जीव भोगता है - ऐसा कहने से जीव की नित्यता तथा अनित्यता साबित हुई और बौद्ध आदि अन्यमती जीव को भोक्ता नहीं मानते, उनका निषेध हुआ।

(७) आत्मा संसारस्थ है - ऐसा कहा, वहाँ सदाशिवमत वाले आत्मा को हमेशा सिद्ध समान मानते हैं, उनका निषेध हुआ।

(८) आत्मा सिद्ध है - ऐसा कहा, वहाँ जो भट्ट और चार्वाकमत वाले या जो मोक्ष को तथा सिद्ध को नहीं मानते, उनका निषेध हुआ।

(९) जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है – ऐसा कहा। यह कथन जैनदर्शन के सिवाय अन्य समस्त मतों का नहीं है; क्योंकि आत्मा का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, यह जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई मत नहीं मानता।

सत्य क्या है ? और उससे विपरीत मत क्या है ? उन दोनों का निर्णय करना चाहिए।

चौथा भेद आगमार्थ है, वह तो शास्त्र से प्रसिद्ध है। जो कथन आया हो, वह कथन शास्त्र में दूसरी जगह कहाँ है ? ऐसा आगम के साथ मिलान करके समझना, वह आगमार्थ है।

पाँचवाँ भेद भावार्थ है। शब्दार्थ, नयार्थ वगैरह जानकर बाद में उसका आशय क्या है ? यह समझना उसका नाम भावार्थ है। सब जानकर शुद्ध ज्ञायक चैतन्यभाव, वही उपादेय है और अन्य सब हेय है, ज्ञान तो सबका करे; परन्तु ज्ञान करके उसमें से ऐसा आशय निकाले कि मेरे लिए शुद्ध चिदानन्दस्वभाव ही आदरणीय है और अन्य सब हेय (छोड़ने योग्य)है – ऐसा शास्त्र का भावार्थ है। किन्तु, पहले जाने तो बाद में उसमें हेय-उपादेय समझे न ? जाने ही नहीं तो हेय-उपादेय कहाँ से समझेगा ? जानने योग्य तो स्व और पर सभी हैं, किन्तु उपादेयपने में तो एक शुद्ध चिदानन्दस्वभाव ही है, अन्य सब हेय हैं – ऐसा भावार्थ है।

इसप्रकार से शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ – इन पाँचों भेद से प्रत्येक शास्त्र के प्रत्येक सूत्र का अर्थ समझना चाहिए।

शास्त्र में कहीं-कहीं ऐसा कहते हैं कि शरीर की नग्न दिगम्बरदशा मुनिपना है। इसप्रकार से द्रव्यलिंग को ही मुनिपना कह दिया है। वहाँ निमित्त कैसा हो, वह बताने के लिए व्यवहारनय का कथन है – ऐसा समझना चाहिए। उसके बदले दूसरे प्रकार से निमित्त माने, वस्त्रसहित मुनिदशा माने, वह तो अन्यमत है – ऐसा मतार्थ है और व्यवहारनय से द्रव्यलिंग को मुनिपना कहा, वहाँ वह शरीर की दशा को ही निश्चय से मुनिदशा मान ले और अन्दर की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा को नहीं समझे तो वह जीव नयार्थ को नहीं समझा।

शास्त्रों में इसप्रकार कहते हैं कि निमित्त कुछ नहीं करता, सम्यग्दर्शन स्वयं से ही होता है, वहाँ वह निश्चयनय का कथन है। वहाँ कोई ऐसा समझ ले कि चाहे जैसे कुगुरु

के निमित्त से भी सम्यग्दर्शन हो जाये तो वह जीव शास्त्र के अर्थ को नहीं समझा।

अरे भाई! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान स्वयं से ही होता है; लेकिन उससमय सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होता है। उस निमित्त को नहीं माने तो वह अज्ञानी है। स्वयं के ज्ञान में जो निमित्त हो, उसके उपकार को भूल जाये या गुरु का नाम छुपाये तो वह जीव ज्ञानावरणी कर्म बाँधता है। वह जीव व्यवहार में भी ज्ञान का चोर है, निश्चय से तो वह चोर है ही। सच्चे ज्ञान में ज्ञानी का ही निमित्त होता है, उसे नहीं स्वीकारे और उपकारी गुरु का नाम छुपाये तो वह बड़ा मायावी है।

श्रीमद् रायचन्द्र कहते हैं :-

बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीत।
पावे नहीं गुरुगम बिना, यही अनादि स्थित॥

देखो! ज्ञान तो स्वयं को स्वयं की योग्यता से ही प्राप्त होता है, किन्तु उससमय कैसा निमित्त होता है, उसका ज्ञान करना चाहिए। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कैसे हों ? उसकी भी अभी जिसको खबर नहीं है, उसको हेय-उपादेय तत्त्व का विवेक नहीं हो सकता। इसलिए सभी पहलुओं से वस्तुस्थिति समझना चाहिए।

❑❑❑

प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है....

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को करता तो नहीं है, किन्तु स्पर्श भी नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध होती है। आत्मा मात्र ज्ञायक परमानन्द स्वरूप है। यह भगवान सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि की पुकार है। ऐसी अध्यात्म की सूक्ष्म वस्तु इस काल जिन्हें अंतर में रुचिपूर्वक परिणमित हो जाती है - ऐसे जीवों को एक-दो-चार भव ही होते हैं, अधिक नहीं होते - ऐसा शास्त्र में आता है; क्योंकि इस काल में केवली, अवधिज्ञानी या मनःपर्ययज्ञानी नहीं हैं, आश्चर्य के कारण ऐसे इन्द्रादि देवों का आगमन नहीं होता, चक्रवर्ती आदि कोई चमत्कारिक वस्तुएँ नहीं हैं, तथापि यह आध्यात्मिक सूक्ष्मतत्त्व अंतर में रुच जाता है, उसके भाव विशेष हैं; इसलिए उसे अधिक भव नहीं होते।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-४१

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-३

अब, बारह गाथाओं द्वारा नव अधिकारों का वर्णन करते हैं। उनमें प्रथम जीव का स्वरूप कहते हैं :-

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥३॥

त्रिकाले चतुःप्राणा इन्द्रियं बलमायुः आनप्राणश्च।
व्यवहारात् स जीवः निश्चयनयतस्तु चेतना यस्य॥३॥

जो सदा धारें श्वास इन्द्रिय आयु बल व्यवहार से।
वे जीव निश्चयजीव वे जिनके रहे नित चेतना॥३॥

गाथार्थ :- तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास - इन चार प्राणों को जो धारण करता है, वह व्यवहारनय से जीव है। निश्चयनय से जिसको चेतना है, वह जीव है।

टीका:- **तिक्काले चदुपाणा** तीनों कालों में (जीव को) चार प्राण होते हैं। वे कौन से ? **इंदियबलमाउआणपाणो य** अतीन्द्रिय शुद्ध चैतन्यप्राण से प्रतिपक्षभूत क्षायोपशमिक इन्द्रियप्राण है, अनंतवीर्यलक्षण बलप्राण से अनन्तवें भाग प्रमाण मनोबल, वचनबल और कायबलरूप प्राण हैं। अनादि-अनन्त शुद्ध चैतन्यप्राण से विपरीत-उससे विलक्षण सादि-सान्त (आदि और अंतसहित) आयुप्राण है। श्वास और उच्छ्वास के परावर्त से उत्पन्न खेदरहित विशुद्ध चैतन्यप्राण से विपरीत श्वासोच्छ्वासरूप प्राण है। **ववहारा सो जीवो** व्यवहारनय की अपेक्षा से, इसप्रकार के चार द्रव्य और भावप्राणों से यथासंभव जो जीवित रहता है, जीवित रहेगा और पहले जीता था; वह जीव है। (जीव को) द्रव्येन्द्रियादि द्रव्यप्राण अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से भावेन्द्रियादि क्षायोपशमिक भावप्राण अशुद्ध निश्चयनय से और सत्ता, चैतन्य, बोध आदि शुद्धभावप्राण निश्चयनय से हैं। **णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स** शुद्ध निश्चयनय से, उपादेयभूत शुद्ध चेतना जिसके है, वह जीव है।

इसप्रकार **वच्छरक्खभवसारिच्छ सग्गणिरयपियराय। चुल्लयहंडिय पुण मडउणव दिट्ठंता जाय॥ १. वत्स**- जन्म लेते ही बछड़ा पूर्वजन्म के संस्कार से, बिना सिखाये

अपने आप ही माता का स्तनपान करने लगता है। **२. अक्षर**- अक्षरों का उच्चारण जीव जानकारी के साथ आवश्यकतानुसार करता है, जड़ पदार्थों में यह विशेषता नहीं होती है। **३. भव**- यदि आत्मा एक स्थायी पदार्थ न हो तो जन्म-मरण किसका होता है ? **४. सादृश्य**- आहार, परिग्रह, भय, मैथुन, हर्ष, विषाद आदि सब जीवों में एकसमान दिखाई देते हैं। **५-६. स्वर्ग-नरक**- जीव यदि स्वतंत्र पदार्थ न हो तो स्वर्ग-नरक में जाना किसके सिद्ध होगा ? **७- पितर**- अनेक मनुष्य मरकर भूत आदि हो जाते हैं और अपने स्त्री, पुत्रादि को अपने पूर्वभव का हाल बतलाते हैं। **८. चूल्हा-हंडी**- जीव यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश - इन पाँच महाभूतों से उत्पन्न होता हो तो दाल बनाते समय चूल्हे पर रखी हुई हंडिया में भी पाँचों महाभूतों का समागम होने के कारण वहाँ भी जीव उत्पन्न होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। **९. मृतक**- मुर्दे में पाँचों पदार्थ होते हैं, परन्तु उसमें जीव के ज्ञानादि नहीं होते। इसप्रकार जीव एक पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध होता है। इस दोहे में कहे हुए नौ दृष्टांतों द्वारा, चार्वाकमतानुयायी शिष्य को समझाने के लिए जीव की सिद्धि के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई।

अब, अध्यात्मभाषा से नयों के लक्षण कहते हैं:- 'सर्व जीव शुद्ध-बुद्ध-एक स्वभाववाले हैं' - यह शुद्धनिश्चयनय का लक्षण है। 'रागादि ही जीव है' - यह अशुद्ध निश्चयनय का लक्षण है। गुण और गुणी अभेद होने पर भी भेद का उपचार करना - यह सद्भूतव्यवहार का लक्षण है और भेद होने पर भी अभेद का उपचार करना-यह असद्भूत व्यवहार का लक्षण है। वह इसप्रकार है - 'जीव के केवलज्ञानादि गुण हैं' यह उपचरित अशुद्ध सद्भूतव्यवहार का लक्षण है। संश्लेष संबंधवाले पदार्थ 'शरीरादि मेरे हैं' - यह अनुपचरित असद्भूतव्यवहार का लक्षण है। जहाँ संश्लेषसंबंध नहीं है, 'वहाँ पुत्रादि मेरे हैं' - वह उपचरित असद्भूव्यवहार का लक्षण है। इसप्रकार नयचक्र के मूलभूत छह नय संक्षेप में जानना चाहिए॥३॥

गाथा ३ पर प्रवचन

जीव के नौ अधिकार कहे हैं। अब उनका विस्तार से विवेचन करते हैं। सबसे पहले जीव का स्वरूप कहते हैं।

इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास - ऐसे चार प्रकार के प्राणों से संसारदशा

में जीव त्रिकाल जीता है। यहाँ जो त्रिकाल चारों प्राणों से जीता है – ऐसा कहा है, वह जहाँ तक संसारदशा हो, वहाँ तक की बात समझना चाहिए। यह व्यवहारनय की बात है। निश्चयनय से तो जीव त्रिकाल चैतन्यप्राण से ही जीता है।

देखिये! इसमें बहुत-सी बातें आ जाती हैं। जगत में जड़ इन्द्रियाँ हैं, उनके साथ जीव का संबंध है, यह सब स्वीकार करने में आया। समयसार में इसप्रकार कहा है कि सम्यग्दृष्टि जितेन्द्रिय है। उसमें भी इतनी बात आ जाती है कि जीव की पर्याय में खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप भावेन्द्रिय है, उसके निमित्तरूप जड़ द्रव्येन्द्रियाँ हैं और उनके विषयरूप परद्रव्य हैं। इन सबको स्वीकार करे और वह तीनों से पार (दूर) अखण्ड चैतन्यस्वभाव को जाने तो वह स्वभाव के आश्रय से इन्द्रियों को जीत कर जितेन्द्रिय होता है।

जीव का स्वभाव त्रिकाल चैतन्यप्राणरूप है। वह तो इन्द्रियों से अगोचर है। उस अतीन्द्रिय चैतन्यप्राण के प्रतिपक्षरूप ऐसा क्षायोपशमिक इन्द्रियप्राण है, उससे जीता है। इसलिए व्यवहार से जीव है। जीव का स्वभाव अपार अनन्तवीर्य है, अनन्तवीर्यरूप बलप्राण जीव में त्रिकाल है। उसके अनन्तवें भाग हीन परिणमन हुआ, वह मनबल, वचनबल और कायबल है। देखिये! मन, वचन और शरीर तो जड़ है और उस निमित्त की ओर के झुकाववाला वीर्य भी अनन्तवें भाग हीन परिणमित हो गया है। उस बलप्राण से जीता है, वह व्यवहार से जीव है और निश्चय से तो अनन्तवीर्यरूप बलप्राण से जीता है, वह जीव है।

शुद्धनिश्चय से तो जीव अनादि-अनन्त शुद्ध चैतन्यप्राण से जीनेवाला है, इसमें आयु नहीं है। इस स्वभाव से विपरीत सादि-सान्त आयु की योग्यता – यह व्यवहारप्राण है और जड़ आयु है – यह भी व्यवहारप्राण है। त्रिकाली शुद्धप्राण को निश्चय कहा तथा जड़ का संयोग और क्षणिक योग्यता – इन दोनों को व्यवहारप्राण कहा। इसप्रकार का निश्चय व्यवहार का कड़ीबद्ध (संधिबद्ध) कथन जैनदर्शन के अतिरिक्त दूसरी जगह नहीं होता। द्रव्य-गुण-पर्याय और संयोग – इन सबको जैसे हैं, वैसे न जाने और एक को भी उड़ा दे तो मिथ्याज्ञान हो जाता है।

जड़-श्वासोच्छ्वास और उसप्रकार की जीव की योग्यता – ऐसे श्वासोच्छवास प्राण

से तो जीव व्यवहार से जीता है। निश्चय से जीवस्वभाव तो श्वासोच्छ्वास के आवागमन से उत्पन्न होनेवाला जो खेद उससे रहित है, शुद्ध चैतन्यप्राणस्वरूप है; किन्तु व्यवहार में श्वासोच्छ्वास है, वह जानना चाहिए। इस तरह चार प्रकार के द्रव्यप्राण और भावप्राण से जो जिया है, जीता है और जियेगा; वह जीव है।

जगत में ऐसे चार प्राणसहित अनंत जीव सदा रहनेवाले हैं, उस अपेक्षा से यह बात है। सब जीवों को चार प्राण हमेशा रहते ही हैं - ऐसा नहीं है। ऐसा हो तो कभी मुक्ति ही न हो। संसार में चार प्राण सहित रहनेवाले जीव हैं, वे तो परज्ञेय हैं। आप आप में ऐसा भान करे कि ये चार प्राण तो व्यवहार हैं, निश्चय से मैं शुद्ध चैतन्यप्राणस्वरूप हूँ - ऐसा भान करके स्वयं चार प्राणों का अभाव करके सिद्ध हो जाता है।

अनन्तकाल से आत्मा क्या है? यह नहीं जाना। आत्मा क्या है, उसको जानने में कैसा पुरुषार्थ होता है तथा कैसे निमित्त होते हैं? वह कभी यथार्थ रीति से नहीं जाना। शुद्ध चैतन्य को जानकर उसको साधनेवाले सन्त ही सम्यग्ज्ञान में निमित्त होते हैं। जीव अनादि से है। वह अनादि से शुद्ध नहीं है। पहले उसकी पर्याय में भूल थी, बाद में स्वभाव का भान कर वीतराग होकर सर्वज्ञता प्रकट की। ऐसे सर्वज्ञदेव ने जीव का यथार्थ वर्णन किया। ऐसे सर्वज्ञदेव, उनकी कही हुई वाणी और उस सर्वज्ञता को साधनेवाले (सिद्ध करनेवाले) गुरु, वही सम्यग्ज्ञान में निमित्त होते हैं। साधकदशा में बीच में राग हो, तब ऐसे सद्‌निमित्तों पर लक्ष्य जाता है; किन्तु कुदेव के प्रति आदर भाव नहीं होता - नहीं आता।

लोग कहते हैं कि **वसु बिना नर पशु।** यहाँ जड़लक्ष्मी का तो आत्मा में अभाव ही है, किन्तु आत्मा की चैतन्यलक्ष्मी के भान से रहित जीव पशु-समान है। उस आत्मा का विराधक होकर निगोद वगैरह पशु (तिर्यंचगति) होता है और जिन जीवों ने यथार्थ स्वभाव का भान किया, वे जीव आराधक होकर अल्पकाल में सिद्ध होते हैं। शुद्ध चैतन्यतत्त्व क्या है ? उसके आराधक जीव कैसे हों? यह जानकर स्वयं (आप) स्वभाव का आराधक होकर सिद्धदशा प्राप्त करता है; इसलिए यहाँ सर्वज्ञदेव ने ज्ञान में प्रत्यक्ष देखे हुए और वाणी से कहे हुए जीव-अजीव आदि द्रव्यों का वर्णन किया है। लेकिन पहले ऐसा कहनेवाले सत्यार्थ देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानना चाहिए और उससे विरुद्ध

कहनेवाले कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को त्यागना चाहिए, छोड़ना चाहिए। देख भाई! यदि तुझे चैतन्यतत्त्व की मुक्तदशा प्रकट करना हो तो पहले सत्समागम से उसका यथार्थ ज्ञान कर।

शुद्धनिश्चय से जीव के त्रिकाल चैतन्यपना है, वह इन्द्रियों से रहित है; किन्तु व्यवहार से पर्याय में जड़ इन्द्रियों का संबंध है और ज्ञान में भी भावेन्द्रिय की योग्यता है। जड़ इन्द्रियों के प्राण को जीव के कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है। अनुपचरित इसलिए है कि उसके साथ निकट का संबंध है, किन्तु वह चैतन्यसत्ता से भिन्न है, अत: असद्भूत है और पर्याय में निमित्त की अपेक्षा द्रव्यप्राण के साथ संबंध है; इसलिए उसको व्यवहार कहा।

इन्द्रियाँ वगैरह जड़प्राण अवश्य हैं, लेकिन वे जीव के स्वभाव से पृथक् हैं। जीव का स्वभाव तो इन्द्रियों से भिन्न शुद्ध चैतन्यप्राण है। ऐसा समझे तो परमार्थ-स्वभाव की ओर झुके और धर्म हो। द्रव्यप्राण है, इसका ज्ञान तो कराया। द्रव्येन्द्रियाँ हैं, उनको जाने ही नहीं तो ज्ञान ही खोटा है-मिथ्या है। उन द्रव्येन्द्रियों से भिन्न चिदानन्दस्वभाव है; उसको न जाने और द्रव्येन्द्रियों को आदरणीय माने, तब भी मिथ्याज्ञान है।

पर्याय में द्रव्येन्द्रिय की ओर का झुकाववाला जो खंड-खंड ज्ञान है, वे भावेन्द्रियाँ हैं; सो अशुद्ध निश्चयनय से जीव के प्राण हैं। भावेन्द्रिय अर्थात् खंड-खंड ज्ञान, वह स्वयं की पर्याय है; लेकिन वह अशुद्धपर्याय है, इसलिए उसको अशुद्धनिश्चयनय कहा है। भावेन्द्रिय यह स्वयं का अंश है। जो उसको परपदार्थ मानता है तो अज्ञान है और उस अंश जितना ही सम्पूर्ण आत्मा मान ले तो भी पर्यायमूढ़ अज्ञानी है। वर्तमान अंश को अंश जितना जाने और त्रिकालीस्वभाव को जाने, उसका आदर करे तो सम्यग्ज्ञान और धर्म होता है।

द्रव्य, पर्याय और निमित्त - इन सबको जैसे हैं, वैसे जानकर शुद्धद्रव्य का आदर कर उसमें एकाग्र होना - यह मोक्ष का कारण है। ज्ञान का क्षयोपशम इन्द्रियों की ओर जाकर खंड-खंडरूप होता है, वह अशुद्धपर्याय है, किन्तु वह स्वयं की ही पर्याय है; अतएव निश्चय है। इसप्रकार जड़प्राणों को तो असद्भूत कहकर जीव से भिन्न बताया और भावप्राणों को अशुद्धनिश्चयनय कहकर ऐसा बताया कि उस भावप्राण जितना तेरा

तत्त्व (स्वरूप) नहीं है। इसप्रकार द्रव्यप्राण और भावप्राण से रहित जो शुद्ध चैतन्यसत्तारूप प्राण है, वह शुद्धनिश्चय से है।

मेरा अन्तर्मुखी वास्तविक जीवन तो शुद्धचैतन्यसत्ता, बोध वगैरह शुद्धभाव प्राणरूप है। जड़ इन्द्रियों से मेरा कोई संबंध नहीं और खंड-खंडरूप क्षणिक ज्ञान के आधार पर भी मेरा जीवन नहीं है। मेरा यथार्थ जीवन तो शुद्ध चैतन्यसत्ता और ज्ञानस्वरूप है। यह शुद्ध निश्चयनय का विषय है और ऐसा शुद्धस्वभाव ही उपादेय है। जीव शुद्धनिश्चयनय जड़ इन्द्रियों अथवा खंड-खंड ज्ञान को जीव नहीं मानता। शुद्धनिश्चयनय तो उपादेयरूप शुद्ध चैतन्यमय जीव को ही ग्रहण करता है। ऐसा शुद्ध चैतन्यसत्तास्वरूप जीव ही उपादेय है, उसके ही आश्रय से मोक्ष होता है। अरे! ऐसी बात किसने की कि जिनको अन्तरंग में शुद्धस्वभाव की दृष्टि प्रकट हुई है, सन्तों का ऐसा कथन है। इसके अतिरिक्त जो परनिमित्त के आश्रय से अथवा दया आदि के शुभराग के आश्रय से संसार का नाश होना (स्वयं की मुक्ति) मानता हो, वह ठीक नहीं है। अशुद्धता का नाश अशुद्धता के आश्रय से नहीं होता, किन्तु शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के ही आश्रय से अशुद्धता का नाश होता है। अतएव सन्तों का कथन है कि शुद्ध चैतन्यजीव ही उपादेय है।

जिनको ऐसी पूर्ण साध्य की दृष्टि प्रकट हुई है – ऐसे सन्त ही ऐसी बात कर सकते हैं। जिसको अभी पूर्ण साध्य का पता नहीं और राग से धर्म मानता है, वह तो अज्ञानी है। अभी जिसको पूर्ण साध्य की खबर नहीं, वह जीव किसके आश्रय से साधकदशा प्रकट करेगा? त्रिकाली शुद्धस्वभाव, प्रतिक्षण होती हुई उसकी पर्याय, उसमें अशुद्धता और भावप्राण की योग्यता, उसमें जड़प्राणों का निमित्त – ऐसा सब जाने और उसमें से शुद्ध जीव को आदरणीय माने, वही सत्य जीवन जीता है। बाकी तो सब चलते-फिरते मुर्दे जैसे हैं। अष्टपाहुड़ में आचार्यदेव ने मिथ्यादृष्टि को चलता-फिरता मुर्दा कहा है।

अहो! शुद्ध चैतन्यसत्ता का जिसको ज्ञान नहीं और राग से तथा पर के आश्रय से कल्याण मानता है, वह भी परमार्थ से तो चार्वाक जैसा है।

❑❑❑

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-४

अब, तीन गाथा तक ज्ञान और दर्शन - इन दो उपयोगों का कथन किया जाता है। वहाँ पहली गाथा में 'मुख्यरूप' से दर्शन उपयोग की व्याख्या करते हैं। जहाँ अमुक विषय का मुख्यता से वर्णन करने के लिए कहा हो, वहाँ गौणरूप से अन्य विषय का भी यथासंभव कथन आ जाता है - इसप्रकार जानना।

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं॥४॥

उपयोगः द्विविकल्पः दर्शनं ज्ञानं च दर्शनं चतुर्धा।
चक्षुः अचक्षुः अवधिः दर्शनं अथ केवलं ज्ञेयम्॥४॥

उपयोग दो हैं ज्ञान-दर्शन चार दर्शन जानिये।
चक्षु अचक्षु अवधि केवल नाम से पहिचानिये॥४॥

गाथार्थ :- उपयोग दो प्रकार का है - दर्शन और ज्ञान। उसमें दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन - इसप्रकार चार प्रकार का जानना।

टीका:- **उवओगो दुवियप्पो** उपयोग दो प्रकार का है, **दंसणणाणं च** दर्शन और ज्ञान। दर्शन निर्विकल्प है और ज्ञान सविकल्प है। **दंसणं चदुधा** दर्शनोपयोग चार प्रकार का है। **चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं** चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन - ये चार प्रकार जानना। वह इसप्रकार - प्रथम तो आत्मा यथार्थतया तीन लोक, तीन कालवर्ती समस्त वस्तुओं के सामान्य को ग्रहण करनेवाला सकल-विमल केवलदर्शन स्वभाववाला है, पश्चात् अनादि कर्मबंध के अधीन होकर, चक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम से और बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्त पदार्थ के सत्ता सामान्य को विकल्परहित (निराकाररूप से) संव्यवहार से प्रत्यक्षपने, किन्तु निश्चय से परोक्षरूप से, जो एकदेश देखता है; वह चक्षुदर्शन है। उसीप्रकार स्पर्शन-रसना-घ्राण-श्रोत्रेन्द्रियावरण का क्षयोपशम होने से अपनी-अपनी बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से, मूर्त पदार्थ के सत्तासामान्य को विकल्परहित (निराकाररूप से) जो परोक्षरूप से एकदेश देखता है, वह अचक्षुदर्शन है। उसीप्रकार मन इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से और सहकारी कारणरूप आठ पाँखड़ीवाले कमल के आकाररूप द्रव्यमन के आलम्बन से, मूर्त और

अमूर्त समस्त वस्तुओं के सत्तासामान्य को विकल्परहित परोक्षरूप से जो देखता है, वह मानस-अचक्षुदर्शन है। वही आत्मा अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्त वस्तु के सत्तासामान्य को विकल्परहित, जो एकदेश-प्रत्यक्षरूप से देखता है, वह अवधिदर्शन है तथा जो सहजशुद्ध है और सदा आनन्द जिसका एक रूप है - ऐसे परमात्मतत्त्व की संवित्ति की प्राप्ति के बल से, केवलदर्शनावरण का क्षय होने पर, मूर्त-अमूर्त समस्त वस्तु के सत्तासामान्य को विकल्परहित सकल-प्रत्यक्षरूप से जो एक समय में देखता है, उसे उपादेयभूत, क्षायिक केवलदर्शन जानना॥४॥

गाथा ४ पर प्रवचन

अब तीन गाथाओं में जीव के उपयोग का वर्णन करते हैं, उसमें पहली गाथा (गाथा नं. ४) में दर्शनोपयोग का प्रमुखतया वर्णन किया है।

जीव का उपयोग स्वभाव है। वह उपयोग दर्शन और ज्ञान ऐसे दो प्रकार का है। उसमें चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन - इस तरह चार प्रकार का दर्शनोपयोग है। दर्शनोपयोग स्वभाव है, वह तो त्रिकाल है और ये चार उसकी पर्यायें हैं। उनमें चक्षु, अचक्षु और अवधि छद्मस्थ के होता है और केवलदर्शन सर्वज्ञ परमात्मा के होता है।

चक्षु के निमित्त से पदार्थों के रूप वगैरह जानना, इसका नाम कोई चक्षुदर्शन नहीं है। लेकिन रूप वगैरह को जानने से पहले उपयोग का एक सामान्य व्यापार (मात्र सत्तावलोकन) होता है, उसका नाम चक्षुदर्शन है। यह दर्शनोपयोग निर्विकल्प है। निर्विकल्प इसका क्या मतलब ? कि पदार्थों में विशेष भेद किये बिना दर्शनोपयोग उनका सामान्य प्रतिभास करता है, इससे वह निर्विकल्प है और ज्ञानोपयोग तो स्व-पर, जीव-अजीव, सामान्य-विशेष वगैरह सभी भेदों सहित पदार्थों को जाननेवाला स्वभाव है, इसलिए वह सविकल्प कहा जाता है। विकल्प का अर्थ रागरूप नहीं समझना। ज्ञान विशेष प्रकार से जानता है, इसलिए सविकल्प है। केवलज्ञान भी सविकल्प है। देखिये! उपयोग के जितने भेद हैं, वे सब जीव की सत्ता में हैं। वे कोई पर के कारण से नहीं हैं।

देखिये! जीव का स्वभाव ही ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग है अर्थात् पूर्णता प्राप्त करे,

उस दशा में एकसाथ केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों होते हैं – ऐसे पूर्ण ज्ञानोपयोग और पूर्ण दर्शनोपयोग सहित जीव की सत्ता है। जो इसको न माने तो उसने जीव की सत्ता को नहीं जाना। कोई ऐसा कहे कि सर्वज्ञ परमात्मा को केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों ही एक साथ नहीं होते, लेकिन क्रमश: होते हैं – तो उसने जीव की सत्ता को ही यथार्थ रूप से नहीं जाना। छद्मस्थ अवस्था में ज्ञानोपयोग के समय दर्शनोपयोग नहीं होता और दर्शनोपयोग के समय ज्ञानोपयोग नहीं होता, लेकिन क्रमश: उपयोग होता है। पूर्णदशा में ज्ञान–दर्शन का क्रम ऐसा नहीं होता। वहाँ तो ज्ञान और दर्शन दोनों उपयोग एक साथ होते हैं, जो इससे विपरीत मानता है तो उसने जीव की शुद्धसत्ता को तथा केवलज्ञान की दशा (अवस्था) को भी नहीं जाना।

तीन काल तथा तीन लोक में समस्त द्रव्यों को सामान्य रूप से देखनेवाला जो पूर्ण निर्मल केवलदर्शन है, वह जीव का स्वभाव है। ऐसा स्वभाव–सामर्थ्य जीव में त्रिकाल है, लेकिन पर्याय में वह पूर्ण सामर्थ्य अनादि से प्रकट नहीं है।

पर्याय में अनादि कर्मबंध के अधीन होने से, कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से तथा इन्द्रियों के अवलम्बन से मूर्त पदार्थों की सामान्य सत्ता को भेदरहित देखना, वह चक्षु–दर्शन है।

देखिये! चक्षुदर्शन कहा, तब भी वह चक्षु से नहीं होता। शिष्य धवल में प्रश्न करता है कि "प्रभो! चक्षुदर्शन कहा है, तब भी आँख से दिखता है, उसका ऐसा अर्थ न करते हुए, गाथा का गला मसक कर (घोंटकर) अर्थ क्यों करते हो? तब श्रीगुरु समाधान करते हैं कि भाई! गाथा के शब्दों का भी यही आशय है। हमने गाथा के आशय अनुसार ही अर्थ किया है। दर्शनोपयोग को पहिचानने के लिए चक्षु के निमित्त से कथन किया है, लेकिन चक्षु से मूर्त्त पदार्थ को देखना, यह तो ज्ञान हो गया। उस ज्ञान के होने के पहले उपयोग का जो सामान्य व्यापार (सत्तावलोकन) हो जाता है, उसका नाम चक्षुदर्शनोपयोग है – ऐसा उपयोग जीव की स्वयं की पर्याय में है।

यहाँ चक्षुदर्शन के उपयोग को भी संव्यवहार प्रत्यक्ष कहा। जैसे ज्ञान में प्रत्यक्ष–परोक्ष ऐसे भेद आते हैं, वैसे यहाँ दर्शन में भी प्रत्यक्ष परोक्ष का आरोप कहा है। जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही दर्शनोपयोग भले हो – यहाँ ऐसा कहा है। दर्शनोपयोग सर्वथा

निमित्त के बिना परिपूर्ण कार्य करता हो तो केवलदर्शन है और चक्षुदर्शन तो यथार्थ में परोक्ष है, किन्तु ज्ञान संव्यवहार प्रत्यक्ष होता है। इसलिए आरोप से उसके पूर्व के (आद्य पर्याय) चक्षुदर्शन को भी संव्यवहार प्रत्यक्ष कह दिया है। छद्मस्थ जीव इस दर्शनोपयोग को सीधा नहीं पकड़ सकता, लेकिन प्रतीति में ले सकता है। यह दर्शन है – ऐसा लक्ष्य करे (लक्ष्य में लेने जाये) तो उससमय दर्शनोपयोग नहीं रहता, लेकिन ज्ञानोपयोग हो जाता है। ऐसा उपयोग स्वभाव जीव में त्रिकाल है। ऐसे जीव स्वभाव को जानकर उसका आदर करना, यह धर्म है।

यथार्थ चैतन्यस्वभाव और उसकी प्रतिसमय की स्वतंत्र पर्याय जिसके जानने में न आये, उसको अन्तर्दृष्टि होकर सम्यग्दर्शन नहीं होता।

यहाँ जीव के उपयोग का वर्णन है। जीव में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग त्रिकाल है। उनकी प्रतिसमय की स्वतंत्र पर्याय होती है। दर्शनोपयोग की पर्याय के चार भेद हैं। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल। ये चारों दर्शनोपयोग जीव की सत्ता में होते हैं। चक्षु निमित्त है और जीव में चक्षुदर्शनोपयोग क्षयोपशम है। उस दर्शनोपयोग की पर्याय स्वतंत्र है और उस पर्याय का कार्य चक्षु इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थों को सामान्य रूप से निर्विकल्प रूप से देखना है। चक्षुदर्शनोपयोग पर्याय है, वह स्वतंत्र है। वह अंशरूप से देखता है, परोक्ष देखता है और निर्विकल्प देखता है। यह रूप है – ऐसा भेद किया तो वह ज्ञान हो गया। दर्शनोपयोग वैसा भेद नहीं करता।

द्रव्य-गुण-पर्याय इन सबको जैसे हैं; वैसे जाने, तब यथार्थ ज्ञान होता है। इस यथार्थ ज्ञान के बिना धर्म नहीं होता।

आत्मा स्वतंत्र वस्तु (द्रव्य) है, उसमें दर्शनोपयोग नाम का गुण है, उसकी चार पर्यायें हैं। उनमें चक्षुदर्शन मूर्त पदार्थों की सत्ता को परोक्ष देखता है। वह चक्षुदर्शनोपयोग पूर्णरूप से नहीं देखता, किन्तु आंशिक (अंश रूप में) देखता है। वह दर्शन, भेद करके (भेदरूप से) नहीं देखता, किन्तु स्वयं के विषय को निर्विकल्परूप से (बिना भेद किये) देखता है। यहाँ चक्षु इन्द्रिय निमित्त होती है और उसप्रकार से कर्म का क्षयोपशम निमित्त होता है। देखने का कार्य तो दर्शनोपयोग स्वतंत्र रूप से करता है। यह दर्शनोपयोग भी एक अंश है। जीव त्रिकाली शुद्ध है, वह अंश (आंशिक) जितना नहीं

है। ऐसा सब जानकर शुद्ध जीव को उपादेय माने तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। ऐसी बात (इस रूप का कथन) जैनदर्शन के अतिरिक्त दूसरी जगह (अन्य दर्शनों में) नहीं पायी जाती।

अचक्षुदर्शन है - उसमें स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय के आवरण का क्षयोपशम तथा बाह्य इन्द्रियाँ - ये निमित्तरूप हैं और वहाँ दर्शनोपयोग का इसप्रकार उघाड़ (आवरण का आंशिक हटना) है। वह अचक्षुदर्शन मूर्त पदार्थों की सामान्य सत्ता को अभेदरूप, विकल्परहित देखता है तथा परोक्ष देखता है। शब्द लक्ष्य में आ गया, वह तो ज्ञान हो गया; किन्तु शब्द लक्ष्य में न आये, उसके पहले दर्शनोपयोग का सामान्य व्यापार (प्रवृत्ति) हो जाता है, इसका नाम अचक्षुदर्शन है। यह जीव की स्वयं की पर्याय है, वह दूसरे के कारण नहीं है। यह अचक्षुदर्शन भी परोक्ष है। परोक्ष ज्ञान है, यहाँ उसके पहले के दर्शन को भी परोक्ष कहा है। प्रत्यक्ष और परोक्ष - ऐसे दो भेद दर्शन में (दर्शनोपयोग) यहाँ लिये हैं, लेकिन परोक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण - ऐसे दो भेद तो ज्ञान में ही हैं। दर्शन में प्रमाण लागू नहीं होता। दर्शन की प्रतिसमय की पर्याय जीव के साथ अभेद है, क्योंकि जीव उपयोगमय है।

देखिये! अचक्षुदर्शन में कितनी बातें अन्तर्निहित हैं - १. जीव का दर्शनस्वभाव त्रिकाल है। २. अचक्षुदर्शनोपयोग उसकी पर्याय है। ३. वह पर्याय परोक्ष है। ४. वह मूर्त को ही देखता है। ५. वह स्वतंत्रतापूर्वक देखता है। ६. एक अंश को ही देखता है। ७. इन्द्रिय तथा कर्म का क्षयोपशम उसमें निमित्त है। ८. वह सामान्य सत्ता को ही देखता है। ९. भेद किये बिना निर्विकल्प होता है। १०. ऐसी दर्शनपर्याय जीव से अभिन्न है। ११. अचक्षुदर्शन वह एक अंश है। एक अचक्षुदर्शन की पर्याय को पहिचानने में (उपर्युक्त) इतनी बातें जानना चाहिए।

उपर्युक्त जो बात की, वह इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाले अचक्षुदर्शन की बात की, लेकिन मन के निमित्त से भी अचक्षुदर्शन होता है। वह अमूर्त पदार्थों को भी देखता है। मूर्त और अमूर्त - ऐसे दो भेद करना, यह तो ज्ञान का कार्य है, दर्शन में वैसे भेद नहीं होते।

अवधिदर्शन - अवधिज्ञान एक अंशरूप से प्रत्यक्ष जाननेवाला है। ज्ञान होने के

पहले अन्दर अवधिदर्शन का उपयोग होता है। यह अवधिदर्शन भी एकदेश प्रत्यक्ष है। देखो, स्वर्ग और नरक को यहाँ स्वयं के उपयोग से देखता है। अवधिदर्शन मूर्त पदार्थों की सामान्य सत्ता को एकदेश प्रत्यक्ष निर्विकल्परूप से देखता है।

केवलदर्शन - केवलदर्शन का वर्णन करते समय पहले वह कैसे होता है? यह कहते हैं - सहज शुद्ध सदा आनन्दरूप एकस्वरूप का धारक परमात्मा है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के बल से उसके (जीव के) केवलदर्शनावरणी कर्म का क्षय होकर केवलदर्शन प्रकट होता है। वह केवलदर्शन कैसा है? कि समस्त मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थों की सामान्य सत्ता को, जो सम्पूर्ण प्रत्यक्षरूप से एक समय में विकल्प रहित देखता है। चार प्रकार के दर्शनोपयोग में ऐसा केवलदर्शन उपादेय है। वह पर्याय अपेक्षा से उपादेय है; लेकिन ऐसा केवलदर्शन किसको होता है? कि निश्चय से उपादेयरूप शुद्ध चिदानन्द चैतन्य परमात्मा को ही पहिचान कर उसकी भावना करे तो केवलदर्शन प्रकट होता है। देखिये! यह उपादेय तत्त्व की बात है। ऐसे तत्त्व को जाने बिना धर्म नहीं होता।

आत्मा सदा आनन्दस्वरूप एकरूप है; बंध और मोक्ष - ऐसे भेद पर्याय में होते हैं; लेकिन त्रिकाली तत्त्व की दृष्टि में ऐसे भेद नहीं हैं, वह तो एकरूप सदा आनन्दरूप है। दु:ख, मोक्षमार्ग और मोक्ष - ये सब तो क्षणिक पर्याय में हैं और ध्रुव चिदानन्द परमात्मा तो सदा एकरूप है। ऐसे सदा आनन्दस्वरूप एकरूप परमात्मा के तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के बल से केवलदर्शन होता है।

द्रव्य-पर्याय को जानकर सामान्य का अवलम्बन करना - यह तो धर्म की बात है। सामान्य का अवलम्बन किसप्रकार करना? कि ध्रुव स्वभाव चिदानन्द की महिमा जानकर पर्याय को उसमें अन्तर्मुख करना - इसका नाम सामान्य का अवलम्बन है। सहज आनन्दस्वरूप ऐसे परमात्मा का अवलम्बन करने से ही परमानन्दमय परमात्मदशा प्रकट होती है। पहले त्रिकाल एकरूप परमात्मस्वरूप आत्मा का यथार्थ तत्त्वज्ञान करना चाहिए। इस तत्त्वज्ञान के बल से केवलदर्शन प्रकट होता है। बीच में राग आये, उसके द्वारा अथवा बाह्य क्रियाकांड के द्वारा केवलदर्शन नहीं होता।

देखिये! तत्त्वज्ञान करने से केवलदर्शन हो जाना कहा, लेकिन किसका तत्त्वज्ञान? कि त्रिकाली आनन्दरूप परमात्मा के तत्त्वज्ञान के बल से केवलदर्शन होता है - ऐसा

केवलदर्शन हो, तब दर्शनावरणी कर्म का क्षय होता है। इसप्रकार निमित्त का ज्ञान भी साथ-साथ कराया है। द्रव्य-पर्याय और निमित्त - इन सबका ज्ञान करा कर एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही आदरणीय है - ऐसा यह शास्त्र कहता है, बतलाता है।

इसप्रकार जीव के दर्शनोपयोग के चार भेदों में से केवलदर्शन ही उपादेय है। दूसरे तीन दर्शन अपूर्ण हैं, इसलिए वे उपादेय नहीं हैं। यहाँ केवलदर्शन को ही उपादेय कहा है। यह पर्याय है, लेकिन वह पर्याय कब होती है? कि त्रिकाली शुद्धद्रव्य को उपादेय करे, तब - ऐसा इस कथन का तात्पर्य है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन - ये दोनों उपयोग भिन्न-भिन्न हैं; लेकिन उनमें समयभेद नहीं है। एक ही समय में वे दोनों साथ में होते हैं। ऐसा न माने तो जीव का उपयोगस्वभाव पूर्ण नहीं होता। उपयोग दो होने पर भी उसका कर्ता एक ही है और उसकी पूर्ण पर्याय हो गई है। यहाँ ज्ञान-दर्शन उपयोग के कार्य का भेद नहीं होता। कर्ता जहाँ स्वयं पूर्ण हो गया है, वहाँ दर्शन और ज्ञान के कार्य के समयभेद क्यों रहे? दोनों एक ही उपयोग नहीं तथा उनमें पहले और बाद में - ऐसा क्रम भी नहीं है। छद्मस्थ को ज्ञान-दर्शन उपयोग की प्रवृत्ति में क्रम रहता है, केवली को ऐसा क्रम भी नहीं होता।

इसप्रकार जीव के दर्शनोपयोग का वर्णन किया।

❑❑❑

परवस्तु की एकत्वबुद्धि छुड़ायी है...

प्रचुर आनन्द के वेदन में झूलते हुए संत कहते हैं कि जब जिनेश्वरदेव ने सर्व अध्यवसान छुड़वाये हैं, तब हम ऐसा मानते हैं कि पर जिसका आश्रय है - ऐसा व्यवहार ही सारा छुड़वाया है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के राग के परिणाम में पर का सम्बन्ध है, स्व का सम्बन्ध नहीं है। जो तुझमें नहीं है और तूने अपना माना है, वह नितान्त मिथ्याभाव है; इसलिए भगवान ने परवस्तु की एकत्वबुद्धि छुड़ायी है तो हम संत ऐसा मानते हैं कि दया-दान-व्रतादि पर के आश्रयरूप दूसरा जितना व्यवहार है, वह सभी भगवान ने छुड़वाया है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१८३

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-५

अब, आठ भेदवाले ज्ञानोपयोग का प्रतिपादन करते हैं :-

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च॥५॥

ज्ञानं अष्टविकल्पं मतिश्रुतावधयः अज्ञानज्ञानानि।
मनःपर्ययः केवलं अपि प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च॥५॥

ज्ञान आठ मतिश्रुतावधि ज्ञान भी कुज्ञान भी।
मनःपर्यय और केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष भी॥५॥

गाथार्थ :- कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान - इसप्रकार आठ प्रकार का ज्ञान है। इसमें भी प्रत्यक्ष और परोक्षरूप भेद है।

टीका :- **णाणं अट्ठवियप्पं** ज्ञान आठ प्रकार का है। **मदिसुदिओही अणाणणाणाणि** इन आठ भेदों में मति, श्रुत और अवधिज्ञान - ये तीन मिथ्यात्व के उदयवश विपरीत अभिनिवेशरूप अज्ञान हैं और वे ही शुद्धात्मादि तत्त्व के विषय में विपरीताभिनिवेश रहितपने के कारण सम्यग्दृष्टि जीव को सम्यग्ज्ञान हैं। **मणपज्जयकेवलमवि** मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान - ये दोनों मिलकर ज्ञान के आठ भेद हुए। **पच्चक्खपरोक्खभेयं च** वे प्रत्यक्ष और परोक्ष - ऐसे भेदरूप हैं। अवधि और मनःपर्यय - ये दो (भेद) एकदेशप्रत्यक्ष हैं, विभंग-अवधिज्ञान भी देशप्रत्यक्ष है, केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है और शेष चार परोक्ष हैं।

अब उनका विस्तार कहा जाता है- प्रथम तो आत्मा वास्तव में निश्चयनय से सकल-विमल-अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय केवलज्ञानरूप है। वह व्यवहार से अनादि कर्मबंध से आच्छादित होता हुआ, मतिज्ञानावरणी के क्षयोपशम से और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से तथा बहिरंग पंचेन्द्रिय और मन के अवलम्बन से मूर्त और अमूर्त वस्तुओं को, एकदेश, विकल्पाकार से, परोक्षरूप से अथवा सांव्यावहारिक प्रत्यक्षरूप से जो जानता है, वह क्षायोपशमिक मतिज्ञान है। छद्मस्थों की ज्ञान-चारित्रादि की उत्पत्ति में वीर्यान्तराय का क्षयोपशम और केवलियों को सर्वथा क्षय सर्वत्र सहकारी जानना।

अब संव्यवहार का लक्षण (स्वरूप) कहा जाता है। समीचीन व्यवहार, वह

संव्यवहार है। प्रवृत्ति निवृत्तिस्वरूप संव्यवहार कहलाता है। जो संव्यवहार में हो, वह सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष – जैसे कि घट का रूप मैंने देखा आदि।

श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से, मन के अवलम्बन से तथा प्रकाश, उपाध्यायादि, बहिरंग सहकारी कारणों से मूर्त-अमूर्त वस्तु को, लोक-अलोक को, व्याप्ति ज्ञानरूप से जो अस्पष्ट जानता है; वह परोक्ष श्रुतज्ञान कहलाता है।

तथा विशेष – जो शब्दात्मक श्रुतज्ञान है, वह तो परोक्ष ही है; परन्तु स्वर्ग, मोक्षादि बाह्य वस्तुओं का बोध करानेवाला विकल्परूप जो ज्ञान है, वह भी परोक्ष है और जो अभ्यंतर में 'सुख-दु:ख के विकल्परूप मैं हूँ', 'अनन्तज्ञानादिरूप मैं हूँ' – ऐसा ज्ञान – वह ईषत् (किंचित्) परोक्ष है। और जो निश्चय-भावश्रुतज्ञान है, वह शुद्धात्माभिमुख होने से सुख के संवेदनस्वरूप है; वह स्वसंवेदन के आकाररूप होने से सविकल्प होने पर भी, इन्द्रिय-मनजनित रागादि विकल्पजाल से रहित होने से निर्विकल्प है; अभेदनय से जो 'आत्मा' शब्द से कहा जाता है – ऐसा वही (निश्चय-भावश्रुतज्ञान) जो वीतराग सम्यक्चारित्र के साथ अविनाभावी है, वह – केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष होने पर भी, संसारी जीवों को क्षायिकज्ञान का अभाव होने से क्षायोपशमिक होने पर भी, प्रत्यक्ष कहलाता है।

यहाँ शिष्य पूछता है **आद्ये परोक्षम्** – ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में मति-श्रुत – इन दो ज्ञानों को परोक्ष कहा है तो फिर (श्रुतज्ञान) प्रत्यक्ष किसप्रकार है? उसका निराकरण किया जाता है – वह उत्सर्ग का व्याख्यान है और यहाँ जो कथन है, वह अपवाद का व्याख्यान है। यदि वह उत्सर्गकथन न होता तो तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान को परोक्ष किसप्रकार कहा है? और तर्कशास्त्र में वही (मतिज्ञान) सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष किसप्रकार हो गया? अत: (ऐसा समझना कि) जिसप्रकार अपवादव्याख्यान से, मतिज्ञान को परोक्ष होने पर भी प्रत्यक्ष कहा है। उसीप्रकार स्व-आत्माभिमुख भावश्रुतज्ञान को भी परोक्ष होने पर भी प्रत्यक्षज्ञान कहा है तथा यदि वह ऐकान्तिक परोक्ष हो तो सुख-दु:खादि का संवेदन भी परोक्ष हो जाता है, परन्तु ऐसा तो है नहीं।

वही आत्मा अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से मूर्तवस्तु को विकल्पसहित (साकाररूप से) जो एकदेश प्रत्यक्ष जानता है, वह अवधिज्ञान है।

जो मन:पर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम से तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से अपने मन के अवलम्बन द्वारा अन्य के मन में रहे हुए मूर्त पदार्थ को विकल्पसहित (साकाररूप से) एकदेश प्रत्यक्ष जानता है, वह ईहा मतिज्ञानपूर्वक मन:पर्ययज्ञान है।

निज शुद्धात्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र, जिसका लक्षण है - ऐसे एकाग्रध्यान द्वारा केवलज्ञानावरणादि चार घातिकर्मों का नाश होने पर जो उत्पन्न होता है, वह एक समय में समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को ग्रहण करनेवाला, सर्वप्रकार से उपादेयभूत केवलज्ञान है ॥५॥

गाथा ५ पर प्रवचन

अब ज्ञानोपयोग का वर्णन करते हैं।

जीव उपयोगस्वभावी है। उसका ज्ञानोपयोग त्रिकाल है। उसकी पर्याय के आठ भेद हैं। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि - ये तीन अज्ञान हैं; सम्यक् मति-श्रुत-अवधि, मन:पर्यय और केवल - ये पाँच सम्यग्ज्ञान हैं। इस ज्ञानोपयोग के प्रत्यक्ष और परोक्ष - ऐसे दो भेद हैं। देखिये! ज्ञान अपेक्षा ये सब प्रयोजनभूत हैं। जैसा सत् है, वैसा जानने का ज्ञान का स्वभाव है।

ज्ञायक चैतन्यबिम्ब आत्मा को भूलकर जो ज्ञान पर को जानता है - ऐसे मतिज्ञान को कुमति ज्ञान कहते हैं। उसीप्रकार ज्ञायक स्वभाव क्या है? उसको नहीं जानना और शास्त्र पढ़-पढ़कर विपरीत समझना - यह सब कुश्रुतज्ञान है। अज्ञानी का ग्यारह अंग और नौ पूर्व का अध्ययन भी कुमति और कुश्रुतज्ञान है। जिसको चिदानन्दस्वभाव के भान से-समझ से सम्यग्ज्ञान हुआ है, उसको शास्त्र वगैरह का जाननेवाला ज्ञान भी सम्यक् मति-श्रुतज्ञान है। यह मति-श्रुत परोक्ष है। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान संपूर्ण प्रत्यक्ष है। उनमें अज्ञानी को कुअवधिज्ञान होता है, ज्ञानी को सुअवधिज्ञान होता है। मन:पर्ययज्ञान तो ज्ञानी को ही होता है और केवलज्ञान तो अरहन्त और सिद्ध परमात्मा को होता है।

सर्वज्ञदेव के देखे हुए छह द्रव्यों में जीवद्रव्य भिन्न है। उस जीवद्रव्य का स्वभाव उपयोग है। उसके ज्ञान और दर्शन दो भेद हैं। वह ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग त्रिकाली है। दर्शनोपयोग की पर्याय के चार भेद हैं - वे प्रत्येक स्वतंत्र हैं, यह पहले कह दिया

है। ज्ञानोपयोग की पर्याय के आठ भेद हैं। उनमें कुमति, कुश्रुत तथा सम्यक्मति श्रुत – यह चार प्रकार का परोक्ष है। कुअवधि तथा सम्यक्अवधि और मनःपर्यय ये एकदेश प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान संपूर्ण प्रत्यक्ष है। उनका विशेष वर्णन अब किया जायेगा।

इन छह द्रव्यों में से जीवद्रव्य का वर्णन चलता है। जीव में त्रिकाल ज्ञान गुण है। उस गुण की पर्याय में मतिज्ञान वगैरह आठ भेद हैं। वे आठों भेद जीव की स्वयं की पर्याय हैं। ज्ञानोपयोग जीव का स्वयं का स्वभाव है, जीव स्वयं उपयोगमय है। ऐसा जाने तो त्रिकाल ज्ञायक चैतन्यद्रव्य के आदर से धर्म हो।

मति, श्रुत और अवधि – ये तीन ज्ञान मिथ्यात्व के उदय से विपरीताभिनिवेशरूप होते हैं, उसको अज्ञान कहते हैं। जीव स्वयं के स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप मैं हूँ, मैं देह की क्रिया करता हूँ – ऐसा उलटा – विपरीत अभिप्राय करता है, तब उसके मति-श्रुतज्ञान, कुमति और कुश्रुत हैं। पर के कारण मुझे ज्ञान होता है – ऐसा माननेवाले अज्ञानी के ज्ञान को कुमति, कुश्रुत कहा जाता है। अज्ञानी को कभी ऐसा ज्ञान प्रकट होता है कि स्वर्ग-नरक को देखा जा सकता है, उसको विभंगावधिज्ञान कहा जाता है। वह अज्ञान है, फिर भी यह ज्ञान जीव के स्वयं के कारण से हुआ है।

सर्वज्ञ द्वारा कथित यथार्थ तत्त्व से उसकी विपरीत मान्यता होती है। उसको कुमति, कुश्रुत और कुअवधि – ये ज्ञान भी स्वयं की योग्यता से हैं, पर के कारण से नहीं हैं – ऐसा ज्ञान प्रकट हो, उसका कोई महत्त्व नहीं; क्योंकि शुद्ध आत्मतत्त्व का तो उसको भान नहीं है।

यहाँ तो जीव के उपयोग के भेदों का कथन है। उपयोग के जितने भेद होते हैं, वे सब भेद जीव के स्वयं के कारण से ही हैं, कोई निमित्त के कारण से वे नहीं हैं। उपयोगमय जीव है। शुद्ध चैतन्यतत्त्व क्या है? उसके भान बिना ज्ञान के क्षयोपशम से अज्ञानी सात द्वीप-समुद्र को अथवा स्वर्ग-नरकादि को मात्र पर ही जानता है। यह ज्ञान की महिमा नहीं है।

जो ज्ञान अन्तरस्वभाव के सन्मुख होकर शुद्ध आत्मा को जाने, वह ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और वही मोक्ष का कारण है। उपयोग की अवग्रह आदि पर्याय इन्द्रिय या मन के कारण नहीं होती, फिर भी पर के कारण मेरा ज्ञान होता है – ऐसा माननेवाला

जीव मिथ्यात्व के वशीभूत हुआ है और उसका ज्ञान कुज्ञान है तथा शुद्ध आत्मतत्त्व वगैरह तत्त्वों की विपरीतता से रहित यथार्थ ज्ञान से सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुत, अवधिज्ञान सम्यक् होते हैं। अज्ञानी के मति, श्रुत, अवधिज्ञान – वे मिथ्याज्ञान हैं और सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुत, अवधि सम्यक् होते हैं। इसप्रकार कुज्ञान के तीन भेद तथा सुज्ञान के तीन – ऐसे छह भेद हुए। इसके बाद मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान – ये दो ज्ञान हैं, वे तो सुज्ञान (सम्यक्) ही होते हैं। मिथ्यादृष्टि को ये ज्ञान नहीं होते।

ज्ञान के आठ उपयोग में जीव द्रव्य का स्वतंत्र परिणमन है। पूर्व के कर्म ज्ञान को रोकते हैं – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। कर्म तो जड़ हैं। मेरी जितनी योग्यता है, उतने ज्ञान का विकास हुआ है। ज्ञानी को विशेष ज्ञान का उघाड़ (प्रकटता) न हो और विशेष धारणा वगैरह न रहती हो तो वह यहाँ दूसरे की भूल (दोष) नहीं निकालता। शुद्धस्वभाव को तथा प्रयोजनभूत तत्त्वों को तो वह ज्ञान से बराबर जानता है, किन्तु अवधिज्ञान वगैरह न हो तो वहाँ वह खेद नहीं मानता। इसका नाम अज्ञान परीषह है। विशेष ज्ञान का उघाड़ न हो, तब भी प्रयोजनभूत तत्त्वों के ज्ञान में संदेह नहीं होता। जैसा निमित्त हो, वैसा ज्ञान होता है अर्थात् निमित्त से ज्ञान होता है – ऐसी मान्यता अज्ञान की है। ज्ञान तो जीव के स्वयं के उपयोग की योग्यतानुसार ही होता है। उससमय वैसा ज्ञेय निमित्त होता है, लेकिन ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के एक अंश को भी जिसने पर के कारण माना, उसने जीवद्रव्य त्रिकाली ज्ञानस्वभावी है, इसको नहीं जाना।

निश्चय से जीव का स्वभाव सम्पूर्ण निर्मल, अखण्ड, प्रत्यक्ष केवलज्ञानस्वरूप है; किन्तु व्यवहारनय से अनादि से, कर्मबंध के निमित्त से और मतिज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से, बहिरंग इन्द्रियों और मन के अवलम्बन से मूर्त-अमूर्त पदार्थों को एकदेश परोक्षरूप, विकल्पसहित अर्थात् विशेषसहित जानता है – ऐसे मतिज्ञान सहित जीव है।

देखिये! जीव के एक मतिज्ञान पर्याय ऐसी है। यह मतिज्ञान परोक्ष है, किन्तु व्यवहार में उसको प्रत्यक्ष कहने में आता है; क्योंकि वह सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है। इस मतिज्ञान के समय इन्द्रियों और मन का निमित्त होता है, किन्तु ज्ञान तो स्वयं की योग्यता से ही होता है। इसप्रकार से निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। वह दो द्रव्यों की एकता नहीं बताता, किन्तु दो द्रव्यों की भिन्नता बताता है।

मतिज्ञान में इन्द्रियाँ और मन तो बाह्य निमित्त हैं और अन्दर वीर्य का क्षयोपशम, वह मतिज्ञान का सहकारी कारण है। वीर्यान्तराय का क्षयोपशम तो जड़ है, किन्तु जो वीर्य का क्षयोपशमभाव है; वह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, आनन्द, सुख, चारित्र, सम्यक्त्व आदि सभी पर्यायों में सहकारी कारण है। कोई भी पर्याय वीर्य बिना नहीं होती। ज्ञान आदि की पर्याय की योग्यतानुसार वीर्य का क्षयोपशमभाव होता है, केवलज्ञान आदि में क्षायिक वीर्य सहकारी कारण है। देखिये ! शरीर के बल की बात नहीं ली, कोई भी कार्य प्रकट होने में आत्मबल ही सहकारी कारण है। ज्ञान और वीर्य दोनों का समय तो एक ही है, तो भी उसमें वीर्य को ज्ञान का सहकारी कारण कहा है।

आत्मा के ज्ञान, चारित्र, सम्यक्त्व आदि सभी गुणों की पर्याय में वीर्य सहकारी कारण है। कोई इसप्रकार कहे कि सम्यग्दर्शन में जीव का पुरुषार्थ नहीं होता तो उसकी बात झूठी है। यहाँ तो कहते हैं कि अज्ञानी को उसके विपरीत ज्ञान आदि में भी वीर्य सहकारी कारण है; वीर्य अर्थात् आत्मबल, आत्मशक्ति।

विपरीत पर्याय या सीधी पर्याय कोई भी पर्याय हो, उसमें वीर्य का परिणमन भी साथ ही है अर्थात् जीव को पर्याय की स्वतंत्रता है। जीव को स्वयं की पर्याय में कोई दूसरे का सहयोग-सहकार नहीं है। केवलज्ञान की प्राप्ति में वज्रवृषभनाराच संहनन कुछ मदद नहीं करता, किन्तु उससमय का अनन्तवीर्य ही सहकारी कारण है; तो भी केवलज्ञान को और अनन्तवीर्य को प्रकट होने में समयभेद नहीं है। सम्यग्दर्शन के समय उसप्रकार का पुरुषार्थ साथ ही परिणमता है, उसे बताने के लिए यहाँ अनन्तवीर्य को सहकारी कारण कहा है। बाहरी सहकारी कारण की बात को यहाँ नहीं लिया, किन्तु स्वयं के वीर्य की सहकारण की अपेक्षा पहिचान करायी है।

मति-श्रुतज्ञान वास्तव में तो परोक्षरूप हैं, फिर भी उनको सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहने में आता है; क्योंकि लोक में ऐसा व्यवहार है कि मैंने घड़ा प्रत्यक्ष देखा है, इसकारण मतिज्ञान को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। मतिज्ञान पर्याय घटज्ञानरूप में परिणमित हुई है, वहाँ घट का ज्ञान तो परोक्ष है; लेकिन मैंने घड़ा देखा है, वस्त्र नहीं- ऐसा बराबर निर्णय करता है, इसलिए व्यवहार में उस ज्ञान को प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।

इसप्रकार मतिज्ञान का वर्णन किया।

जीवद्रव्य की व्याख्या चलती है। जगत में जीव अनादि-अनन्त स्वतंत्र वस्तु है और उसका ज्ञानस्वभाव है। उस ज्ञानस्वभाव की प्रतिसमय अवस्था (पर्याय) होती है, वह भी स्वतंत्र है। जिसको धर्म करना हो, उसको ऐसे स्वतंत्र आत्मा को जानना चाहिए। धर्म करना है, इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान अवस्था में धर्म नहीं है; किन्तु त्रिकालीशक्ति परिपूर्ण है, उसके (आत्मा के) आश्रय से पर्याय में धर्म नया होता है अर्थात् त्रिकाली शक्ति की प्रतीति करे और प्रतिक्षण होती हुई पर्याय को स्वतंत्र जानकर उस त्रिकाली शक्ति का अवलम्बन करे तो धर्म होता है।

जीवतत्त्व ज्ञानस्वभावी है। उस ज्ञान की पर्याय आठ प्रकार की है। ज्ञेय क्या है? उपादेय क्या है ? और हेय क्या है ? इसके ज्ञान बिना धर्म नहीं होता। मैं ज्ञायक मूर्त्ति भगवान हूँ, ऐसा स्वयं का शुद्ध त्रिकालीस्वभाव आदरणीय है और क्षणिकपर्याय का तथा पर का लक्ष्य छोड़ने जैसा है। जिसको आत्मा की समझ नहीं है, उसको भी ज्ञान की प्रतिसमय अवस्था-पर्याय तो होती ही रहती है। उसको कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधिज्ञान होता है तथा आत्मा के भानसहित हो तो सम्यक् मति-श्रुत-अवधिज्ञान होता है। मति-श्रुतज्ञान तो सभी छद्मस्थ जीवों के होता है। अवधिज्ञान अमुक जीवों को ही होता है। इसमें अब श्रुतज्ञान का वर्णन चलता है।

शुद्ध निश्चयनय से आत्मा परिपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूपी है, लेकिन पर्याय में ज्ञानावरणी कर्म के निमित्त से ज्ञान की हीनता है। ज्ञान की हीनता तो स्वयं के कारण से हुई है, लेकिन उसमें निमित्तरूप अन्य वस्तु (ज्ञानावरणी कर्म) है - ऐसा जानना चाहिए। उसमें श्रुत ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम श्रुतज्ञान का निमित्त है। यहाँ जीव के उपयोग में श्रुतज्ञान की योग्यता है और तदनुसार जड़कर्मों में ज्ञानावरण का क्षयोपशम है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने पर भी ज्ञान का परिणमन स्वतंत्र है। जिसको स्वयं के ज्ञान में पदार्थ की स्वतंत्रता की स्वीकृति नहीं है, उसको सत्य की समझ-बुद्धि नहीं है और उसको धर्म नहीं होता। श्रुतज्ञान-पर्याय को पहिचानने में कितनी बातें आ जाती हैं - यह कहते हैं।

पहले तो जीव को माने, उसके स्वभाव को माने और उसके समय-समय के परिणमन को माने; उसमें जीव की पर्याय में श्रुतज्ञान की योग्यता हो, तब ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम निमित्त होता है; तथा आठ पाँखुड़ीवाले कमल के आकार जड़-मन

है, वह भी श्रुतज्ञान में निमित्त है। इसीप्रकार ही अध्यापक, पुस्तक, प्रकाश आदि संयोग भी श्रुतज्ञान का निमित्त है। श्रुतज्ञान कितना जानता है ? जगत के मूर्त–अमूर्त समस्त पदार्थों को परोक्षपने–परोक्षरूप से जानता है। केवलज्ञान तो सम्पूर्ण लोकालोक को प्रत्यक्ष जाननेवाला है और श्रुतज्ञान में लोकालोक को परोक्ष जानने का सामर्थ्य है। श्रुतज्ञान के तर्क द्वारा लोकालोक के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। केवलज्ञान तो पूर्णानन्द परमात्मदशा है, वह तो सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है और चिदानन्द स्वभाव की रमणता से उस केवलज्ञान का जो साधक है, उस जीव के श्रुतज्ञान में भी इतना सामर्थ्य है कि तर्क की व्याप्ति के बल से लोकालोक को जान लेता है। यह ज्ञान परोक्ष है, पूर्ण स्वभावसामर्थ्य का जिसको विश्वास प्रकट हुआ है, लेकिन अभी पूर्ण केवलज्ञान प्रकट नहीं हुआ है। अभी मति–श्रुतज्ञानरूप साधक दशा वर्तती है–मौजूद है। ऐसे साधक जीव के ज्ञान में लोकालोक से परोक्ष जानने का सामर्थ्य है।

देखिये! इस श्रुतज्ञान में भी आंशिक प्रत्यक्षपना लेंगे, सर्वथा एकान्त परोक्ष नहीं है। श्रुतज्ञान का ऐसा सामर्थ्य है कि लोकालोक है, उसको जाने। जो ऐसा नहीं माने तो वह जीव श्रुतज्ञान के ऐसे सामर्थ्य को नहीं मानता।

भगवान चिदानंद प्रभु ज्ञाता हैं। उसकी प्रतीति कर उसमें एकाग्र होने से केवलज्ञान खिल जाता है, विकसित हो जाता है और वह केवलज्ञान समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है। ऐसा केवलज्ञान होने से पहले, साधकदशा में श्रुतज्ञान भी लोकालोक के मूर्त–अमूर्त पदार्थों को परोक्षरूप से जानने का सामर्थ्यवाला है। चिदानंद स्वरूप के आनन्द का अनुभव तो साधक जीव को भी स्वसंवेदन में आता है।

केवली भगवान को आनन्द का जैसा अनुभव है, वैसा ही आनन्द का अंश साधक जीव स्वसंवेदन से अनुभव करता है। केवली भगवान आत्मा के असंख्यप्रदेशों को स्पष्ट प्रत्यक्ष देखते हैं और साधक जीव आत्मा के असंख्यप्रदेशों को प्रत्यक्ष नहीं देखता, इतना अन्तर है। जैसे दिखनेवाला मनुष्य शर्करा (मिश्री) देखता है और अंधा व्यक्ति उसको नजर से, दृष्टि से नहीं देखता; लेकिन खाने में शर्करा का स्वाद तो जैसा देखनेवाले को आता है, वैसा ही अंधे व्यक्ति को आता है। इसीप्रकार केवली भगवान आत्मा को प्रत्यक्ष जानते हैं और छद्मस्थ जीव परोक्ष जानते हैं; किन्तु केवली भगवान ने आत्मा को जैसा देखा है, वैसा ही छद्मस्थ जीव परोक्ष देखता है तथा केवली भगवान जैसा ही आनन्द

का अंश वह स्वयं के स्वसंवेदन से अनुभव करता है।

जैसे किसी व्यक्ति ने अमेरिका आदि देश देखे हों और दूसरे व्यक्ति ने नजर से न देखे हों, किन्तु नक्शे से अथवा किसी से सुनकर निर्णय किया हो; वैसे ही स्वर्ग-नरक असंख्य द्वीप समुद्र आदि लोकालोक को केवली भगवान तो प्रत्यक्ष जानते हैं और श्रुतज्ञानी जीव उसको परोक्ष जानता है।

स्वर्ग-नरक आदि पदार्थ शाश्वत हैं, उन्हें केवली भगवान ने प्रत्यक्ष देखा है; उसको न माने, वह मिथ्यादृष्टि है। साधक जीव स्वयं के ज्ञान से शास्त्र द्वारा स्वर्ग-नरकादि को परोक्ष जानता है। स्वर्ग-नरक आदि बाह्य पदार्थों को जाननेवाला श्रुतज्ञान परोक्ष है।

अंदर में सुख-दु:ख के विकल्प होते हैं, वे स्वयं को किंचित् परोक्ष हैं। मैं सुखी, मैं दु:खी - ऐसा जो ज्ञान होता है, वह किंचित् परोक्ष है। देखिये! मतिज्ञान के विषय में सुख-दु:ख की बात नहीं ली। सुख-दु:ख के ज्ञानपूर्वक उसका वेदन होता है और वह श्रुतज्ञान का विषय है। बाहर के पदार्थों में तो सुख-दु:ख नहीं है, लेकिन बाहर के पदार्थों के लक्ष्य से सुख-दु:ख की कल्पना होती है, उसको श्रुतज्ञान जानता है। वहाँ सुख-दु:ख की मनोदशा को श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष नहीं जानता, इसलिए वह परोक्ष है; लेकिन वेदन में तो वह प्रत्यक्ष है, सुख-दु:ख का वेदन कोई परोक्ष नहीं है।

पर के कारण से सुख-दु:ख होता है - ऐसा जाने तो वह मिथ्याज्ञान है। ज्ञानी पर के कारण से सुख-दु:ख नहीं मानता, लेकिन स्वयं की कमजोरी से सुख-दु:ख की भावना होती है, उसको श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है। सुख-दु:ख की भावना अरूपी है; वह इन्द्रियों से नहीं जानी जाती। तब भी श्रुतज्ञान में उसके जानने का सामर्थ्य है अथवा मैं अनन्त ज्ञान-आनन्द आदि स्वरूप हूँ, शक्तिरूप से पूर्ण हूँ, व्यक्तरूप से पर्याय में अपूर्ण हूँ - इत्यादि ज्ञान है, वह आंशिक परोक्ष और आंशिक स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष है। आंशिक विकास प्रकट है, उसका वेदन श्रुतज्ञानी को प्रत्यक्ष है।

तथा जो भाव श्रुतज्ञान है, वह शुद्धात्म-सन्मुख होने से सुख-संवेदनरूप है। उस सम्यक् श्रुतज्ञान का विषय अखंडानन्द ज्ञायकमूर्त्ति आत्मा है और वह निज आत्मज्ञान के आकार से स्व-विषय में संबंधित होने से सविकल्प है अर्थात् विशेषज्ञान के भागवाला (हिस्सेदार भागीदार) स्व-सन्मुख व्यापार में रहनेवाला है।

यहाँ विकल्प अर्थात् राग नहीं, किन्तु विशेष आत्मज्ञान के व्यापार (प्रवृत्ति) की अपेक्षा से भाव श्रुतज्ञान सविकल्प है, तो भी इन्द्रिय-मन की ओर के झुकाव से होनेवाले शुभ-अशुभ भाव से रहित होने की अपेक्षा से वही ज्ञान निर्विकल्प है। ज्ञान में चैतन्य को विषय बनाया, इस अपेक्षा से सविकल्प है और वह ज्ञान जितना स्व-सन्मुख है और जितने अंश में राग घटा है-टला है, उतने अंश में निर्विकल्प है। भाव श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जाना - ऐसा कहना, यह भेद-कथन है; लेकिन अभेददृष्टि से वही भाव श्रुतज्ञान आत्मज्ञान कहा जाता है।

इसप्रकार श्रुतज्ञान के अनेक पहलुओं को बताया। अब प्रत्यक्ष किसप्रकार है, यह कहेंगे।

जीव की उपयोग पर्याय में हीनता हो, तब इन्द्रियाँ केवल निमित्त होती हैं; लेकिन उस निमित्त के कारण से जीव का उपयोग नहीं होता। जीव स्वयं ही उपयोगमय है, श्रुतज्ञान-पर्याय के समय श्रुतज्ञानावरणी का क्षयोपशम तथा द्रव्यमन, अध्यापक, शास्त्र आदि निमित्त होते हैं। वह ज्ञान स्वयं के उपयोगस्वभाव से मूर्त-अमूर्त पदार्थों को लोकालोक की व्याप्तिरूप ज्ञान से जानता है, लेकिन वह परोक्ष जानता है तथा शब्द के निमित्तवाला जो श्रुतज्ञान है, वह तो परोक्ष ही है।

स्वर्ग-मोक्ष आदि बाह्य क्रियाओं का ज्ञान हो, वह भी परोक्ष है; अंतरंग में सुख-दु:ख का वेदन हो, वह किंचित् परोक्ष है और वेदन अपेक्षा से किंचित् प्रत्यक्ष है। अनन्त ज्ञानमय आत्मा है, उसका धर्मी जीव को अन्तरंग में स्वसंवेदन होता है। उसमें राग टूट कर, आंशिक दूर होकर जितना निर्विकल्प स्वसंवेदन हुआ, उतना तो प्रत्यक्ष है; लेकिन सर्वज्ञ की तरह असंख्यप्रदेशी आत्मा प्रत्यक्ष नहीं जानता, इसलिए परोक्ष है।

ज्ञायक चिदानन्दस्वभाव की ओर झुककर सुख के स्वसंवेदन का ज्ञान होता है। इस अपेक्षा से श्रुतज्ञान सविकल्प है। विकल्प का अर्थ यहाँ राग नहीं समझना, लेकिन सुख के स्वसंवेदन को विशेषरूप से जानता है। इस अपेक्षा से श्रुतज्ञान सविकल्प है और उस स्वसंवेदन में रागरूप विकल्प का अभाव है। इस अपेक्षा से वह स्वसन्मुखी श्रुतज्ञान निर्विकल्प है। उसीप्रकार वह श्रुतज्ञान-पर्याय, अन्तर में झुककर-नमकर आत्मा के साथ अभेद हुई है, इससे उसको ही अभेदरूप से आत्मज्ञान कहते हैं।

देखिये! इस आत्मा की श्रुतज्ञानपर्याय का स्वभाव! जिसको अखंड ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई हो, उसको श्रुतज्ञानपर्याय के ऐसे सामर्थ्य का भी ज्ञान (भान) होता है। द्रव्यदृष्टि में पर्याय अभूतार्थ होने पर भी, जिसको ऐसी द्रव्यदृष्टि प्रकट हुई है, उसको पर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है। शुद्ध आत्मा के स्वसंवेदनरूप जो भावश्रुतज्ञान है, वह चारित्र बिना नहीं होता। चौथे गुणस्थान में भी जहाँ शुद्ध आत्मा का स्वसंवेदन हुआ, वहाँ स्वरूपाचरण चारित्र होता है। चौथे गुणस्थान का स्वसंवेदन श्रुतज्ञान है, वह स्वरूपाचरण चारित्र बिना नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान में विशेष स्वसंवेदनरूप ज्ञान है, वह ज्ञान देशचारित्र बिना नहीं होता।

छठवें-सातवें गुणस्थान में विशेष (अधिक) स्वसंवेदन ज्ञान है, वहाँ सकलचारित्र बिना वह नहीं होता अर्थात् कि जैसे स्वसंवेदन ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे राग का अभाव भी होता जाता है। जैसे-जैसे राग का अभाव होकर वीतरागी चारित्र प्रकट होता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान का स्वसंवेदन भी बढ़ता जाता है।

जब राग और ज्ञान को एक मानता था, उससमय अनन्त राग था और जहाँ राग से भेदज्ञान होकर ज्ञानस्वभाव के साथ एकता हुई, वहाँ राग के अंश का अभाव हुए बिना नहीं रहता। इसप्रकार ज्ञान और चारित्र का मेल (एकता) होता है। ज्ञान में शुद्धात्मा का अधिक स्वसंवेदन हो और राग जरा भी न घटे, ऐसा नहीं होता। अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव होकर स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट हुए बिना चौथे गुणस्थान का स्वसंवेदन ज्ञान भी नहीं होता।

देखिए! यहाँ रागरहित वीतरागी चारित्र की बात ली है, बाहर की क्रिया की बात नहीं ली। निमित्त अथवा शुभराग बिना ज्ञान न हो - ऐसा नहीं कहा, लेकिन अन्तरंग में वीतरागी चारित्रदशा के बिना भावश्रुतज्ञान नहीं होता। चौथे गुणस्थान में भी अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव हुआ है, उतना वीतरागी स्वरूपाचरण चारित्र हुआ है। मुनिदशा हो तो ही आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान हो और गृहस्थावस्था में सम्यक्त्वी को स्वसंवेदन न हो - ऐसा नहीं है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में गृहस्थावस्था में भी भावश्रुतज्ञान से शुद्धात्मा का स्वसंवेदन होता है। गुणस्थानानुसार स्वसंवेदन बढ़ता जाता है और राग टूटता (घटता) जाता है।

इस स्वसंवेदनरूप जो भावश्रुतज्ञान है, वह भी केवलज्ञान की अपेक्षा से तो परोक्ष है; लेकिन छद्मस्थ जीवों के क्षायिक ज्ञान तो होता नहीं, इसलिए यह भावश्रुतज्ञान परोक्ष होने पर वह प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। केवलज्ञान जैसा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है तो भी स्वसंवेदन के अंश की अपेक्षा से वह भावश्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष है।

छद्मस्थ का भावश्रुतज्ञान भी राग के बगैर (बिना) का है, इससे उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। अरे! देखिये तो सही, सन्तों की यह बात! देखिये, इस आत्मा की ज्ञानसम्पदा की महिमा!! अन्तरंग में स्वसंवेदनपूर्वक की यह वाणी है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि गृहस्थ धर्मी जीव को भी शुद्ध आत्मा के स्वसंवेदनरूप जो भावश्रुतज्ञान है, वह रागरहित होने से उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। सम्यग्दर्शनसहित ज्ञानी की यह बात है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में अभी सर्वथा वीतरागता नहीं है और केवलज्ञान हुआ नहीं है, तब भी स्वसंवेदन में तो आंशिक रागरहितपना है, इसलिए वह ज्ञान प्रत्यक्ष भी कहने में आता है। गृहस्थावस्था में रहते हुए सम्यग्दृष्टि का - अरे! पशु और नारकी में सम्यग्दृष्टि का ज्ञान भी स्वसंवेदन-अपेक्षा से प्रत्यक्ष है। देखिये, यहाँ श्रुतज्ञान को भी प्रत्यक्ष कह दिया।

यहाँ अब शिष्य प्रश्न करता है:- प्रभो! आपने यहाँ भावश्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष कहा, तत्त्वार्थसूत्र आदि शास्त्रों में तो **आद्ये परोक्षम्** - ऐसा कहकर मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है, तब आप यहाँ श्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष किसप्रकार से कहते हैं? देखिये, शिष्य शास्त्राधार से प्रश्न पूछता है। जिसको कुछ अभ्यास हो, समझने की जिज्ञासा हो, थोड़ा समझा हो और संदेह हो, वह जीव विशेष समझने के लिए प्रश्न पूछता है। जिसको समझने की बिलकुल इच्छा न हो, उसको प्रश्न नहीं उठता, लेकिन जो भी समझने का इच्छुक है - ऐसे जीव को समझने के लिए जिज्ञासापूर्वक प्रश्न उठता है, इसलिए यहाँ शिष्य को उपर्युक्त प्रश्न उठा है।

श्रीगुरु उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि हे शिष्य! सुनो! आगम में जहाँ मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है, वहाँ वह उत्सर्ग का कथन है अर्थात् अभी कुछ और कहना है, इसमें गूढ़ रहस्य रह जाता है। पर की ओर के ज्ञान की अपेक्षा से आगम में मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है, लेकिन उसका उत्सर्ग में बाधकरूप - ऐसे अपवाद की अपेक्षा से तो मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है। उत्सर्ग कथन को क्षति पहुँचाये - ऐसी एक विवक्षा शेष रह जाती है, उसका नाम अपवाद है। कौन-सा अपवाद है? कि स्वयं के

आत्मा की ओर ढल कर-लक्ष्य कर स्वसंवेदनज्ञान की अपेक्षा से मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है – ऐसा अपवाद है। तत्त्वार्थसूत्र में मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है, वह उत्सर्ग कथन है और यहाँ उसको प्रत्यक्ष कहा है, वह अपवाद कथन है। यदि तत्त्वार्थसूत्र में उत्सर्ग कथन न होता तो वहाँ मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष क्यों कहा? क्योंकि वह भी तो सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है। यदि शास्त्र में सर्वथा परोक्ष ही कहा होता तो तर्क (न्याय) शास्त्र में उसको सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष क्यों कहा? इसलिए निश्चित हुआ कि मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है, उसमें कुछ अपवाद भी है। अपवाद कथन से पर की ओर के मतिज्ञान को भी जैसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कह दिया है, वैसे निज आत्मस्वभाव के तर्क का आधार देकर श्रुतज्ञान को भी अनुभव में प्रत्यक्ष सिद्ध किया।

ग्यारह अंगों के ज्ञान को तो परोक्ष ही कहा, लेकिन चैतन्यस्वभाव की ओर झुके हुए सम्यग्दृष्टि के भावश्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष कहा। अन्तरस्वभाव में भावश्रुतज्ञान को लाना (स्व में झुकना) उसका नाम धर्म है। पर की ओर उपयोग जाये – इतना तो परोक्ष है, लेकिन अन्तर में चैतन्य को पकड़कर अनुभव करने की श्रुतज्ञान की जो शक्ति है, उस अपेक्षा से भावश्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है। धर्मी जीव को ऐसा ज्ञान होता है। कुदेवादि को माने ऐसी बात तो कहीं से कही गई। सत्यार्थ देव-गुरु-शास्त्र का ज्ञान भी परोक्ष है और अन्तरंग में चिदानन्द-स्वभाव के सन्मुख होकर उसका वेदन करे, वह भावश्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है। सम्यग्दर्शन होते ही ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होता है।

भाषा बोली जाती है, वह तो जड़ है। आत्मा कुछ बोलता नहीं। बोलता तो दूसरा है अर्थात् बोलनेवाला आत्मा नहीं, लेकिन आत्मा के सिवाय दूसरा अर्थात् जड़ है। यहाँ तो आत्मस्वभाव की ओर झुके हुए भावश्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष कहा। जो मति-श्रुतज्ञान है, वह एकान्त से परोक्ष ही हो और स्वसंवेदन अपेक्षा में भी आंशिक प्रत्यक्ष न हो तो सुख-दु:ख आदि का जो स्वसंवेदन होता है, वह भी परोक्ष ही ठहरेगा। लेकिन वह स्वसंवेदन तो कोई परोक्ष नहीं है, वह संवेदन तो प्रत्यक्ष है। हर्ष, शोक, सुख, दु:ख की जो मनोदशा होती है, उसका स्वसंवेदन ज्ञान में प्रत्यक्ष होता है। बिच्छू ने काटा – उससमय अन्दर में दु:ख की भावना होती है, उस दु:ख की मनोदशा का संवेदन तो स्वयं को प्रत्यक्ष है। बिच्छू के कारण से दु:ख नहीं, लेकिन अन्दर जो दु:ख का वेदन होता है, वह संवेदन तो प्रत्यक्ष है। यह साधारण संवेदन की अपेक्षा से प्रत्यक्ष

ज्ञान की बात है। अभी सम्यक् अथवा मिथ्याज्ञान का प्रश्न नहीं है, किन्तु दृष्टान्त देकर अन्तर के भावश्रुतज्ञान का प्रत्यक्षपना सिद्ध किया है।

देखिये, इस आत्मा के उपयोग का सामर्थ्य! ऐसे सामर्थ्य को जाने तो उपयोगमय आत्मा की प्रतीति हुए बिना नहीं रहे। इसप्रकार ज्ञान-सामर्थ्य की प्रतीति करने से आत्मस्वभाव की ओर दृष्टि जाये, उसका नाम धर्म है।

इसप्रकार श्रुतज्ञान के स्वभाव का वर्णन किया।

अब अवधिज्ञानोपयोग का वर्णन करते हैं –

यह आत्मा अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से मूर्त वस्तु को एक अंश में प्रत्यक्ष जानता है अर्थात् स्व-पर के भेदसहित सविकल्प जानता है। कोई सम्यग्दृष्टि मरकर इन्द्र हो और वहाँ अवधिज्ञान का उपयोग कर देखे कि अहो! तीर्थंकर भगवान कहाँ विराजते हैं? महाविदेह में सीमंधर भगवान आदि तीर्थंकर विराजते हैं – ऐसे अवधिज्ञान में भगवान को प्रत्यक्ष देखता है, वहाँ स्वयं के ज्ञान को और भगवान को दोनों को प्रत्यक्ष जानता है।

देखिये, महाविदेह में सीमंधर भगवान की सभा में कोई भावलिंगी सन्त विराजते हों, वहाँ उनको अवधिज्ञान न हो और वहाँ से स्वर्ग में जन्म हो, वहाँ अवधिज्ञान होता है। वह अवधिज्ञान में भगवान को देखता है, जानता है कि अहो! हम इन भगवान के निकट मुनि थे, लेकिन हमारे पुरुषार्थ में अधूरापन रह गया, इससे इस स्वर्ग में जन्म हुआ। वहाँ उनको जो अवधिज्ञान हुआ है, वह अवधिज्ञान स्वयं के ज्ञानोपयोग को और पर को एकदेश प्रत्यक्ष जानता है अर्थात् अवधिज्ञान में भी स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है।

अवधिज्ञान गृहस्थावस्था में चौथे गुणस्थान में भी होता है। जबकि मन:पर्ययज्ञान भावलिंगी मुनि-अवस्था में ही होता है।

मन:पर्ययज्ञान के क्षयोपशम से, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और स्वयं के मन के अवलम्बन द्वारा मन:पर्ययज्ञान अन्दर एकाग्रता से होता है। वह ईहापूर्वक होता है, इसमें मन का निमित्त लिया है। कर्म का क्षयोपशम तो निमित्त मात्र है। स्वयं के कारण से मन:पर्ययज्ञान का विकास होता है, तब ज्ञान पर के मन में प्राप्त मूर्तपदार्थ को एकदेश प्रत्यक्ष से सविकल्प जानता है।

नित्य आत्मद्रव्य, उसके अनन्तगुण नित्य, उनमें एक ज्ञानगुण, उसकी पाँच अवस्थायें-पर्यायें हैं। उनमें मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्ययज्ञान साधकदशा में अल्पज्ञ-छद्मस्थ को होता है। केवलज्ञान सर्वज्ञ वीतराग अरहन्त भगवान को होता है। अल्पज्ञ अवस्था में मात्र सर्वज्ञता की प्रतीति होती है।

केवलज्ञान किसप्रकार प्रकट होता है, वह पहले समझाते हैं।

सच्चिदानन्द आत्मा त्रिकाल शक्तिरूप से है, उसकी सम्यक् प्रकार से श्रद्धा करना। आत्मा निश्चय से स्वयं ज्ञायक चैतन्य अनन्तगुणों का पिण्ड है, ज्ञानादिरूप से प्रतिसमय बदलनेवाला (प्रतिसमय की नूतन पर्याय) निर्मलस्वभावी है, उसका अच्छी तरह स्व-संवेदनज्ञान करना और एक ज्ञानमात्र से आचरण करना - इसरूप जो स्वसन्मुख एकाग्र ध्यान उसके द्वारा केवलज्ञानावरण आदि चार घातियाकर्मों का नाश होकर, जो स्वयं से ही उत्पन्न होता है; जो एक समय में समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव का जाननेवाला है और सर्वप्रकार से उपादेय - ग्रहण करने योग्य है, वह केवलज्ञान है। वह आत्मा से अभेद - एकरूप शक्ति में से उत्पन्न होता है; बाहर से उत्पन्न नहीं होता।

जैसे कि दियासलाई में अग्नि शक्तिरूप से विद्यमान है, उसको (सलाई या काढ़ी को) उसके योग्य स्थान में घिसें-रगड़ें तो अग्नि प्रकट होती है; वैसे ही आत्मा में शक्तिरूप से केवलज्ञान आनन्द आदि अनन्त गुण हैं, उनको भलीप्रकार पहिचानकर वहीं एकाग्र होवे तो प्राप्त की प्राप्ति होती है।

जितने अरहन्त भगवान हुए हैं, वे ऐसे एकाग्र ध्यान द्वारा प्रकट शुद्धता को प्राप्त हुए हैं। अनन्तदर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य - ये अनन्तचतुष्टय तेरहवें गुणस्थान में एकसाथ प्रकट होते हैं और निमित्त में चार घातिया कर्म का अभाव होता है। शक्ति पूर्ण थी, वह अन्दर अभेद थी; वह प्रकट हुई। वह श्रद्धा, ज्ञान, आचरणरूप एकाग्रता से ही प्रकट होती है। ऐसा पुरुषार्थ भी बताया है और प्रकट हुई पूर्णदशा अन्दर से नई-नई उत्पन्न होती हुई सदा आत्मा के साथ रहती है। प्रत्येक आत्मा ऐसा परिपूर्ण स्वभावी है।

इसप्रकार ऐसी आत्मा को पूर्ण ज्ञानस्वभावी पहिचान कर, उसमें एकाग्र होकर जो केवलज्ञान प्रकट होता है; वह एक समय में सर्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को बिना इच्छा के जाना करता है और सर्वप्रकार से उपादेयरूप-ग्रहण करने योग्य है।

यहाँ राग-अवस्था में खंड-खंड होता ज्ञान भी अनेक तिथि, वार और अनेक वर्ष के सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण की बातें जानता है। तब इच्छा और अज्ञान सर्वथा दूर कर अन्दर एक स्वद्रव्य स्वभाव से जो केवलज्ञान प्रकट होता है, वह एकसमय में सर्व प्रकार से त्रिकालवर्ती सबको (सम्पूर्ण पदार्थों को) जानता है तो क्या आश्चर्य है? क्योंकि ज्ञानगुण की पूर्ण पर्याय का ऐसा सामर्थ्य है, इससे वह केवलज्ञान सर्वप्रकार से उपादेय है।

यहाँ उपयोग का अधिकार है, इसलिए केवलज्ञान उपादेय है – ऐसा कहा है; लेकिन जहाँ शुद्ध द्रव्यदृष्टि की बात हो, वहाँ त्रिकालीध्रुव परमपारिणामिक शुद्धद्रव्यस्वभाव ही आदरणीय है – ऐसा कहने में आता है, वहाँ पर्याय गौण रहती है। यहाँ उपयोग में केवलज्ञानरूप जो पूर्णपर्याय प्रकट हुई, वह आत्मा के साथ नित्य रहनेवाली है, इसलिए वह आदरणीय है। अपूर्णदशा आदरणीय नहीं है – ऐसा समझना।

❑❑❑

उसकी भी मुझे कोई विशेषता नहीं है

मैंने अपने परमभाव को ग्रहण किया है। उस परमभाव के सामने इन्द्र और चक्रवर्ती के वैभव की तो क्या बात, किन्तु तीनलोक का वैभव भी तुच्छ लगता है। और तो क्या, किन्तु अपनी स्वाभाविक निर्मलपर्याय भी, मैं द्रव्यदृष्टि के बल से कहता हूँ कि मेरी नहीं है। परद्रव्य तो मेरे हैं ही नहीं, अंतर में रागादिभाव होते हैं, वे भी मेरे नहीं हैं; किन्तु द्रव्यदृष्टि के बल से मुझे जो निर्मलपर्याय प्रकट हुई है, उसकी भी मुझे कोई विशेषता नहीं है। मेरा द्रव्यस्वभाव तो अगाध......अगाध है, उसके समक्ष निर्मलपर्याय की क्या विशेषता! दया-दान-भक्ति आदि के शुभ राग की तो क्या बात, किन्तु अनन्त शक्तिमय अगाध चैतन्यस्वभाव के निकट प्रकट हुई निर्मलपर्याय की भी विशेषता नहीं है। ऐसी द्रव्यदृष्टि कब प्रकट होती है ? कि चैतन्य की अपार-अपार महिमा लाकर, निमित्त से, राग से, पर्याय से – सबसे विमुख होकर अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हो, तब प्रकट होती है।

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२५

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-६

अब, ज्ञान-दर्शन दोनों उपयोगों के व्याख्यान का नयविभाग से उपसंहार करते हैं :-

अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुणं दंसणं णाणं॥६॥

अष्टचतुर्ज्ञानदर्शने सामान्यं जीवलक्षणं भणितम्।
व्यवहारात् शुद्धनयात् शुद्धं पुनः दर्शनं ज्ञानम्॥६॥

सामान्यतः चउ-आठ दर्शन-ज्ञान जिय लक्षण कहे।
व्यवहार से पर शुद्धनय से शुद्धदर्शन-ज्ञान हैं॥६॥

गाथार्थ :- व्यवहारनय से आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन - यह सामान्यरूप से जीव का लक्षण कहा है। शुद्धनय की अपेक्षा से शुद्ध ज्ञान-दर्शन को जीव का लक्षण कहा है।

टीका :- **अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं** आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन को सामान्यरूप से जीव का लक्षण कहा है। यहाँ सामान्य- इस कथन का क्या अर्थ है ? यह अर्थ है कि इस लक्षण में संसारीजीव अथवा मुक्तजीव की विवक्षा नहीं है अथवा शुद्ध या अशुद्ध ज्ञान-दर्शन की विवक्षा नहीं है। ऐसा अर्थ किस प्रकार? विवक्षा का अभाव - यह सामान्य का लक्षण है - ऐसा वचन होने से।

किस अपेक्षा से जीव का लक्षण कहा है? **ववहारा** व्यवहार से-व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा है। यहाँ केवलज्ञान-दर्शन के प्रति शुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य अनुपचरितसद्भूत व्यवहार है, छद्मस्थ के अपूर्ण ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से अशुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य उपचरित सद्भूत व्यवहार है और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि - इन तीन ज्ञानों में उपचरित असद्भूत व्यवहार है।

सुद्धणया सुद्धं पुणं दंसणं णाणं शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध अखंड केवलज्ञान और केवलदर्शन - ये दोनों जीव का लक्षण हैं।

यहाँ ज्ञान-दर्शन उपयोग की विवक्षा में 'उपयोग' शब्द का अर्थ विवक्षित पदार्थ को जानना-देखना जिसका लक्षण है - ऐसा पदार्थ का ग्रहण रूप व्यापार ऐसा होता है,

परन्तु शुभ, अशुभ और शुद्ध – इन तीन उपयोगों की विवक्षा में 'उपयोग' शब्द का अर्थ शुभ, अशुभ अथवा शुद्ध भावना जिसका एक रूप है – ऐसा अनुष्ठान समझना। यहाँ सहज शुद्ध निर्विकार परमानन्द जिसका एक लक्षण (स्वरूप) है – ऐसा जो साक्षात् उपादेयभूत अक्षय सुख, उसका उपादानकारण होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन – ये दोनों उपादेय हैं।

इसप्रकार नैयायिक के प्रति गुण-गुणी भेद के एकान्त का निराकरण करने के लिए उपयोग के व्याख्यान द्वारा तीन गाथायें पूर्ण हुईं॥६॥

गाथा ६ पर प्रवचन

अब ज्ञान तथा दर्शन दोनों गुणों के उपयोग को नयविभाग से कहते हैं। पहिले दूसरी गाथा में केवलज्ञान-दर्शन को द्रव्य से अभेद कहकर द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा था। यहाँ उसी के केवलज्ञान-दर्शन को भेद-अपेक्षा से व्यवहारनय का विषय कहते हैं।

आठप्रकार के ज्ञान, चार प्रकार के दर्शन का धारक जीव है। यह व्यवहारनय से सामान्य (भेदरहित) जीव का लक्षण है। यहाँ तीन कुज्ञान को भी जीव का लक्षण कहा है, कारण कि वह जीव की अवस्था है और शुद्धनय से शुद्धज्ञान-दर्शन को जीव का लक्षण सर्वज्ञदेव ने कहा है।

जैसे तम्बू खड़ा है, उसकी एक कील (खूँटी) ढीली हो तो सारा तम्बू एक सरीखा नहीं रहता, वैसे अनन्तगुण का पिण्ड अखंड आत्मा है; उसके गुण-पर्यायों का स्वरूप जिस प्रकार परिपूर्ण है, उसप्रकार स्वीकार न करें, न जानें तो उसमें विरोध रहेगा; श्रद्धा बराबर नहीं होगी।

आठ प्रकार के ज्ञान, चार प्रकार के दर्शन हैं; उसको सामान्य रूप से जीव का लक्षण कहा है। इस लक्षण में संसारी तथा मुक्त जीव के भेद की अपेक्षा कहना योग्य नहीं अथवा शुद्ध-अशुद्ध उपयोग की व्याख्या नहीं की है। एकान्त भेद अथवा अभेद नहीं है, किन्तु त्रिकाली गुण से अभेद और वर्तमान पर्याय से भेदपना है।

यहाँ जीवद्रव्य के उपयोगमयी अधिकार का वर्णन चलता है। ज्ञानगुण की सम्यग्ज्ञानरूप मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल ये पाँच अवस्थायें हैं। कुमति, कुश्रुत,

कुअवधि - ये मिथ्याज्ञान हैं - ऐसे त्रिकाली ज्ञानगुण की आठ अवस्थायें हैं और दर्शनगुण की चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन ये चार - इसप्रकार बारह प्रकार की पर्यायें हैं। वह आत्मा के ज्ञान-दर्शनगुण की स्वतंत्रदशा-अवस्था है। उस भेद को व्यवहार जानो और अंशी-अभेद को निश्चय जानो। सम्यक्-श्रुतज्ञान प्रमाण है। उसके निश्चय और व्यवहार दो पहलू हैं। त्रिकाल को विषय करे, वह निश्चय और पर्याय को-अंश को, भेद को विषय करे, वह व्यवहार है।

चैतन्य का उपयोग बारह प्रकार का है। उसमें ज्ञानी के साधकदशा में मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय तथा चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शन - ये सात उपयोग होते हैं। मिथ्यादृष्टि को कुमति, कुश्रुत, कुअवधिज्ञान तथा चक्षु, अचक्षुदर्शन होते हैं। बारह प्रकार के उपयोग भेद हैं, इसलिए व्यवहारनय का विषय है।

(१) केवलज्ञान, केवलदर्शन शुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य (कहने योग्य) अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय का विषय है, इसलिए वह निश्चयनय से आदरणीय नहीं है। आदर योग्य तो त्रिकाल स्वभाव है। आत्मस्वभाव से पूर्ण शुद्धपर्याय प्रकट हुई, उसको अनुपचरित कहा; क्योंकि उसका सम्बन्ध प्रकट होने के बाद कभी छूटता नहीं है। यह आरोप नहीं है, किन्तु प्रकट होने के बाद नित्य सम्बन्ध रहता है; इसलिए अनुपचरित है। स्वभाव से प्रकट होता है और शुद्धरूप स्वयं का अंश है, इसलिए असद्भूत है और भेद है, इसलिए व्यवहार है।

(२) छद्मस्थ को (अल्पज्ञ साधक जीव को) अपूर्ण ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से चार ज्ञान की और तीन दर्शन की - ऐसी सात पर्यायें, वह अशुद्धसद्भूत शब्द से वाच्य उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। अपूर्ण है, इसलिए अशुद्ध है और दूर हो जाता है, इससे उपचरित है। वास्तव में स्वयं का अंश है, इसलिए सद्भूत है और वर्तमान भेद है, इसलिए व्यवहार है।

(३) अज्ञानी को कुमति, कुश्रुत, कुअवधिज्ञान तथा चक्षु, अचक्षुदर्शन - ये पाँच उपयोग हैं। अज्ञानी को नयज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती, लेकिन ज्ञानी उसको जानता है। उसके पाँच भेद उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का विषय हैं। अशुद्ध है और चला जाता है - टल जाता है, इसलिए उपचरित है। स्वभाव नहीं है, इसलिए असद्भूत है और

भेद है, इसलिए व्यवहार है। मूलसूत्र में एक व्यवहार शब्द मौजूद है, उसके सद्भूत अनुपचार, सद्भूत उपचार, असद्भूत उपचार – टीकाकार ने ऐसे तीन भेद किये हैं।

आचार्य ने सूत्र में एक शब्द लिखा हो, लेकिन भाव में अधिक गूढ़ महान अर्थ का विस्तार होता है। जैसे किसी बड़े व्यापारी ने पृथक् कागज में (बही खाते में नहीं) आढ़तिया पर डेढ़ पंक्ति में लिखा हो, चैत्र शुक्ला पंचमी को वायदा रु. ५३० के भाव से एक लाख रुई की गाँठें लेना, तो इतने पर से दोनों व्यापारियों की पूँजी, विश्वास, साहस, हिम्मत आदि का ख्याल आ सकता है। वैसे सर्वज्ञ-कथित आगम को जाननेवाले आचार्य भगवान थोड़ा लिखें, उसमें टीकाकार विशेष भाव निकालते हैं। उपर्युक्त बारह प्रकार के भेद व्यवहारनय का विषय हैं। अब शुद्ध निश्चयनय से देखो तो सामान्य ध्रुव शुद्ध अखंड केवल (मात्र) ज्ञान तथा दर्शन – ये दोनों जीव के लक्षण हैं।

कोई पूछे कि इसमें धर्म कहाँ से आया? तो कहते हैं कि बारह प्रकार के उपयोग की स्वतंत्रता समझे कि वह भेद है, इसलिये व्यवहार है; अतएव हेय है, ऐसा समझे और त्रिकाल परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, वही उपादेय है – ऐसा समझे, तो धर्म होता है।

जैसे आम है, उसका रंग-गुण कायम रहता है। उसके हरे रंग में से पीली अवस्था होती है, वह अनित्य पर्याय है; उत्पाद-व्ययरूप है। उसीप्रकार आत्मा अनन्तगुण का पिण्ड है, उसमें त्रिकाल एकरूप रहनेवाले ज्ञान-दर्शन आदि गुण हैं। उनकी बारह प्रकार की पर्यायें वे बारह प्रकार भेद हैं, इससे वह व्यवहार है। निश्चय से तो त्रिकाल एकरूप ज्ञान-दर्शन स्वभाव – यह जीव का लक्षण है – ऐसा स्वभाव इस समय भी उपादेय मानकर उसमें एकाग्रता करे तो धर्म होता है।

यहाँ आत्मा के ज्ञान-दर्शन के बारह प्रकार उपयोग के वर्णन में उपयोग शब्द से कहने योग्य बात क्या है? उस उपयोग द्वारा स्व-परपदार्थों के ज्ञानरूप वस्तु को जानने-देखने रूप प्रवृत्ति का ग्रहण किया हुआ है। उसमें आचरण, अनुष्ठान, चारित्र गुण की बात नहीं है। यहाँ स्व-पर को जानना-देखना उपयोग शब्द का वाच्य भाव है और दयादिरूप शुभभाव, हिंसादिरूप अशुभभाव तथा शुभाशुभ रहित शुद्ध – इन तीन उपयोग की विवक्षा में तो उपयोग शब्द से शुभ-अशुभ तथा शुद्ध भावों का ग्रहण जानना। शुभ-

अशुभ राग में रहना, वह अशुद्ध आचरण है; सामने वाला जीव जिये अथवा मरे इसमें शुभ-अशुभ नहीं है, किन्तु जिलाने-मारने आदि का जैसा भाव, उसी अनुसार पुण्य-पापमय अशुद्ध उपयोग है और वह चारित्र गुण की विकारी अवस्था है। जीव स्वतन्त्ररूप से उसे करे तो वह (उपयोग) होता है, कोई कराता नहीं है।

शुभाशुभ आचरणरूप अशुद्ध उपयोगरहित त्रिकाली शुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव की शुद्ध श्रद्धापूर्वक जितने अंश में वीतरागदशा हुई, वह शुद्धोपयोग है। ये तीनों उपयोग आचरणरूप हैं। जैसे चने में स्वाद भरा हुआ है उसके तो अन्दर में जो स्वाद शक्तिरूप से था, वह प्रकट हुआ है। वैसे आत्मा में पूर्ण ज्ञान-आनन्द शक्ति त्रिकाल है, उसको पहिचानकर उपादेयरूप से अंगीकार कर उसमें एकाग्र होवे तो पूर्ण सहजानन्ददशा प्रकट होती है। जिसको स्वाद चाहिए हो तो उसके अन्दर जो स्वयं का त्रिकाल पूर्ण ज्ञान-दर्शनस्वभाव है, उसको ही उपादेय मानना चाहिए, वही सच्चे सुख का कारण है।

प्रत्येक पदार्थ नित्य स्वयं की योग्यता से स्थिर रहकर पर्यायरूप से परिवर्तन करने के स्वभाववाला है। आत्मा भी नित्य होने से ज्ञानादि अनन्त गुणरूप है, उसकी शक्ति नित्य है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकाग्र हो तो अल्पज्ञान और रागादि मिटकर परिपूर्ण स्वभाव दशा प्रकट होती है। किसी निमित्त से हो, ऐसा माने तो कोई वस्तु स्वतंत्र नहीं रहती।

आत्मा स्वयं, स्वयं का शुद्ध उपादान कारण होने से केवलज्ञान-केवलदर्शनरूप स्वयं होता है, उस अखंड उपयोग को उपादेय कहा है। निश्चय से त्रिकाल अनन्तगुण का पिण्डरूप शुद्ध आत्मद्रव्य है, वही उपादेय है - ऐसा नियम होने से नैयायिकमती कि जो गुण-गुणी, ज्ञान और आत्मा दोनों का एकांत से भेद कहते हैं, उसका निराकरण होता है। ऐसा नित्य स्वतंत्र स्वभाव यथार्थरूप से माने बिना, सत्य धर्म का विचार भी नहीं आता। ❑❑❑

परद्रव्य को और आत्मा को अत्यंत अभाव है, व्यवहारनीति के वचन में आता है; परन्तु अध्यात्मदृष्टि से तो विकार का आत्मा में अत्यंत अभाव है। चैतन्यपिण्ड विकार से भिन्न अकेला पृथक् ही पड़ा है, उसे देख! जिसप्रकार तेल पानी के प्रवाह में ऊपर-ऊपर ही तैरता है, पानी की गहराई में प्रवेश नहीं करता, उसीप्रकार चैतन्य के प्रवाह में ऊपर-ऊपर ही तैरता है, चैतन्य की गहराई में प्रविष्ट नहीं होता। - ***द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२४***

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-७

अब, अमूर्त अतीन्द्रिय निज आत्मद्रव्य के ज्ञान से रहित होने से और मूर्त पंचेन्द्रिय के विषय में आसक्त होने से जो मूर्त कर्म उपार्जित किया है, उसके उदय से व्यवहार से जीव मूर्त है तो भी निश्चयनय से जीव अमूर्त है - ऐसा उपदेश करते हैं:-

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥७॥
वर्णाः रसाः पंच गन्धौ द्वौ स्पर्शाः अष्टौ निश्चयात् जीवे।
नो सन्ति अमूर्त्तिः ततः व्यवहारात् मूर्तिः बन्धतः ॥७॥
स्पर्श रस गंध वर्ण जिय में नहीं हैं परमार्थ से।
अतः जीव अमूर्त मूर्तिक बंध से व्यवहार से ॥७॥

गाथार्थ :- निश्चय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं हैं; अत: जीव अमूर्तिक है, व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्मबंध होने से जीव मूर्तिक है।

टीका :- **वण्ण रस पञ्च गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे णो संति** श्वेत, पीत, नील, लाल और कृष्ण - ये पाँच रङ्ग, चरपरा, कड़वा, कषायला, खट्टा और मधुर - ये पाँच रस, सुगंध और दुर्गंध - ये दो गंध, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, कोमल, कठोर, हल्का और भारी - ये आठ स्पर्श, **णिच्छया** शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाववाले शुद्ध जीव में नहीं है। **अमुत्ति तदो** इस कारण यह जीव अमूर्त है। यदि जीव अमूर्तिक है तो उसे कर्मबंध किस प्रकार होता है? **ववहारा मुत्ति** क्योंकि जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से मूर्त है, अत: (कर्मबंध होता है)। जीव मूर्त किस कारण से है? **बंधादो** अनंत ज्ञानादि की उपलब्धि जिसका लक्षण है - ऐसे मोक्ष से विलक्षण अनादि कर्मबंधन के कारण जीव मूर्त है। तथा अन्यत्र जीव का लक्षण कथंचित् मूर्त और कथंचित् अमूर्त कहा है, वह इसप्रकार कर्मबंध प्रति जीव की एकता है और लक्षण से उसकी भिन्नता है; अत: एकांत से जीव को अमूर्तिकपना नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिस अमूर्त आत्मा की प्राप्ति के बिना अनादि संसार में इस जीव ने भ्रमण किया है; उसी अमूर्तिक आत्मा का, मूर्त पंचेन्द्रिय के विषयों के त्याग द्वारा निरन्तर ध्यान करना चाहिए। इसप्रकार भट्ट और चार्वाक मत के प्रति अमूर्त जीव की स्थापना की, मुख्यता से सूत्र कहा ॥७॥

गाथा ७ पर प्रवचन

अब आत्मा अमूर्त्त है, उसका वर्णन करते हैं। आत्मा अमूर्त्त अर्थात् स्पर्श, रस, गंध वर्ण रहित है तथा अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों से नहीं जाना जाता – ऐसा है। उसका यथार्थ (सत्य) ज्ञान, वह मोक्ष का कारण है। मूर्त्त जो पाँच इन्द्रियाँ और उनके शब्दादि विषय हैं, उनसे रहित आत्मा है। निंदा-प्रशंसा के शब्द भी जड़ हैं। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श को अज्ञानी भला-बुरा मानकर उनसे रागी-द्वेषी होता है और वह बाह्य विषयों में सुख मानता है।

ज्ञानी समकिती छह खंड का स्वामी हो, अनेक प्रकार से पुण्य का ठाठ हो तो भी उसको अल्प आसक्ति है। वह परसंयोगों से राग-द्वेष अथवा सुख-दुःख नहीं मानता। मेरी शान्ति और सुख मेरे अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वभाव में है – ऐसी मान्यता होने से उसको विषयों में जरा भी रुचि नहीं। ज्ञानी की दृष्टि मन-इन्द्रियों से पार, पूर्णानन्द चैतन्य पर है; वह स्वभाव को भी कभी छोड़ता नहीं, संयोग के कारण से आसक्ति नहीं मानता। अज्ञानी वर्तमान संयोग, विकार में रुचिवान है। उसको शब्दादि विषयों में मनोज्ञता प्रतिभासित होती है, उसमें वह समर्पित हो जाता है और पर से राग-द्वेष लाभ-हानि मानता है।

कर्म जड़ है, उसका उदय होने से, उसका निमित्तपना अज्ञानी की दृष्टि में होने से, मूर्त्तपने की प्रतीति होने से, अज्ञानी को व्यवहारनय से मूर्तिक कहा है। निश्चय से तो आत्मा कथन करने में आता है।

निश्चय से वस्तुस्थिति से देखो तो जीव में वर्णादि नहीं हैं अर्थात् पाँच प्रकार के वर्ण जीव की पर्याय नहीं है। रसगुण पुद्गल में है, उसकी पर्यायें हैं, वे जीव में नहीं हैं। गंधगुण और उसकी दो पर्यायें, स्पर्शगुण और उसकी आठ पर्यायें जीव में नहीं हैं; इसलिए जीव अमूर्त है और बंधन-संयोग के उपचार की अपेक्षा से व्यवहार से जीव मूर्त कहा जाता है।

शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावधारी जो शुद्ध जीव है – वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, उसके नहीं हैं। व्यवहार से भी जीव मूर्त नहीं होता, मूर्त है – ऐसा मात्र बोला जाता-कहा जाता है। इस हेतु से यह जीव सदा अमूर्त है। खट्टा तो नीबू है, मैं खट्टा

हो गया – ऐसा नहीं होता। खट्टी वस्तु ज्ञान में प्रवेश नहीं होती। ज्ञान ज्ञानरूप में रहकर उसको जानता है – ऐसा उसका स्वभाव है। आत्मा सदा अमूर्त अतीन्द्रिय ज्ञानमात्रस्वभावी है। लेकिन स्वभाव को भूलकर अज्ञानी मानता है कि मुझे, सुकोमल स्पर्श हुआ है, यह मुझे ठीक (अच्छा) लगता है – इत्यादि प्रकार से वह विपरीत मान्यता करता है।

शंका – यदि जीव अमूर्त्तिक है तो मूर्त्तिकपने से रहित जीव को मूर्त्तिक कर्म का बंध क्यों होता है?

उत्तर – **'ववहार मुत्ति'** यद्यपि जीव अमूर्त्तिक ही है, तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से मूर्त्त है और इससे बंध होता है।

कर्म–नोकर्म का निकट संबंध है; इसलिए अनुपचरित, यह स्वयं का स्वरूप नहीं है, दूर हो जाता है इसलिए असुद्भूत, निमित्त है और भेद होता है इसलिए व्यवहार – इस नय की अपेक्षा से आत्मा मूर्त है, इसलिए कर्म बंध होता है।

शंका – यह मूर्त्त किस कारण से है?

उत्तर – अनंतज्ञानादि शक्ति की पूर्ण शुद्धता रूप से प्रकटदशा (पर्याय) की प्राप्ति वह मोक्ष है। इससे विपरीत अनादि कर्म बंध से मूर्त्त कहने में आता है। जैसे कोई लड़के से कहे कि तू तो अच्छा था, लेकिन नीच की संगति से तू चोर हो गया। अपराध तो उसी का था, लेकिन सुधारने के लिए पहले कुलीनता का ज्ञान कराया जाता है। इसीतरह तू सिद्ध परमात्मा जैसा है, लेकिन कर्म बंध से तू बाँधा गया है, इससे मूर्त्त है – ऐसा कहा है। बंधन के लक्षण की अपेक्षा से बंधन के प्रति जीव की एकता है। निश्चय से स्वलक्षण से देखो तो जीव को अमूर्त्तत्व कायम है। यहाँ तात्पर्य ऐसा है कि अमूर्त्त शुद्धात्मा के भान बिना ही जीव ने अनादि से भ्रमण किया है।

अब यह कहते हैं कि इस अमूर्त शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव में एकाग्रदृष्टि कर स्वसन्मुखता में जागृत होवो, जिससे पाँच इन्द्रियों के विषयों के प्रति के राग का त्याग हो जाता है। प्रतिमा के दर्शन करना, भगवान की वाणी सुनना – यह भी शुभराग का विषय है। अपने सिवाय सब पर है, अतएव त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव साक्षात् देखने को मिलें तो वे भी पर हैं और उनके प्रति के झुकाव में राग होता है। अन्तरस्वभाव के अवलम्बन में कोई

पर सहायक नहीं है। यहाँ इन्द्रियों के विषय छोड़ने के लिए कहा है, वह तो निमित्त से कथन किया है।

अहो! अतीन्द्रिय ज्ञाता स्वभाव है, उसको भूलकर शब्दादि में रुकना, वह सब राग का विषय है। द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता जाने बगैर ज्ञान में यथार्थता नहीं आती। प्रथम दृष्टि में स्वतंत्र स्वभाव के झुकाव द्वारा पराश्रय की दृष्टि छूट जाये और फिर अन्दर ज्ञातारूप से एकाग्र हो, वह ध्यान है – ऐसे ज्ञान में अपूर्व शांति का साक्षात्कार होता है।

इसप्रकार इस गाथा द्वारा जीव को वास्तविक स्वरूप से सदा अमूर्त्तिक कहकर भट्ट और चार्वाक मत वाले जीव जो कि जीव को मूर्त्त मानते हैं, उनका निषेध किया।

'घी का घड़ा' घी के संयोग से व्यवहार से कहा जाता है, लेकिन इससे घड़ा घी का नहीं हो जाता। उसीप्रकार भगवान आत्मा सदा अमूर्तिक ही है, मूर्तिक नहीं हो जाता।

❑❑❑

समस्त पर्यायें नष्ट होने योग्य हैं

कोई भी पर्याय हो, चाहे तो केवलज्ञान या मोक्ष की पर्याय हो, किन्तु उसका काल एक समय का होने से वह नष्ट होने योग्य है। समस्त पर्यायें नष्ट होने योग्य हैं। संवर की पर्याय हो, वह भी नष्ट होने योग्य है; क्योंकि एक समय की है न। उस अपेक्षा से नष्ट होने योग्य है और त्रैकालिक तत्त्व तो जैसा है, वैसा ही सदा रहता है; इसलिए समस्त नाशवान भावों से ध्रुव सामान्य वस्तु दूर है, भिन्न है। दूर अर्थात् सह्याचल और विन्ध्याचल पर्वतों की भाँति भिन्न-भिन्न क्षेत्र है – ऐसा नहीं, परन्तु पर्याय में ध्रुव नहीं है और ध्रुव में पर्याय नहीं है। इसलिए नाशवान भावों से ध्रुव सामान्य वस्तु दूर है।

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-५२

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-८

अब निष्क्रिय, अमूर्त टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकस्वभाव से जीव यद्यपि कर्मादि के कर्तृत्व से रहित है तो भी व्यवहारादि नय-विभाग से कर्ता होता है – इसप्रकार कहते हैं:-

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं॥८॥

पुद्गलकर्म्मादीनां कर्त्ता व्यवहारतः तु निश्चयतः।
चेतनकर्म्मणां आत्मा शुद्धनयात् शुद्धभावानाम्॥८॥

चिद्कर्मकर्त्ता नियत से द्रवकर्म का व्यवहार से।
शुधभाव का कर्त्ता कहा है आतमा परमार्थ से॥८॥

गाथार्थ :- आत्मा व्यवहारनय से पुद्गलकर्मादि का कर्ता है, निश्चयनय से चेतन कर्मों का कर्ता है और शुद्धनय से शुद्धभावों का कर्ता है।

टीका :- इस सूत्र में भिन्न प्रक्रमरूप व्यवहित संबंध से मध्यमपद लेकर व्याख्यान किया जाता है। **आदा** आत्मा **पुग्गलकम्मादीणं कत्तावबहारदो दु** व्यवहारनय से पुद्गलकर्मादि का कर्ता है। जैसे कि – मन-वचन-काय-व्यापार क्रिया रहित निज शुद्धात्मतत्त्व की भावना से शून्य होकर, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का तथा आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक – इन तीन शरीरों का, आहारादि छह पर्याप्तियोग्य पुद्गलपिंडरूप नोकर्मों का और उपचरित असद्भूतव्यवहार से घट-पटादि बहिर्विषयों का भी कर्ता (यह जीव) होता है।

णिच्छयदो चेदणकम्माणादा निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा चेतनकर्मों का कर्ता है। वह इसप्रकार – रागादि विकल्परूप उपाधिरहित, निष्क्रिय परमचैतन्य की भावना से रहित होने से जीव ने रागादि को उत्पन्न करनेवाला जो कर्म उपार्जित किया है, उसका उदय होने पर, निष्क्रिय, निर्मल स्वसंवित्ति को नहीं प्राप्त करता हुआ जीव, भावकर्म शब्द से वाच्य रागादि विकल्परूप चेतनकर्मों का अशुद्ध निश्चयनय से कर्ता होता है। अशुद्ध निश्चयनय का अर्थ कहा जाता है:- कर्मोपाधि से उत्पन्न हुआ होने से अशुद्ध कहलाता है और उससमय तपे हुए लोहखण्ड के गोले के समान तन्मय होने से निश्चय कहलाता है। इसप्रकार अशुद्ध और निश्चय इन दोनों का मिलाप करके अशुद्ध निश्चय

कहा जाता है। **सुद्धणया सुद्धभावाणं** जब जीव, शुभ-अशुभरूप तीन योग (मन, वचन, काया) के व्यापार से रहित, शुद्ध-बुद्ध - ऐसे एकस्वभाव रूप से परिणमन करता है, तब अनंत ज्ञान-सुखादि शुद्धभावों का छद्मस्थ अवस्था में भावना रूप से, विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से कर्ता है और मुक्त-अवस्था में शुद्धनय से अनंत ज्ञान-सुखादि शुद्ध भावों का कर्ता है।

परन्तु परिणमित होते हुए शुद्ध-अशुद्ध भावों का ही कर्तापना जीव में जानना, हस्तादि के व्यापाररूप (पुद्गल-परिणामों) का नहीं।

नित्य-निरंजन-निष्क्रिय निजात्मस्वरूप की भावना रहित जीव को कर्मादि का कर्तृत्व कहा है, अत: उस निज शुद्धात्मा में ही भावना करना।

इसप्रकार सांख्यमत के प्रति एकांत अकर्तृत्व का (जीव के एकांत से अकर्ता होने का) निराकरण करने की मुख्यता से गाथा पूर्ण हुई॥८॥

गाथा ८ पर प्रवचन

जीव के नौ अधिकारों में से चौथा अधिकार 'कर्त्ता' का है। आत्मा अक्रिय (क्रियारहित) है, देहादि पर की कोई क्रिया नहीं कर सकता। त्रिकाल निर्विकार स्वभावदृष्टि से क्षणिक विकार का भी अकर्ता है; परन्तु स्वाश्रयी निर्विकारदशा स्वयं उत्पन्न करता है - इस अपेक्षा से आत्मा सक्रिय भी है।

आत्मा कैसा है ? नित्य अमूर्त स्वभाववाला है, टंकोत्कीर्ण है। संसार एकसमय का ही है, उस अनित्य वर्तमान अंश को लक्ष्य में न लो और जो ज्ञानमात्र त्रिकाल ध्रुवस्वभाव है, उस दृष्टि से देखो तो यह आत्मा सदा एकरूप चिदानन्द टंकोत्कीर्ण है। वस्तुव्यवस्था त्रिकाल ज्ञायक है। वह कर्म और राग को निमित्तरूप होनेवाला नहीं है। निर्मल असंयोगी अमूर्तिक अकर्ता है; परन्तु व्यवहार आदि अशुद्धनय की अपेक्षा से कर्त्ता होता है।

आत्मा व्यवहार से पुद्गलकर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय से चेतनकर्म का कर्त्ता है और शुद्धनय से शुद्धभावों का कर्त्ता है।

आत्मा व्यवहार से पुद्गलकर्म आदि का कर्त्ता है। कर्म बाँधने में जीव के विकार का निमित्तपना है, इसलिए उपचार से कर्मों का कर्त्ता कहा है। विकारी पर्यायरूप से

जीव परिणमता है। अतएव अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से विकार का कर्त्ता है और शुद्धनय से तो जीव वीतरागी शुद्धभावों का कर्त्ता है। निश्चय से पुद्गलकर्म की दशा का कर्त्ता तो उसके परमाणुद्रव्य हैं। वहाँ व्यवहार से जीव का उस काल में रागभाव निमित्त है, इससे उसका कर्त्ता जीव है - ऐसा उपचार से कहा जाता है।

विकार की उपस्थिति है, वह नूतन कर्म में निमित्त है। व्यवहार से कर्त्ता कहा अर्थात् निश्चय से उसका कर्त्ता नहीं है, किन्तु अपने भाव का कर्त्ता है। मन-वचन-काय की क्रिया - चलना, बोलना, लेना, रखना - यह जड़ की स्वतंत्र क्रिया है। विकार से भी रहित त्रिकाल निर्मल ज्ञायकस्वभावी हूँ - ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि को है। इसलिए वह जड़कर्म बँधे उसमें और पुण्य-पाप का विकार हो, उसमें (वह समकिती) निमित्त भी नहीं है। पुण्य-पापतत्त्व शुद्ध आत्मतत्त्व नहीं हैं। शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना में शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-वीतरागी परिणाम लेना चाहिए। अज्ञानी ऐसी स्वभाव भावना से रहित है, वह कर्म और विकार को निमित्त होता है। मैं निमित्त कर्त्ता तो हूँ - ऐसा वह मानता है।

चैतन्यस्वभाव को भूला हुआ विकारकर्म की भावना वाला कर्त्तापने की भावना करता है। ज्ञानी को ऐसी भावना नहीं होती। मैं तो त्रिकाल ज्ञायक हूँ, मैं क्षणिक विकाररूप होनेवाला नहीं - ऐसा ज्ञानी एक ज्ञानानन्द की रुचिवाला है। अज्ञानी पर्याय की रुचिवाला है अर्थात् त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक की अरुचिवाला है। उसको विकार की मुख्यता और भावना रहती है; इससे अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है।

- कर्मादि नजदीक एक क्षेत्रावगाही संबंधरूप है, इसलिए अनुपचरित,
- आत्मा नहीं है, इसलिए असद्भूत और
- निमित्त तथा भेद है, इसलिए व्यवहार है।

ज्ञानी को पूर्ण स्वभाव की सतत रुचि है। इससे वह ज्ञान-दर्शन-वीर्य स्थिरता की अधिकता से वर्तनेवाला होने से अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से भी कर्मादि का कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी को अन्तर्मुखी ज्ञान की ओर झुकाव है, वही मुख्य है। अज्ञानी को बहिर्मुखी झुकाव है, वह इच्छा किया करता है। मैं निमित्त हूँ तो पर का कार्य होता है, इसप्रकार निमित्त - कर्त्ता की भावना किये बिना वह नहीं रहता; क्योंकि उसको

अविकारी चैतन्य की रुचि नहीं होती। जिसको संयोग और विकार की रुचि है, उसको ज्ञातापाना भी नहीं रुचता। इसलिए मैं औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर तथा आहार आदि छह पर्याप्तियोग्य परमाणु जो कि नामकर्म कहे जाते हैं, उनका कर्त्ता हूँ – ऐसा अज्ञानी मानता है। इसलिए उसको व्यवहार से कर्त्ता है।

आहारक शरीर की लब्धिवाले तो ज्ञानी मुनि होते हैं, वे तो कभी उसमें कर्त्तापने नहीं मानते। अज्ञानी संयोग को देखकर इच्छा में रुकता या ठहरता है। ज्ञानी संयोग और राग को जानता है, लेकिन उसका कर्त्ता नहीं होता। बाह्य स्थित घड़ा इत्यादि का कर्त्ता जीव को कहना, वह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से है। रोटी, घट, वस्त्रादि की पर्याय उनसे होती है; लेकिन उस समय स्त्री, कुम्हार अथवा जुलाहा को योग का कम्पन और इच्छा है, उसका निमित्त मानकर उसको उपचरित असद्भूत व्यवहार से कर्त्ता कहा जाता है। वस्तुतः वह कर्त्ता नहीं है।

- घट-पट आदि वस्तु क्षेत्र से दूरवर्ती हैं; इसलिए उपचरित,
- वह वस्तु आत्मा नहीं; इसलिए असद्भूत और
- परनिमित्त का बतानेवाला भेद का कथन है, इसलिए व्यवहार है।

इसप्रकार कर्त्ता का उपचार है। व्यवहार से कर्त्ता कहा, वहाँ यथार्थ में कर्त्ता नहीं है – ऐसा उसमें आ जाता है, समावेश होता है। लेकिन कार्य होता है, तब उसमें कौन निमित्त है, उसका ज्ञान कराया है। परन्तु उस निमित्त का ज्ञान किया कब कहा जाता है? कि चैतन्य स्वभाव का मुख्यपना (मुख्यता) है, उसको निमित्त का यथार्थज्ञान होता है। परवस्तु अपने कारण से अपने काल में परिणमित होती है, उसमें जीव का कर्त्तापना मानना तो अज्ञान है – ऐसा जानकर मात्र एक ज्ञानस्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान-तन्मयता की भावना करने का नाम धर्म है।

जीव कर्त्ता है, यह अधिकार चलता है। संसार में कोई वस्तु का कर्त्ता ईश्वर आदि है – ऐसा मानना मिथ्या है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु नित्य सत् होने से स्वयं के आधार से स्थित रहकर स्वयं की अवस्थारूपी कार्य को करती है। परसत्ता में किसी का कोई कार्य नहीं है। राग-द्वेष-मोह आदि अरूपी विकार, यह रागी जीव का भावकर्म है। ज्ञानावरणादि आठ कर्म को जड़ कहते हैं। जीव राग करे, उसमें वह अन्तरंग निमित्त

है और बाह्य में शरीरादि नोकर्म निमित्त हैं। जड़कर्म की सत्ता जीव से त्रिकाल भिन्न है। जड़कर्म और शरीरादि रूप से परमाणु परिणमित होते हैं, उनको जीव नहीं परिणमाता, लेकिन वे परिणमित होते हैं; उसमें जीव का राग निमित्त है। इसलिए जीव को व्यवहार से उनका कर्त्ता कहा जाता है, यह बात आ गई।

अशुद्ध निश्चय की अपेक्षा से आत्मा में चेतन कर्मों (कार्य) – दया, दान, व्रत, हास्य, क्रोध आदि भावरूपी कर्मों का कर्त्ता है। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से राग आदि का कर्त्ता नहीं है, लेकिन वर्त्तमान में जीव स्वयं रागरूप परिणमित होता है। जड़कर्म निमित्त है, इसलिए रागादि होते हैं – ऐसा नहीं लिया है, इसलिए पाठ में (गाथा में) कहा है कि '**णिच्चयणयदो चेदणकम्माणादा**' जीव स्वयं के अस्तित्व में – पर्याय में रागादि करता है।

आत्मा कैसा है? वस्तुस्वरूप से तो शुद्ध है। ध्रुव नित्यानंद आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है। वह तो संसार अर्थात् विकृतदशा, मिथ्यात्व वासना, रागादि विकल्परूप उपाधि, उनसे रहित निष्क्रिय है – ऐसे स्वयं के अक्रिय ज्ञानानन्द आत्मा का जिसको भान नहीं है – ऐसा जीव रागादि उत्पन्न करनेवाले कर्मों का उपार्जन करता है अर्थात् चैतन्यस्वभाव को चूककर विकार की रुचि के पराश्रय करनेवाले को राग की उत्पत्ति होती है। कर्म रागादि भूल कराते हैं – ऐसा नहीं है, किन्तु स्वभाव को भूलकर परावलंबी झुकाव करता है तो रागरूप परिणमित होता है, वहाँ कर्म निमित्त है।

शक्तिरूप से तो प्रत्येक आत्मा इस समय भी शुद्ध ही है, उसको भूलकर वर्तमान में रुचि करता है तो शुभ-अशुभ रागादिरूप चेतनकर्म-भावकर्म हैं, उसका अशुद्ध निश्चयनय से कर्त्ता होता है। पूजा, भक्ति, दान, दया व्रतादि परिणाम, वे शुभभाव हैं। हिंसा, काम, क्रोधादि अशुभभाव हैं। उनका मैं कर्त्ता हूँ, उस रूप से मैं होनेवाला हूँ, ऐसा अनादि से पर्यायबुद्धिवाला अज्ञानी जीव मानता है। क्या करें ? पूर्व के तीव्र कर्म ऐसे उदय में आये कि हैरान परेशान हो गये। ये 'कर्म भोगना पड़ते हैं' ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु यह बात गलत है। वस्तु का स्वरूप वैसा नहीं है।

अब अशुद्ध निश्चयनय का अर्थ कहते हैं। कर्मरूप संयोग के अवलम्बन से उत्पन्न होने से भावकर्म अशुद्ध कहा जाता है। और जैसे स्वयं की वर्तमान योग्यता से अग्नि

में तप्तायमान लोहे का गोला उस समय गर्म है, वैसे स्वयं की वर्तमान योग्यता से विकार के समय जीव उस रूप तन्मय होने से शुभ-अशुभभावरूप से स्वयं परिणमित हो गया है। इसलिए स्व-अपेक्षा से निश्चय कहा जाता है। मेरे अपराध से मेरे कारण से राग का कार्य है, कर्म के कारण से नहीं।

इसप्रकार जीव रागादि भावकर्म का कर्त्ता अशुद्ध निश्चय से है। लोहा स्वयं की योग्यता के कारण से गर्म होता है। अग्नि के कारण से लोहा गर्म हो तो लकड़ी एक सिरे पर गर्म है और दूसरे सिरे पर ठंडी है - ऐसा क्यों है? क्योंकि उसकी योग्यता ही ऐसी है। उसीप्रकार कर्म का उदय है, इसलिए जीव को राग होता नहीं है; लेकिन स्वयं की उस समय की विकारी योग्यतानुसार राग होता है। यदि कर्मोदय के कारण से राग होता है तो एक क्षेत्र में अनेक जीव हैं, उनको उसप्रकार का उतना राग क्यों नहीं होता? जिस क्षेत्र में सिद्ध भगवान हैं, उसी आकाश क्षेत्र में पाँच स्थावर एकेन्द्रिय जीव अनन्त हैं, उनको कर्म का उदय है। वहाँ उस क्षेत्र में कर्मोदय होने पर भी सिद्ध रागरूप क्यों नहीं होते? क्योंकि उनमें ऐसी (स्थावर जीवों की) योग्यता नहीं है। इससे निश्चित हुआ कि जो स्वयं को भूल कर पराश्रयरूप अपराध करता है, उसकी उस समय की योग्यतानुसार रागादि विकार होता है। स्वयं करे तो होता है। अतएव निश्चय से तन्मय होकर अशुद्धता का कर्त्ता जीव है।

अब **सुद्धणया सुद्धभावाणं** का अर्थ करते हैं। जो जीव शुभाशुभ व्यापार (प्रवृत्ति) से रहित शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव का भान कर परिणमता है, स्वतंत्र कर्त्तापने से त्रिकाल शुद्ध ज्ञायक हूँ - ऐसी अन्तर्मुखी दृष्टि से निर्मल अवस्थारूप कार्य करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। वह अल्पज्ञ अवस्था में अनंतज्ञान-दर्शन-सुख आदि शुद्ध भावों को अवलम्बन कर आंशिक निर्मल पर्याय का एकदेश शुद्ध निश्चयनय से कर्त्ता होता है। चौथा, पाँचवाँ, छटवाँ, सातवाँ आदि गुणस्थानों में जितने अंश में स्वभावाश्रित तन्मयरूप से शुद्धदशा उत्पन्न की, वह वीतराग भावरूप निर्मलता हुई; वह ज्ञानी का प्रिय कर्म है। साधक को व्रत-पूजा-भक्ति आदि का शुभराग अवश्य आता है, लेकिन वह उससे धर्म की पुष्टि नहीं मानता है।

साधक जीव स्वसन्मुख अंश से वीतरागीदशा का कर्त्ता तन्मयपने से हुआ है, इसलिए एकदेश शुद्ध निश्चयनय से वह शुद्ध भावों का कर्त्ता है और सिद्ध भगवान

मुक्तदशा में तो पूर्ण शुद्ध निश्चयनय से अनंतज्ञानादि शुद्ध भावों के कर्त्ता हैं। उस पूर्ण ज्ञान में नय नहीं हैं, किन्तु साधक नय द्वारा विचार करता है।

आत्मा क्या कर सकता है? यह बात चलती है। शरीर, जड़कर्म, लक्ष्मी इत्यादि का परिवर्तन, वर्तमानदशा उनसे होती है – ऐसा नहीं जानता हुआ – अज्ञानी मैं हूँ तो अवस्था (परिवर्तन) होती है – ऐसा मानता है। किन्तु कोई जीव पर का तीनकाल तीनलोक में किसी प्रकार से कुछ नहीं कर सकता। मात्र मिथ्या वासना और शुभाशुभ राग को करता है अथवा शुद्धभाव को कर सकता है।

यहाँ विशेष ऐसा जानता कि शुद्ध-अशुद्ध भावों का परिणमन है, उसको जीव कर सकता है; लेकिन हाथ-पैर हिलाना, बोलना अथवा लिखना आदि व्यापाररूप क्रिया को कोई जीव किसीप्रकार से नहीं कर सकता। जड़पदार्थ जगत की स्वतंत्र वस्तु है; इसलिए उसकी विकारी पर्याय अथवा अविकारी पर्याय, संयोग अथवा वियोग, गति अथवा स्थिति का परिवर्तन, वह जड़ स्वतंत्रकर्त्ता द्वारा होता है। जीव से उसकी पर्याय नहीं होती। जीव तो ज्ञातामात्र स्वभाव को भूलकर पुण्य, पाप, दया, दान, हिंसादि भाव को करता है अथवा शुद्ध हूँ – ऐसा पहिचान कर स्वलक्ष्य से शुद्धभाव को करता है।

अब दाल, भात, साग, रंग वगैरह जीव नहीं करता, तब कौन करता है? कोई ईश्वर करता है? नहीं। प्रत्येक वस्तु नित्य है, स्वतंत्र परिणामी है। काला या सफेद रूप, शरीर, वस्त्र, वगैरह अवस्था पुद्गल से होती है; क्योंकि उसकी सत्ता का जीव की सत्ता में त्रिकाल अत्यन्ताभाव है। कोई आत्मा उसका व्यवहार से भी कर्त्ता नहीं है। जीव स्वयं के भाव में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय को तो करे; सम्यक्त्व, व्रत, अकषाय, अप्रमादरूप स्वयं की अवस्था को तो करे; किन्तु पर का सुधार अथवा बिगाड़ जीव कर नहीं सकता। आत्मा तो स्वभाव का अवलम्बन कर शांति (वीतरागी) दशा कर सकता है और पर के अवलम्बन से अशांति, राग-द्वेष, ममतारूप भाव कर सकता है। स्वयं में स्वयं के हित-अहित भाव कर सकता है। हाथ-पैर इत्यादि की क्रिया जीव कर सके – ऐसा न समझो। शरीर की अवस्था, अनेक प्रकार से रोग-निरोग होना – व्यवहार से भी जीव उसका कर्त्ता नहीं है। अज्ञानभाव से अथवा ज्ञानभाव से कोई जीव पर की अवस्था (पर्याय) किसीप्रकार नहीं कर सकता, केवल मानता है और स्वयं की वर्तमान पर्याय में राग-द्वेष अज्ञान करता है – ऐसा जिसको ज्ञान होता है, उसका कर्त्तापने

का अभिमान दूर हो जाता है। मेरे में शुद्धता अथवा अशुद्धता मेरे करने से होती है। इतना ही कर्त्तृत्व मेरे आधीन है। जीव की प्रभुता जीव में है, बाहर में नहीं है। तो भी पर में प्रभुता मानना, वह महान भ्रम (भ्रमणा) है और वह संसार में अनन्त जन्म-मरण का मूल है।

दूसरे, आत्मा को कोई दूसरा सुधार या बिगाड़ नहीं सकता। जिसकी जितनी योग्यता हो, उस अनुसार उसमें उसके ज्ञान का विकास होता है। बाहर में संयोग-वियोग, धनिक -निर्धन, रोग-निरोग, जीवन-मरणादि सब उसके समय में जो होनेवाला है, होने का है, वही होता है, इसमें किसी की होशियारी (चतुराई) नहीं है। अज्ञानी ममत्वबुद्धि से मानता है कि मैं करता हूँ।

ज्ञानी जानता है कि मैं पर जीव का, इस शरीर का अथवा बाहर का कुछ कर नहीं सकता, जड़ कर्म के कारण मेरे राग-द्वेष, सुख-दु:ख की अवस्था नहीं होती – ऐसी स्वतंत्रता निश्चित करे तो सारे संसार का अभिमान दूर होकर सर्वप्रकार से स्वतंत्र हूँ – ऐसा भान होता है और सुखी होने का अवसर आता है। और ऐसा न समझे – उसको मैं पर का करूँ, मैं ऐसा करा सकूँ – इस मिथ्या कर्त्तृत्व की मूढ़ता नहीं जाती और यह मूढ़ता ही अनन्त संसार का कारण है। मैं ऐसा बोलूँ, ऐसा भोजन बनाऊँ, मैं चबाकर खाऊँ तो निरोगता रहती है – ऐसा भाव करे भी, लेकिन कोई जड़ की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। हाँ! उल्टा-सीधा माना है, उस मान्यता का कर्त्ता यथार्थ में है, लेकिन हस्तादि की कोई क्रिया का कर्त्ता आत्मा है – ऐसा कभी नहीं समझना चाहिए।

आत्मा तो नित्य निरंजन (मलिनता रहित), निष्क्रिय (पर के तथा क्षणिक विकार के कर्त्तृत्व रहित) है – ऐसा प्रत्येक आत्मा का ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप है। लेकिन अज्ञानी को उसका श्रद्धान नहीं है। इससे जीव को ही शरीर, जड़कर्म तथा रागादि भावकर्म का कर्ता कहता है। ज्ञानी तो नित्य ज्ञानस्वभाव का स्वामी और कर्त्ता है। परभाव संबंधी व्यवहार से भी अज्ञानी को कर्त्ता कहा है, ज्ञानी को नहीं; क्योंकि ज्ञानी को निमित्त बुद्धि नहीं है। इसलिए इस निज शुद्धस्वभाव आत्मा में ही सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-अनुभवरूप भावना करना चाहिए। कमजोरी-दुर्बलता से राग का अंश होय, वह मुख्य नहीं है; और शरीर की क्रिया हो, उसमें ज्ञानी निमित्त भी नहीं है। मैं निमित्त कर्त्ता हूँ तो पर की व्यवस्था शरीर आदि की क्रिया होती है – ऐसा आज्ञानी मानता है। वह

उसकी विपरीत मान्यता का कर्त्ता है और उस अज्ञानी को ही आरोप से, व्यवहार से, कर्त्ता कहा है। ज्ञानी तो अशुद्ध पर्याय और निमित्त को जानता है और अक्रिय ज्ञायकस्वभाव को ही मुख्य कर अपनी ओर झुकता हुआ निर्मल स्वभाव का कर्त्ता होता है और वही धर्म है।

राग द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा पर का कुछ नहीं किया जा सकता, लेकिन मैं हूँ तो उसका होता है – ऐसी मिथ्या दृष्टि अज्ञानी को छूटती या दूर नहीं होती।

एक-एक गाथा में पाँच-पाँच अर्थ आते हैं। शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ। उनमें व्यवहार से कर्त्ता में शब्दार्थ और नयार्थ तो कहा। मतार्थ में सांख्यमती जैसे सर्वथा अकर्त्तावादी अथवा मिथ्यादृष्टि अथवा जो केवल पर का ही कर्तृत्व मानते हैं, उसका निषेध हुआ। आगम में कहा है कि सम्प्रदाय में रहने वाले जैन नामधारी, आत्मा को एकान्त से अपरिणामी मान कर कर्म को ही कर्त्ता मानते हैं। रागादि का कर्त्ता जीव नहीं है – ऐसा एकान्त से मानते हैं। वे आगम के अर्थ को समझते नहीं हैं और भावार्थ – शुद्धनय से शुद्ध आत्मा ही उपादेय है।

❑❑❑

ऐसा कैसे कहा जाये ?

अहा! ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव मिला, जैनकुल में जन्म हुआ, वीतराग की वाणी सुनने को मिली। प्रभु! अब तो आत्महित के लिए कुछ करना पड़ेगा न ? ऐसे तो जन्म-मरण के चक्कर में अनन्तबार एक श्वास में अठारह भव किये। विचार कर तो खबर पड़ेगी। छहढाला में कहा है कि **एक श्वास में अठदस बार, जन्म्यो मरयो भरयो दुःखभार।** प्रभु, वह सब तू भूल गया है। भूल गया, इसलिए नहीं है – ऐसा कैसे कह सकते हैं ? अरे ! इस मनुष्यभव में आने पर प्रथम छह महीने तक तेरी माता ने तुझे दूध पिलाया, नहलाया – यह सब तुझे याद है ? याद नहीं है, इसलिए वह नहीं था – ऐसा कैसे कहेगा ? बचपन में तूने किस प्रकार खाया-पिया, कैसे रोया – यह सब याद है तुझे? नहीं है, इसलिए वह नहीं था – ऐसा कौन कहेगा ? इसप्रकार पूर्वभव का स्मरण नहीं है, इसलिए पूर्व में जो दुःख सहे हैं, वे नहीं थे – ऐसा कैसे कहा जाये ? आता है कुछ समझ में ? यह सब लॉजिक-न्याय से समझना पड़ेगा भाई!

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२२५

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-९

अब, यद्यपि आत्मा शुद्धनय से निर्विकार परम आह्लाद जिसका एक लक्षण है - ऐसे सुखामृत का भोक्ता है तो भी अशुद्धनय से सांसारिक सुख-दु:ख का भी भोक्ता होता है, इसप्रकार कहते हैं:-

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स॥९॥

व्यवहारात् सुखदु:खं पुद्गलकर्म्मफलं प्रभुङ्क्ते।
आत्मा निश्चयनयतः चेतनभावं खलु आत्मनः॥९॥

कर्मफल सुख-दुक्ख भोगे जीव नयव्यवहार से।
किन्तु चेतनभाव को भोगे सदा परमार्थ से॥९॥

गाथार्थ :- व्यवहारनय से आत्मा सुख-दु:खरूप पुद्गलकर्म के फल को भोगता है और निश्चयनय से अपने चेतनभाव को भोगता है।

टीका :- **ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि** व्यवहारनय की अपेक्षा से सुख-दु:खरूप पुद्गलकर्म के फलों को भोगता है। उन कर्म फलों का भोक्ता कौन है? **आदा** आत्मा। **णिच्छयणयदो चेदणभावं आदस्स** निश्चयनय की अपेक्षा से चेतन भाव का भोक्ता है। **खु** प्रकटरूप से। किसके चेतनभाव का? आत्मा के अपने चेतनभाव का। वह इसप्रकार - आत्मा ही निजशुद्धात्मसंवित्ति से उत्पन्न पारमार्थिक सुख-सुधारस के भोजन को नहीं प्राप्त करता हुआ, उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से इष्ट-अनिष्ट पंचेन्द्रिय विषयजनित सुख-दु:ख को भोगता है, उसीप्रकार अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से अन्तरंग में सुख-दु:खजनक द्रव्यकर्मरूप साता और असाता के उदय भोगता है और वही अशुद्धनिश्चयनय से हर्ष-विषादरूप सुख-दु:ख को भोगता है, शुद्धनिश्चयनय से तो परमात्मस्वभाव के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण से उत्पन्न, सदा आनन्द जिसका एक लक्षण है - ऐसे सुखामृत को भोगता है।

यहाँ, जिस स्वाभाविक सुखामृत के भोजन के अभाव से आत्मा इन्द्रियसुख भोगता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है, वही अतीन्द्रिय सुख (स्वाभाविक सुखामृत) सर्वप्रकार से उपादेय है - ऐसा अभिप्राय है।

इसप्रकार कर्ता, कर्मफल को नहीं भोगता है, इस बौद्धमत का निषेध करने के लिए भोक्तृत्व के व्याख्यानरूप से सूत्र पूर्ण हुआ॥९॥

गाथा ९ पर प्रवचन

अब, यद्यपि यह आत्मा शुद्धनय से त्रिकाल विकार रहित परमानंदरूप एक लक्षण का धारक है और उसी का भोगनेवाला है, तथापि त्रिकाली अनाकुल स्वभाव को भूलकर कृत्रिम हर्ष-शोकरूप परिणमता हुआ अशुद्ध निश्चयनय से सुख-दु:खरूप आकुलता को पर्यायबुद्धिवाला भोगता है - यह कहते हैं।

परमानंद लक्षणवाला आत्मा शरीरादि तथा पुण्य-पाप, हर्ष-शोक द्वारा जानने में नहीं आता। अंतर द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखो तो आत्मा परमानन्द का भोक्ता है। पूर्णस्वभाव शक्तिरूप से है, परन्तु वर्तमान में शुद्ध स्वभाव प्रकट नहीं है। कोई आत्मा को एकान्त शुद्ध ही माने - तो ऐसा नहीं है। जीव अपने ज्ञान-आनन्द को भूलकर वर्तमान में हर्ष-शोक, सुख-दु:खरूप आकुलता को भोगता है। वह अशुद्ध अनुभव यथार्थ है, भ्रम नहीं है।

कोई कहता है कि सुख-दु:ख देह का धर्म है - तो ऐसा नहीं है। परवस्तु के संयोग-वियोग से सुख-दु:ख नहीं है, परन्तु स्वयं नित्य ज्ञानानंदपना भूलकर अपने को विकाररूप मानता है और हर्ष-शोक को भोगता है। कोई जड़कर्म अथवा पर भोगवाता है - ऐसा नहीं है।

व्यवहार से आत्मा सुख-दु:खरूप कर्मफल का भोक्ता है और निश्चय से वह स्वयं के चेतनभावों का ही भोक्ता है। आत्मा के स्वभाव को भूलकर पूर्व में जो शुभाशुभ कर्म बाँधे, उनके फल (कर्मोदय) में बाह्य में अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री मिली, वह हर्ष-शोक में निमित्त है, इसलिए आत्मा को व्यवहार से बाहर के सुख-दु:ख का भोक्ता कहा है।

अशुद्धनिश्चय से वह स्वयं के हर्ष-शोक आदि भावों को भोगता है। निश्चय से आत्मा पर को नहीं भोगता। आत्मा सर्दी-गर्मी को नहीं भोगता, बिच्छू काटे, उसका अनुभव आत्मा नहीं करता; लेकिन उससमय के स्वयं के भाव को वह भोगता है। स्वभाव को भूलकर हर्ष-शोक करे, तब परसंयोग की ओर झुकाव होता है, इससे संयोग का भोक्ता

व्यवहार से कहा है। और स्वयं की अवस्था में होनेवाले हर्षशोक भाव को भोगता है, वह अशुद्धनिश्चयनय से है तथा सहज स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता से जो स्वाभाविक आह्लादरूप आनंद प्रकट होता है, उसका भोक्ता निश्चय से है। यहाँ तात्पर्य ऐसा है कि पर के लक्ष्य से फल भोगना छोड़कर स्वभाव की दृष्टि और रमणता द्वारा परमार्थ सुख का भोक्ता हो।

स्वयं के शुद्ध आत्मा के ज्ञान से पारमार्थिक सुखरूपी अमृत की उत्पत्ति होती है। उस परमार्थ सुख का स्वाद जिसने प्राप्त नहीं किया, ऐसा जीव परलक्ष्य से हर्षशोक करता है और इससे वह जीव उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से पंचेन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों को भोगता है।

बासी और बचा-खुचा झूठा भोजन कौन खाता है? जिसको ताजा और मिष्ट भोजन न मिलता हो, वह खाता है; लेकिन जिसको ताजा मिष्ठान्न मिलता हो, वह बचा-खुचा झूठा नहीं खाता। वैसे ही यहाँ कहते हैं कि पंचेन्द्रिय के विषयों की ओर झुकने का भाव किसको होता है? जिसने अन्तर में चिदानन्द स्वभाव के परमानंद का स्वाद नहीं जाना, वह जीव बाहर के विषयों में हर्ष-शोक करके उसको भोगता है। ज्ञानी को अल्प हर्ष-शोक का भाव आये और विषयों की ओर झुकाव होता है, उसकी यहाँ मुख्यता नहीं है; क्योंकि उसने अन्तर के स्वभाव के परमानंद का स्वाद अनुभव किया है, इसलिए बाहर में सुखबुद्धि नहीं होती। अरे आत्मन्! तेरा सुख संयोगों में नहीं है और संयोग की ओर के झुकाववाले भावों में तेरा सुख नहीं है। तेरा सुख तेरे परमार्थ स्वभाव के ज्ञान से ही है।

चैतन्य को भूलकर जड़कर्म में हर्ष-शोक करके उसको जो भोगता है, वह संयोग का भोक्ता उपचरित असद्भूत व्यवहार से ही है और जड़कर्म का भोक्ता अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से है। संयोग तो आत्मा से दूर है, इसलिए उसका उपचार से भोक्ता कहा है और कर्म के साथ निकट का संबंध है, इसलिए उसका भोक्ता अनुपचरित व्यवहार से कहा और अन्दर के हर्ष-शोक आदि अशुद्धभावों का भोक्ता अशुद्धनिश्चय से है। मकान, पैसा, वस्त्र, भोजन इत्यादि पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, पृथक् हैं; उनका भोक्ता असद्भूत व्यवहार से है। पापकर्म के उदय से शरीर मे छुरा भोंका जाये और द्वेष हो, वहाँ जड़कर्म का तथा छुरे के संयोग का भोक्ता परमार्थ से आत्मा नहीं है। केवल

व्यवहार से उसका भोक्ता कहा जाता है और द्वेष का भाव किया, उसका भोक्ता अशुद्धनिश्चय से आत्मा है। बाह्य में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलना, वह पूर्व कर्म का फल है। और उनके लक्ष्य से हर्ष-शोक करना, वह स्वयं का वर्त्तमान अपराध है।

शब्द, रस, रूप, गंध, स्पर्श के लक्ष्य से जीव राग-द्वेष करता है, उसमें वह वस्तु निमित्त है। उसका ज्ञान कराने के लिए केवल व्यवहार से कहा कि पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीव भोगता है, लेकिन वह पृथक् वस्तु होने से यथार्थ में उसको भोग नहीं सकता, लेकिन भोगता है – ऐसा कहना, वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का कथन है। स्त्री-पुत्रादिक की व्यवस्था (सुभीता, सुविधा, अनुकूलता) मैं भोगता हूँ – ऐसा कहना निमित्त की ओर का अविचारितरम्य उपचार है। असद्भूत होने से असत्यार्थ है, उपादेय नहीं है। ऐसा जाने तो पर से उपेक्षावान होकर हर्ष-शोकरूप मनोदशा को भी गौणकर एक ज्ञायक स्वभाव-सन्मुख देखनेवाला होता है।

इसप्रकार स्वभाव को देखनेवाले सम्यग्दृष्टि को ही स्वभाव में लीनतारूप धर्म होता है। संयोगी दृष्टिवाला असंयोगी चिदानन्द अमृत भोजन को भूलकर – छोड़कर पर को अनुकूल-प्रतिकूल मानकर, पर से हर्ष-शोक, सुख-दु:ख मानता है और उसप्रकार के विकार का अनुभव करता है। छुरी, काँटा, विष, मिसरी को अनुभव करता है – ऐसा कहना निमित्त का-उपचार का कथन है। परमार्थ से जीव पर का भोक्ता नहीं है – ऐसा जाने तो कि मैं पर से भिन्न चिदानंद का ही भोक्ता हूँ – ऐसा जानकर स्वयं को अनुभव करता है।

ज्ञानावरणादिक आठ कर्म एकक्षेत्र में रहते हैं, उनके उदय को जीव भोगता है – ऐसा कहना, वह अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। साता-असाता कर्म के उदय से जीव को सुख-दु:ख होता है – ऐसा कहना, वह भी उपचार है। कर्म से सुख-दु:ख नहीं है, लेकिन एकक्षेत्र संबंध की अपेक्षा से अनुपचरित असद्भूतव्यवहार से भोक्ता है। कर्म से राजा, कर्म से रंक और कर्म से दुबला-मोटा, उलटा-सीधा होता है – यह निमित्त का कथन है। जड़ कर्म को और कर्म के फलरूप संयोग को जीव नहीं भोग सकता। अज्ञानी चैतन्य को भूलकर मानता है कि मैं कर्म और संयोग को भोगता हूँ।

अब हर्ष-शोक, रति-अरति, सुख-दु:ख की भावना अरूपी विकारीभाव जीव में जीव से होते हैं। उसका अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा भोक्ता है, ज्ञानानंद से विरुद्ध भाव है, इसलिए अशुद्ध और स्वयं की पर्याय में स्वयं करता है, इसलिए निश्चय। सहजानंदी अतीन्द्रिय सुख को नहीं भोगनेवाला अज्ञानी आत्मा स्वयं की दशा में उसका भोक्ता है। कर्म संयोग अथवा कोई जीव सुख-दु:ख कराता है - ऐसा नहीं है। द्रव्य-गुण तो पर में निमित्त भी नहीं कहे जाते, लेकिन एक समय की जीव की उत्पादरूप पर्याय को जड़कर्म की उत्पादरूप पर्याय एक समय प्रमाण निमित्त होती है। धर्म-अधर्म, शांति-अशांति, सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान वर्त्तमान पर्याय में ही होते हैं। वह स्वयं की उससमय की योग्यता से होते हैं। वहाँ निमित्तरूप पर की अवस्था होती है, दोनों स्वतन्त्ररूप से काम करते हैं।

शुद्ध निश्चयनय से आत्मा त्रिकाल ज्ञानानंद से पूर्ण निज का असली (शुद्ध) स्वभाव है, उसको भोगता है। निर्मल ध्रुव परम अमृत का शाश्वत कुंड - ऐसा परमात्मस्वभाव, वह आत्मा है। उसमें सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-तन्मयता से उत्पन्न अविनाशी अतीन्द्रिय आनंदरूप एक लक्षण का धारक जो सुखामृत है, उसको भोगता है। यहाँ वर्त्तमान निर्मल पर्याय की बात है। शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय से प्रकट हुई अमृतानंद पर्याय को आत्मा भोगता है - ऐसा कहा है।

ध्रुव स्वभाव के आश्रय से अनेक नवीन निर्मल पर्यायें हैं तो भी वे एकता (अभेदता) को प्राप्त करती हैं, इसलिए एक लक्षणधारक सुखामृत कहा है, उसको धर्मात्मा नित्य भोगता है। पर्याय भोगी जाती है, लेकिन द्रव्य-गुण नहीं भोगे जाते। संयोग और कर्म की पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं। उसके लक्ष्य से होनेवाला विकार अनेकप्रकार से पृथक्-पृथक् खण्ड-खण्ड होता है। लेकिन द्रव्यस्वभाव के अवलम्ब से नई-नई निर्मल अवस्थायें अनेक होती हैं तो भी एकता की पुष्टि होती है। वह एकता समता-वीतरागता को ही अभिनन्दित करती है।

यह भोक्तृत्व का अधिकार चलता है। पाँच इन्द्रियों के विषयों में राग निमित्त है, इसलिए शब्द, रूप, रसादिक का भोक्ता - अज्ञानी जीव को उपचरित असद्भूत व्यवहार से कहा है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से वह कर्म का अनुभव करता है; और अशुद्ध निश्चयनय से हर्ष-शोक, सुख-दु:ख की भावना का वेदन करता है। वह मलिन

भाव है; इसलिए अशुद्ध है। स्वयं, स्वयं की अवस्था में तन्मय होकर वेदन करता है, इसलिए निश्चय से उस अज्ञानी का अशुद्ध वेदन है – ऐसा ज्ञानी जानता है। निमित्त, संयोग, विकार में एकत्व बुद्धि छोड़कर अतीन्द्रिय शुद्धदृष्टि से त्रिकाल अखंडानन्द निज परमात्मस्वभाव के अभेद श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से उत्पन्न सहजानन्द एक लक्षणरूप सुखामृत को वह भोगता है। अत: ज्ञानी जीव को शुद्ध निश्चयनय से उस शुद्ध स्वभाव का भोक्ता कहा है।

जो ज्ञायक स्वभाव से उत्पन्न होनेवाला ऐसा अतीन्द्रिय आत्मिकसुख, उसके स्वाद से रहित त्रिकाल ज्ञानानंद को भूलकर पंचेन्द्रियों के विषयों में सुख मानता है, वह संसार में भ्रमण करता है। वह इन्द्रियसुख आकुलतामय होने से हेय है और वीतरागी मोक्षमार्ग के कारणरूप त्रिकाल ज्ञानानंद स्वभाव है, उसमें एकाग्रता से उत्पन्न अतीन्द्रिय आनंद जो निश्चय मोक्षमार्गरूप शुद्ध उपयोग है, वही सर्वप्रकार से उपादेय है – ऐसा इस गाथा का भावार्थ है।

क्षणिकवादी बौद्ध का मत है कि जीव कर्त्ता-कर्म के फल को नहीं भोगता। उसका खंडन करने के लिए प्रत्येक संसारी जीव कर्मफल का, हर्ष-शोक का तथा शुद्ध आत्मिक सुख का भोक्ता है- ऐसा कहा है। यह मतार्थ है।

❑❑❑

प्रमाद में क्यों पड़ा है ?

नरक के दु:ख ऐसे सुने जायें ऐसे नहीं हैं। पाँव में काँटा लगने जितना दु:ख तुझसे सहन नहीं होता तो फिर जिसके गर्भ में अनन्त दु:ख पड़े हैं, उस मिथ्यात्व को छोड़ने का प्रयत्न तू क्यों नहीं करता ? तू शरीर को स्पर्शता नहीं है, फिर भी तूने माना है कि शरीर मेरा है, यह तूने क्या किया ? क्या माना ? विपरीत मान्यता के स्थूल असंख्य प्रकार तथा सूक्ष्म अनंत प्रकार हैं। पर को मार सकता हूँ या जिला सकता हूँ, वह मिथ्यात्व का एक भाग है। अनंत परवस्तुओं को अपना माना। भाई, परन्तु अपने अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को तू स्पर्शता भी नहीं है। सत्य बोल सकता है – ऐसा माना, वह तो मिथ्यात्व का एक भाग है। मिथ्यात्व भाव को छोड़ने का प्रयत्न क्यों नहीं करता? प्रमाद में क्यों पड़ा है ?

– **द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२२७**

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-१०

अब निश्चयनय से लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेश मात्र होने पर भी व्यवहारनय से जीव अपने शरीर प्रमाण है - ऐसा बतलाते हैं:-

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा॥१०॥

अणुगुरुदेहप्रमाणः उपसंहारप्रसर्प्यतः चेतयिता।
असमुद्घातात् व्यवहारात् निश्चयनयतः असंख्यदेशो वा॥१०॥

समुद्घात बिन तनमापमय संकोच से विस्तार से।
व्यवहार से यह जीव असंख्य प्रदेशमय परमार्थ से॥१०॥

गाथार्थ :- समुद्घात के अतिरिक्त, यह जीव व्यवहारनय की अपेक्षा से संकोच-विस्तार के कारण अपने छोटे अथवा बड़े शरीर प्रमाण रहता है और निश्चयनय की अपेक्षा से असंख्यातप्रदेशी है।

टीका :- **अणुगुरुदेहपमाणो** निश्चयनय से अपने देह से भिन्न और केवलज्ञानादि अनंत गुणसमूह से अभिन्न - ऐसे निज शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि के अभाव से तथा देह की ममता जिसका मूल है - ऐसी आहार-भय-मैथुन-परिग्रहरूप संज्ञा आदि समस्त रागादिविभावों में आसक्ति का सद्भाव होने से जीव ने जो शरीर नामकर्म उपार्जित किया है, उसका उदय होने पर (जीव अपने) छोटे अथवा बड़े देह के बराबर होता है। वह कौन होता है? **चेदा** चेतन अर्थात् जीव। किसकारण? **उवसंहारप्पसप्पदो** संकोच तथा विस्तार से, शरीरनामकर्म से उत्पन्न विस्तार और संकोचरूप (जीव के) धर्म से - ऐसा अर्थ है।

यहाँ दृष्टांत क्या है? जैसे दीपक बड़े बर्तन में रखा गया हो तो उस बर्तन के भीतर सबको प्रकाशित करता है और छोटे बर्तन में रखा गया हो तो उस बर्तन में सबको प्रकाशित करता है। तथा अन्य किस कारण से यह जीव देह प्रमाण है? **असमुहदो** असमुद्घात के कारण। वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली नामक सात प्रकार का समुद्घात छोड़ दिया होने के कारण (समुद्घात के अतिरिक्त का कथन होने के कारण)। सात समुद्घातों का लक्षण इसप्रकार कहा है :-

वेयणकसायवेउव्वियो मारणंतिओ समुग्घादो।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु।।

(१) वेदना, (२) कषाय, (३) विक्रिया, (४) मारणांतिक, (५) तैजस, (६) आहार और (७) केवली – ये सात समुद्घात हैं। वे इसप्रकार – अपना मूल शरीर छोड़े बिना (तैजस और कार्माणरूप) उत्तर देह के साथ-साथ जीव प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। तीव्र पीड़ा का अनुभव होने से, मूल शरीर छोड़े बिना, आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना, उसे वेदना समुद्घात कहते हैं॥१॥ तीव्र कषाय के उदय से, मूल शरीर को छोड़े बिना, अन्य का घात करने के लिए आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना, उसे कषाय समुद्घात कहते हैं॥२॥ मूल शरीर छोड़े बिना, किसी भी प्रकार की विक्रिया करने के लिए आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना, उसे विक्रियासमुद्घात कहते हैं॥३॥ मृत्यु के समय, मूल शरीर को छोड़े बिना, जब इस आत्मा ने कहीं का आगामी आयुष्य बाँधा हो; उस प्रदेश को स्पर्श करने के लिए आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना, उसे मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं॥४॥ अपने मन को अनिष्ट उत्पन्न करनेवाला कोई अन्य कारण देख कर जिसको क्रोध उत्पन्न हुआ है – ऐसे संयम के निधानरूप महामुनि के, मूल शरीर को छोड़े बिना, सिंदूर के पिंड समान प्रकाशयुक्त, बारह योजन लम्बा, सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग जितना मूल विस्तारवाला और नव योजन के अग्रविस्तारवाला, काहल (बिलाव) के आकारवाला एक पुतला, बायें कन्धे में से निकल कर बायीं प्रदक्षिणा देकर हृदय में रही हुई विरुद्ध वस्तु को भस्मीभूत करके, उसी संयमी (मुनि) के साथ स्वयं भी भस्मीभूत हो जाता है। द्वीपायन मुनि के समान, यह अशुभतैजस-समुद्घात है। लोक को व्याधि, दुष्काल आदि से पीड़ित देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई है – ऐसे परम संयम के निधान महर्षि के मूल शरीर को छोड़े बिना पूर्व कथित देह प्रमाणवाला, शुभ आकृतिवाला पुतला दायें कंधे से निकल कर, दायीं ओर प्रदक्षिणा करके, व्याधि, दुष्काल आदि मिटाकर पुन: अपने मूल स्थान में प्रवेश करता है – यह शुभतैजस समुद्घात है॥५॥ पद और पदार्थ में जिसको कोई संशय उत्पन्न हुआ – ऐसे परम ऋद्धिवाले महर्षि के मूल शरीर को छोड़े बिना, शुद्ध स्फटिक जैसी आकृतिवाला, एक हाथ का पुरुषाकार पुतला मस्तक के मध्य में से निकल कर अंतर्मुहूर्त में जहाँ कहीं केवलज्ञानी को देखता है; वहाँ उनके दर्शन से, अपने

आश्रयभूत मुनि को पद और पदार्थ का निश्चय उत्पन्न करके फिर अपने स्थान में प्रवेश करता है, उसे आहारकसमुद्घात कहते हैं ।।६ ।। केवलियों के दंड-कपाट-प्रतर-लोकपूरणरूप होते हैं, वह सातवाँ केवली समुद्घात है ।।७ ।।

नयविभाग कहते हैं- **ववहारा** अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ऊपर कहे अनुसार (जीव अपने शरीर प्रमाण है)। **णिच्छयणयदो असंखदेसो वा** निश्चयनय से लोकाकाश प्रमाण असंख्यप्रदेशी है। यहाँ जो वा शब्द प्रयुक्त किया है, उससे ऐसा सूचित होता है कि स्वसंवित्ति से उत्पन्न केवलज्ञान की उत्पत्ति होने पर ज्ञान-अपेक्षा से व्यवहारनय से जीव लोकालोक व्यापक है; परन्तु नैयायिक, मीमांसक और सांख्यमत वालों की मान्यतानुसार प्रदेशों की अपेक्षा से लोकालोकव्यापक नहीं है। उसी प्रकार पाँच इन्द्रिय और मन के विषय के विकल्पों से रहित समाधि के समय स्वसंवेदनलक्षण ज्ञान का सद्भाव होने पर भी बाह्य विषयवाले इन्द्रिय ज्ञान का अभाव होने की अपेक्षा से आत्मा को जड़ कहा है, परन्तु सांख्यमत की मान्यतानुसार सर्वथा जड़ नहीं है। उसी प्रकार रागादि विभावपरिणामों की अपेक्षा से आत्मा शून्य भी है, परन्तु बौद्ध मत के समान अनंतज्ञानादि की अपेक्षा से शून्य नहीं है।

विशेष - (गाथा में) अणु मात्र शरीर कहा, वहाँ उत्सेध घनांगुल के असंख्यातवें भाग-प्रमाण लब्धि-अपर्याप्तक सूक्ष्म-निगोद का शरीर समझना, परन्तु पुद्गल-परमाणु नहीं समझना। उसीप्रकार गुरु शरीर शब्द से एक हजार योजन-प्रमाण महामत्स्य का शरीर समझना और मध्यम अवगाहन द्वारा मध्यम शरीर समझना।

यहाँ यह तात्पर्य है- शरीर के ममत्व के कारण, जीव शरीर ग्रहण करके संसार में परिभ्रमण करता है, अत: देहादि का ममत्व त्यागकर निर्मोह निज शुद्धात्मा में भावना करना चाहिए।

इसप्रकार जीव के स्वदेह प्रमाणत्व के व्याख्यान से गाथा पूर्ण हुई ।।१० ।।

गाथा १० पर प्रवचन

व्यवहारनय से जीव संकोच और विस्तार के कारण समुद्घात अवस्था को छोड़कर छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण में रहता है और निश्चयनय से वह लोकाकाश जितने असंख्यात प्रदेशवाला है।

जगत में बहुत से विपरीत मत हैं। कोई कहता है कि – आत्मा सर्व व्यापक है अथवा अणुमात्र है, यह शरीर छूटते ही आत्मा किसी अनन्त में मिल जाता है, सभी आत्मायें एकरूप हैं – ऐसी अनेकप्रकार से मिथ्या कल्पना करते हैं। उनके निषेध के लिए सत्य क्या है? यह कहते हैं।

आत्मा निश्चयनय से लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशों का धारक है। लोकाकाश के प्रदेशों की जितनी संख्या है, उतने ही असंख्यात प्रदेश प्रत्येक आत्मा के हैं। प्रत्येक जीव को स्वतंत्र स्वक्षेत्र से अखंडितपना है और इससे प्रत्येक जीव हमेशा स्वयं के आधार से है, परक्षेत्र के आधीन नहीं है – ऐसा जानना, वह सुखी होने का मार्ग अर्थात् धर्म है।

एक परमाणु जितने स्थान को रोके, उतने भाग को प्रदेश कहते हैं। वैसे अपने-अपने प्रदेशों में व्यापक, अपने अनंत गुणों का पिण्ड प्रत्येक जीव है – ऐसे अनंत जीव है। प्रत्येक आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश में उस-उस जीव के अनंत गुण हैं। गुण अर्थात् उसकी त्रिकाल सामर्थ्यरूप शक्ति। जीव के वे सभी गुण उसके असंख्य प्रदेशों में – सम्पूर्ण भाग में सदा व्यापक रहते हैं।

व्यवहारनय से जीव के असंख्यातप्रदेशों की छोटे-बड़े शरीर में संकोचविस्तार होने की अनेकता है। इस अपेक्षा से वर्त्तमान में छोटे-बड़े आकार होने की योग्यता, वह व्यवहार है। और त्रिकाल एकरूप असंख्य प्रदेशरूप संख्या है, उसमें फेरफार नहीं होता, वह निश्चय है। जीव(चींटी) के शरीर को जीव धारण करे, तब उसके प्रदेश छोटे हो जाते हैं और बड़े शरीर में विस्तृत हो जाते (बढ़ जाते हैं) – ऐसा नहीं है।

प्रत्येक जीव संसार अवस्था में भी असंख्यात प्रदेशी रहता है, वह निश्चय है; लेकिन व्यवहार से समुद्घात अवस्था रहित – जैसे वस्त्र का सिकुड़ना अथवा विस्तृत होना होता है, वैसे – संकोच विस्तार के कारण से छोटे अथवा बड़े शरीर प्रमाण से स्वयं की योग्यता को लिए रहता है – ऐसी ही वस्तुस्थिति है। शरीर प्रमाण आत्मप्रदेश हैं, उनमें सभी गुण सत् हैं; क्योंकि शरीर के किसी एक भाग में बिच्छू का डंक लगे अथवा शीत-उष्ण का स्पर्श हो तो सम्पूर्ण आत्मा को उसका ख्याल आता है; इसलिए ज्ञान, सुख, इत्यादि जीव के सभी गुण जीव के समूचे भाग में अर्थात् असंख्यप्रदेशों में ही

अखंड अभेदरूप से व्याप्त हो रहे हैं, रह रहे हैं। गुण नया नहीं होता, तथा उसका नाश नहीं होता।

''**अणुगुरुदेहपमाणो**'' – निश्चयनय से अपने देह से भिन्न तथा केवलज्ञानादि अनंति गुण राशि से अभिन्न अपना शुद्ध आत्मस्वरूप है। विकार, कर्म व शरीर आत्मा का स्वरूप नहीं है। जैसे कंकर हजारों वर्षों तक पानी में साथ ही रहने पर भी भिन्न है; इसीप्रकार देह और जीव क्षेत्र संयोग संबंध की योग्यता से एक साथ रहते दिखने पर भी जड़ देह और चेतन आत्मा का स्वभाव त्रिकाल भिन्न-भिन्न है।

प्रत्येक आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रभुत्व, विभुत्व आदि अनंत त्रिकाल शक्तिरूप गुण हैं। वे अपने स्वलक्षण से त्रिकाल आत्मा के साथ रहते हैं – ऐसा ही आत्मा है। उसके अज्ञानपने के कारण जीव अपने त्रिकाल शुद्ध असंग गुणस्वरूप को चूका है–भूला है। इसकारण स्वरूप प्राप्ति का अभाव है। स्वयं स्वतंत्र पृथक् होने पर भी अज्ञान से देहादिक के प्रति ममता करता है और ममता के कारणरूप आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा है। इसलिए कर्म शरीर रुका रहता है। रागादि विभाव की रुचि करके पुण्य-पाप में मौज मानता है। मुझे पुण्य से शुभव्यवहार से लाभ होगा – इसप्रकार पराश्रय विकार की प्रीति रूप ममता होने से अज्ञानी शरीर के प्रति ममता का परित्याग नहीं करता है।

दूसरे विद्यमान सत्पदार्थ स्वतन्त्र हैं – ऐसा न मानता हुआ उनकी अवस्था को मैं बदल दूँ, मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, पर मेरा सुधार-बिगाड़ कर सकता है; मैं भोजन वगैरह ले सकता हूँ अथवा छोड़ सकता हूँ – इसप्रकार अज्ञानी को संयोग और विकार की एकत्व बुद्धि रहती है। चेतन भिन्न स्वतन्त्र है, उसको भूल जाता है। इससे बाह्य परिग्रह की भावना पुण्य-पाप की भावना किया करता है। ज्ञानी को चारित्र की कमजोरी से भोजनादि सम्बन्धी राग होता है, लेकिन उसमें एकत्वबुद्धि – आसक्ति नहीं है।

अज्ञानी दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रतादि का शुभराग करके – अरे! हमने भारी धर्म किया – ऐसा करें तो जीवन सफल है – ऐसा मानता है। शुभ भाव करने जैसा है, छोड़ने जैसा नहीं – ऐसा करे तो जीवन सफल है – ऐसा मानता है। – ऐसी मान्यता को लेकर अज्ञानी जीव ने शरीर की प्राप्ति की है। शरीर जड़ है, वह जीव को नहीं

मिलता, लेकिन ज्ञातास्वभाव पृथक् है – ऐसा भान अज्ञानी भूला है; इससे विकार में, व्यवहार में तन्मयता करता है और इससे उसको शरीर मिलता है, अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द आत्मा नहीं मिलता – ऐसा कहा है। विकार की रुचिरूप आसक्ति से उसे जीव ने शरीर नामकर्म उपार्जन किया, उसके विपाकोदय से छोटे–बड़े शरीरप्रमाण से वह मिथ्यादृष्टि होता है।

जीव स्वतन्त्र स्वभाव को भूलता है, तब विकार की रुचि करता है। शुभाशुभ विकार अरूपी है, उसमें जड़कर्म निमित्त है, उसके परिणामस्वरूप शरीर मिलता है। जीव सदा असंख्यप्रदेशी होने पर भी स्वयं की पर्याय की योग्यता से ही छोटे या बड़े शरीरप्रमाण रहता है। ऐसा न माने, उसकी वस्तुस्वरूप की खबर (जानकारी) नहीं है। आत्मा नित्य अनन्तगुण का पिण्ड शुद्धस्वभावी है, वही उपादेय है – आदरणीय है।

यह जीव द्रव्य के स्वरूप का वर्णन है। जीव स्वयं के छोटे–बड़े शरीर प्रमाण है। यह बात सर्वज्ञ भगवान के सिवाय दूसरों के मत में नहीं है। निश्चयनय से जीव त्रिकाल असंख्यप्रदेशी ही है, लेकिन समय–समय की योग्यता से उसमें संकोचविस्तार होता है, ऐसा उसका स्वभाव है। एक प्रदेश तो ऐसा का ऐसा ही (अणु प्रमाण) रहता है, उसमें कुछ छोटा–बड़ा नहीं होता, असंख्यप्रदेशों की कमती बढ़ती नहीं होती, लेकिन असंख्यप्रदेशों की अवगाहना में संकोच–विस्तार होता है, इससे जीव देहप्रमाण है। जीव का ऐसा ही स्वभाव है। संकोच–विस्तार क्यों होता है? तो कहते हैं कि ऐसा ही उसका स्वभाव है, कोई दूसरे के कारण से नहीं है। नाम कर्म के कारण से संकोच–विस्तार होने का कहना, वह तो निमित्त का कथन है। असंख्यप्रदेशी आत्मा की अन्तर्मुखता से तेरा कल्याण होता है। कहीं पर सामने देखना नहीं रहता। जीव अरूपीपदार्थ होने पर भी उसको भी संकोच–विस्तार होता है। यह सर्वज्ञ के अतिरिक्त दूसरा जान नहीं सकता। साधारण जीवों को तो वह बात जानना कठिन हो जाती है। एक आत्मा निश्चय से असंख्यप्रदेशी, लेकिन व्यवहार से संकोच–विस्तार धर्म द्वारा देह प्रमाण है। यह जीव के धर्म की बात है, इस धर्म के पहिचाने बिना जीव को पहिचाना नहीं कहा जाता।

लोटे में रहे हुए पानी का आकार लोटे जैसा होता है; वैसे ही जीव का आकार शरीर प्रमाण से होता है, वह शरीर के कारण अथवा कर्म के कारण नहीं होता; लेकिन जीव का स्वयं का ही वैसा संकोच–विस्तार होने का स्वभाव है। चींटी के शरीर समय वैसा

आकार और हाथी के शरीर समय वैसा आकार, तो भी वह आकार स्वयं के ही कारण से है; दूसरे के कारण से नहीं। आत्मा का प्रत्येक प्रदेश तो एक परमाणु जितना त्रिकाल है। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा स्वभाव कहा, वैसा स्वयं के ज्ञान में दिखना चाहिए।

जैसे दीपक बड़े बर्तन में रखें तो उतने में उसका प्रकाश होता है और छोटे स्थान में रखें तो उतने में उसका प्रकाश होता है – ऐसा संकोच-विस्तार होने का उसका स्वभाव है। उसीप्रकार जीव का ऐसा स्वभाव है कि जितना शरीर हो, उतना उसका (जीव का) आकार स्वयं के कारण से होता है, किन्तु शरीर प्रमाण आकार रहने में समुद्घात न होना, वह भी कारण है अर्थात् समुद्घात होता है; तब वह देह प्रमाण रहता नहीं है। समुद्घात न हो, उस समय देह प्रमाण रहता है। समुद्घात के सात भेद हैं- १. वेदना २. कषाय ३. विक्रिया ४. मारणान्तिक ५. तैजस ६. आहार और ७. केवली समुद्घात। देखिये! यहाँ इस समुद्घात की बात लेकर के ऐसा बताया है कि समुद्घात के समय जीव के प्रदेश फैलते हैं, वह भी स्वयं के ही कारण से हैं। देह प्रमाण आकार से बहुत समय रहता है, वह तो स्वयं के कारण से है, किन्तु समुद्घात पर के (अन्य के) कारण से होता होगा – ऐसा नहीं है। समुद्घात होता है, वह भी जीव की ही अवस्था का धर्म है। समुद्घात के समय जैसा आकार है, वह भी स्वयं के ही कारण से है।

स्वयं के मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर निकल कर उत्तर देह के प्रति गमन करें, उसको समुद्घात कहते हैं। जीव असंख्यप्रदेशी है, यह निश्चय है, शरीर प्रमाण है; यह व्यवहार है। तथा समुद्घात होता है, तब उसके प्रदेश फैलते हैं – यह भी व्यवहार है। अब सात समुद्घात की व्याख्या करते हैं:-

१. वेदना समुद्घातः- तीव्र वेदना होते ही जीव के प्रदेश मूल शरीर को बिना छोड़े शरीर से बाहर फैलें, उसको वेदना समुद्घात कहते हैं। शरीर प्रमाण के अतिरिक्त समुद्घात के समय ऐसी योग्यता भी जीव में होती है – ऐसा यहाँ बताया है।

२. कषाय समुद्घातः- तीव्र क्रोधादि कषाय होते ही मूल शरीर को बिना छोड़े आत्मा के प्रदेश दूसरे को मारने के लिए शरीर से बाहर निकलें, उसको कषाय समुद्घात कहते हैं। देखिये! किसी जीव को तीव्र क्रोध होता है, तब उसको ऐसा समुद्घात होता

है। उसको स्वयं को उसकी (प्रदेशों की) खबर नहीं होती तो भी उसके असंख्यप्रदेशों की ऐसी पर्याय हो जाती है। तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया अथवा तीव्र लोभ – इन चार कषायों के निमित्त से ऐसा समुद्घात हो जाता है। सामनेवाले जीव को मार नहीं सकता, बिगाड़ भी नहीं सकता। वैसे खबर भी नहीं होती कि यह समुद्घात है, लेकिन किसी जीव को तीव्र क्रोधादि कषाय में ऐसा हो जाता है।

३. विक्रिया समुद्घातः– किसी प्रकार के काम आदि जनित विक्रिया होने से जो समुद्घात होता है, वह विक्रिया समुद्घात है। देव भगवान के समीप नृत्य करें, तब अनेक प्रकार की विक्रिया करते हैं, नारकी देह की विक्रिया करते हैं। भगवान के समीप इन्द्र नृत्य करे, तब हजारों रूप बनाता है; उसमें आत्मा के प्रदेश भी उसप्रकार से फैलते हैं, इसको विक्रिया समुद्घात कहते हैं। चक्रवर्ती वगैरह को भी विक्रिया होती है। निश्चय से तो आत्मा में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का भी भेद नहीं है तो भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जैसे हैं; तदनुरूप यथार्थ ज्ञान तो करना चाहिए।

४. मारणान्तिक समुद्घातः– मरण के अन्तिम समय मूल शरीर को छोड़े बिना जहाँ की नवीन आयु बाँधी हो, वहाँ जाकर आत्मा के प्रदेश स्पर्श कर आते हैं, इसको मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। देखो! लोग कहते हैं कि जहाँ जाना है, वह स्थान देख आया है – यह बात तो असत्य है; लेकिन जीव के प्रदेशों की किसी समय ऐसी लायकात – योग्यता होती है कि जहाँ जाना होता है, वहाँ उसके प्रदेश जाकर वापस आते हैं। उसको स्वयं को उसकी (प्रदेशों की) खबर नहीं होती। ऐसा समुद्घात किसी को होता है, किसी को नहीं होता है। जिसकी योग्यता हो, उसको होता है; सबको नहीं होता। इस समुद्घात के साथ सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि का सम्बन्ध नहीं है।

इन सभी समुद्घातों में यह बात समझ लेना कि जिस जीव की उसप्रकार की योग्यता हो, उसको ही ये समुद्घात होते हैं; सब जीवों को नहीं होते। देखो! यह केवलीगम्य स्वरूप है, यह तर्क का विषय नहीं है।

५. तैजस समुद्घातः– इसके दो भेद हैं– शुभ और अशुभ। यह समुद्घात मुनियों को ही होता है। स्वयं के मन में अनिष्ट भाव उत्पन्न होने के कारण रूपी पदार्थ को देखकर जिस के मन में क्रोध उत्पन्न हो – ऐसे मुनि के बायें कंधे से एक पुतला

निकलता है। सिन्दूरी रंग और ठिगने कद का कान्तिवाला तथा बारह योजन लम्बा, भूम्यंगुलि के संख्यातवें भाग प्रमाण मूल विस्तारवाला तथा नवयोजन चौड़ा विस्तारवाला, बिल्ली के आकार को धारण करनेवाला पुतला निकलता है। वह बायीं ओर प्रदक्षिणा देकर, मुनि को जिसके ऊपर क्रोध हुआ हो, उस पदार्थ को जला देता है; फिर वह मुनि को भी जला देता है और स्वयं भी जल जाता है। मुनि नरक में जाता है। इससमय जीव के प्रदेश मूल शरीर को छोड़े बिना बाहर फैलते हैं। इसका नाम अशुभ तैजस समुद्घात है।

जैसे द्वीपायन मुनि को क्रोध होने से उनके शरीर में से पुतला निकला और द्वारिका को जला डाला, उससमय अशुभ तैजस समुद्घात हुआ। श्री नेमिनाथ भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा कहा गया था कि बारह वर्ष के पश्चात् द्वीपायन मुनि द्वारा द्वारिका भस्म हो जायेगी। तब द्वीपायन को ऐसा लगा कि मैं दूर चला जाऊँ, जिससे मेरे द्वारा द्वारिका न जले। देखिये! इनको जिनवाणी की श्रद्धा नहीं थी। फिर बारह वर्ष पूरे हुए, पहिले वे द्वारिका आते हैं, वहाँ राजकुमार शराब के नशे में उनको पत्थर मारते हैं और द्वीपायन मुनि क्रोधित होते हैं, तैजस समुद्घात होकर द्वारिका को भस्म करते हैं। देखो! क्रोध हुआ, इसलिए ऐसा समुद्घात हुआ – ऐसा भी यथार्थ नहीं है। जीव के प्रदेशों की ही उसप्रकार की योग्यता है। अशुभ तैजस समुद्घात में क्रोध का निमित्त है और शुभ तैजस समुद्घात में करुणा का निमित्त है। कोई महारोग, दुष्काल आदि से जगत को पीड़ित देखकर जिनको करुणा उत्पन्न हुई है – ऐसे परम संयमनिधान महर्षि के शरीर के दाहिने कंधे से पूर्वोक्त माप का सुन्दर सौम्य आकार का पुतला निकलता है और दाहिनी ओर प्रदक्षिणा करके दुर्भिक्ष रोग इत्यादि दूर कराके वापिस शरीर में प्रवेश कर जाता है। इसे शुभ तैजस समुद्घात कहते हैं। देखो! मुनि-अवस्था में ऐसा करुणा का भाव भी किसी समय आ जाता है। ऐसी करुणा आये, उससे कुछ मिथ्यात्व नहीं हो जाता। यहाँ शुभ तैजस में मुनि को परम संयमनिधान कहा और अशुभ तैजस में परम शब्द का प्रयोग नहीं किया। देखो! असंयमी जीव पर करुणा आये, वह पाप नहीं है; पुण्य है। मुनि-दशा में भी ऐसा भाव आता है। अज्ञानी जीव उसको पाप मानते हैं; – यह बात झूठी है। समक्ष के जीवों की रक्षा हो और भविष्य में वे पाप करें, उसका पाप मुनि को नहीं है। और कोई शुभभाव से, अनुकंपा से धन देकर पशु को छुड़ाये,

वह भी पाप नहीं है, शुभभाव है।

अरे! अन्तर में चैतन्य की सुख-शैय्या का जो मोक्षमार्ग है, उसको अज्ञानी जीवों ने तहस-नहस कर डाला है। देखिये, इन जीवों के प्रदेशों का स्वभाव! अन्दर करुणा का भाव आने से कोई को ऐसा समुद्घात होता है। लेकिन दया आयी, इसलिए ऐसा समुद्घात हुआ - ऐसा नहीं है। देखो! कुदरत (प्रकृति) में ऐसा मेल है कि क्रोध के समय बाँये कंधे से पुतला निकलता है और करुणा के समय दाहिने कंधे से निकलता है। करुणा के विकल्प समय भी सभी मुनियों को ऐसा नहीं होता। जिसको वैसी योग्यता और वैसी ऋद्धि हो, उसको ही ऐसा समुद्घात होता है।

इसमें शुभभाव है, पुण्य है। असंयमी जीव बचकर फिर पाप करे, इससे उसका पाप कुछ बचानेवाले को नहीं लगता। बचानेवाले ने शुभभाव किया, उसका उसको पुण्य है। छठवें गुणस्थान में झूलते परम संयमी भावलिंगी संत को भी करुणा का भाव आ जाता है। उसको जो पाप मानता है, उसको तो जैनदर्शन के स्थूल व्यवहार की भी खबर नहीं है। गृहस्थ को अथवा मुनि को शुभ भाव आये, वह पुण्य है; वह धर्म नहीं है। भले, समक्ष का जीव असंयमी हो, लेकिन इस जीव को तो स्वयं के शुभभाव से पुण्य है। वह धर्म भी नहीं और पाप भी नहीं।

परम संयमी मुनि को करुणा होने से शुभ तैजस समुद्घात होता है। वहाँ उसके निमित्त से दुर्भिक्ष रोग आदि दूर हो जाते हैं - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। समक्ष वैसी योग्यता थी और यहाँ जीव के प्रदेशों में उसप्रकार की पर्याय की योग्यता थी। अशुभ तैजस समुद्घातवाले मुनि तो संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं। शुभ तैजस समुद्घातवाले मुनि संयम से भ्रष्ट नहीं होते।

६. आहार समुद्घातः- आहारक शरीर नाम की एक लब्धि होती है। यह लब्धि भावलिंगी संत को ही होती है। इस परमऋद्धि के धारक परमर्षि मुनिराज को जब पद अथवा पदार्थ में कुछ सूक्ष्म शंका पैदा हो, तब मस्तिष्क में से निर्मल स्फटिक जैसा सुन्दर रूप धारण करनेवाला एक हाथ का पुतला निकल कर अन्तर्मुहूर्त में जहाँ केवली भगवान विराजते हैं, वहाँ जाता है और केवली के दर्शन से मुनि को पद अथवा पदार्थ का निश्चय हो जाने से वापस वह पुतला मूलस्थान को आ जाता है।

शुभ तैजस समुद्घात की अपेक्षा इसमें विशेषता है। इसमें मस्तिष्क से पुतला निकलता है। ऐसा पुतला निकले, तब मुनि के आत्मा के प्रदेश भी उस प्रमाण से फैलते हैं, उससमय आहार समुद्घात होता है। इसका सार अन्त में ऐसा ग्रहण करना कि शुद्धात्मा की भावना भूला – इससे ऐसे शरीर का ग्रहण हुआ है। इसलिए शरीर का ममत्व छोड़कर देह से भिन्न ऐसी शुद्धात्मा की भावना करना।

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित छहों द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतंत्र हैं। उसमें जीव असंख्यप्रदेशी नित्य अवस्थित रहकर उसका संकोच विस्तार होता है, वह पर्याय की स्वतंत्रता है। यह बात चलती है। एक शरीर छोड़कर दूसरे भव में दूसरा शरीर धारण करने जाता है, वहाँ बीच में कार्माण और तैजस शरीरसहित गमन करता है। वहाँ पूर्व के शरीर प्रमाण जीव के अरूपी प्रदेशों का आकार रहता है। वह भी स्वतन्त्र योग्यता से है। कोई कहता कि मरण के बाद कुछ दिन घर के खपरा (नलिया)आदि स्थान पर रुका रहता है, यह बात तो खोटी (असत्य) है। एक दो अथवा तीन समय में ही दूसरा शरीर धारण करता है।

७. केवली समुद्घातः- किसी सर्वज्ञ केवलज्ञानी को तेरहवें गुणस्थान के अंत में दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण – ऐसे चार समय में आत्मा के प्रदेश चौड़े होते हैं और चार समय में क्रम से संकुचित होकर मूलशरीर प्रमाण हो जाते हैं। जड़कर्म अथवा ज्ञान के कारण से नहीं, लेकिन स्वतन्त्र उस जाति की योग्यता से यह अवस्था होती है और चार अघाति कर्म उसके कारण खिरते हैं। लोकपूरण समुद्घात के समय केवली भगवान के आत्मा के प्रदेश नरक क्षेत्र की अति शीत-उष्णता में भी फैलते हैं; तो भी स्वयं के अनन्त चतुष्टय को ही केवली भगवान अनुभव करते हैं, नरकक्षेत्र की प्रतिकूलता को अल्प मात्र भी अनुभव नहीं करते। एक द्रव्य का दूसरे के साथ कुछ संबंध नहीं है।

देखो! व्यंजनपर्याय-जीव के प्रदेशों का आकार अधिक चौड़ा हुआ, इससे अर्थपर्याय अर्थात् प्रदेशत्वगुण के अतिरिक्त शेष गुणों के परिणमन में घटती-बढ़ती नहीं होती। ऐसी बात सर्वज्ञ बिना नहीं होती।

अब इन पर नय की अपेक्षा कहते हैं। निश्चय से आत्मा त्रिकाल लोकाकाश-प्रमाण

असंख्यप्रदेशी है और व्यवहार से शरीर-प्रमाण तथा सात प्रकार के समुद्घात-प्रमाण छोटी-बड़ी अवगाहनावाला है। वर्त्तमान में गुरु-लघु अर्थात् छोटे-बड़े शरीर-प्रमाण से जीव कहा, वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है। और जीव का नित्य असंख्यप्रदेशपना है, वह निश्चय से है। लोकाकाश प्रमाण निज असंख्यप्रदेशों का धारक आत्मा है। ऐसा स्वभाव और स्वभाववान आत्मा भिन्न नहीं है।

यहाँ "वा" शब्द से ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि स्वयं संवित्ति (अतीन्द्रिय शुद्ध आत्मज्ञान) से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और केवलज्ञान उत्पन्न होता है। पर्याय के आश्रय से सम्यक्त्व और केवलज्ञान नहीं होता। संवर, निर्जरा, मोक्षपर्याय की भी अपेक्षा छोड़कर त्रिकाली स्वचैतन्यमूर्ति द्रव्यस्वभाव-उसका निश्चय संवेदन; उससे ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है, पराश्रय से अथवा व्यवहार से नहीं होता।

(१) आत्मा सर्वव्यापक है:- केवलज्ञान अवस्था में व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा को लोक-अलोक में व्यापक माना गया है, किन्तु स्वयं के असंख्य प्रदेशों में व्यापकत्व छोड़कर परक्षेत्र में व्यापक नहीं होता। सर्व को जानने की अपेक्षा से, व्यवहार से - उपचार से व्यापक कहा गया है। नैयायिक, मीमांसक, सांख्यमत वाले आत्मा को प्रदेशों की अपेक्षा व्यापक मानते हैं - ऐसा नहीं है।

(२) जड़:- पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों के जो शुभ-अशुभ विकल्प उनसे रहित जो अतीन्द्रिय स्वसंवेदन समाधि-ध्यानरूप ज्ञान से आत्मा में लीन होता है; उससमय उसके जो आत्मज्ञान में लीनता-एकाग्रता है, उसमें बाह्य विषयरूप इन्द्रियज्ञान का अभाव है, उस अपेक्षा से आत्मा को जड़ मानने में आता है। बाहर उपसर्ग, परीषह, संकल्प, विकल्प का विचार नहीं है; इस अपेक्षा से अतीन्द्रियज्ञान को जड़ कहा है। अपनी ओर की जागृति रही है और पर ओर की जागृति गयी है, लेकिन सांख्यमती जैसा आत्मा जड़ नहीं है।

किसी को प्रश्न होता है कि शास्त्रों द्वारा विशेष (बहुत) ज्ञान होता है, बाहर (बाह्य) का भी बहुत जाना जाता है तो वह ज्ञान का विकास आत्मा को जानते समय कहाँ गया? उससे कहते हैं कि बाह्य जानना (जानपना) कम हो या अधिक हो उसका मूल्य नहीं है, 'पर' ओर के विकल्परूप विकास अन्तर के लिए (चैतन्य को) आवश्यक नहीं

है। बाह्य विषयों को नहीं जानता, इसलिए ज्ञान कम हो गया – ऐसा नहीं है। अन्तर्मुख द्रव्यस्वभाव में एकाग्र हुआ उसको निर्मल वीतरागज्ञान में जागृति बढ़ी है, जड़ता नहीं। बाह्य में शरीर घाणी में पेला जाये, सिंह फाड़कर खा जाये तो भी ध्यान के समय उसको ज्ञान नहीं जानता। निश्चय से उससमय अखंड चैतन्य ज्ञानानन्द की जागृति है। व्यवहार में जड़ है। एक साथ दोनों ओर का लक्ष्य नहीं होता। पाँच इन्द्रियों के उपयोग को भूला, व्यवहारातीत हुआ, निश्चय स्वाश्रय स्वभावपने से अन्दर एकाग्र हुआ, तब मुनिदशा और केवलज्ञान दशा प्रकट होती है।

आत्मा स्वभाव की ओर के झुकाव से स्वसंवेदन में एकाग्र हुआ, उससमय इन्द्रिय की ओर के ज्ञान का अभाव है, इस अपेक्षा से आत्मा को जड़ कहा। यह बात करके ऐसा बताया कि बाह्य विषयों में जागृति न होने पर भी अन्तर में ज्ञान की जागृति बढ़ती है, साधक भाव की उग्रता बरतती है (रहती है)। इसलिए हे मूढ़ अज्ञानी! तू इन्द्रियज्ञान की महिमा छोड़। ध्यान के समय इन्द्रियज्ञान न होने पर भी साधक भाव की उग्रता है।

(३) शून्यः- और फिर आत्मा जब स्वसन्मुख होकर स्वभाव में ठहरा रहा, तब अंतर में उसको राग-द्वेषादि विभाव परिणामों का अभाव है। इस अपेक्षा से आत्मा शून्य भी है; किन्तु सर्वथा शून्य नहीं है, विभाव से शून्य है। सत्य को स्थापित किया और असत्य को उखाड़ा – दूर किया, ऐसा विकल्प भी अन्तरंग के ध्यान समय उठता नहीं है। 'सत्तास्वरूप' में ऐसा कहा है कि असत्य की प्ररूपणा सुनने से यदि अन्दर उसको दूर करने का – हटा देने का **तलाक** भाव न आये तो वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यहाँ तो उस विकल्पवाले जीव की बात है। यहाँ तो ध्यान के समय की बात है। विकल्प आता है, वह स्वयं की कमजोरी है। उस कमजोरी को दूर करके अप्रमत्त होकर स्वरूप में स्थिर हुआ, वहाँ ऐसी उग्रता हो जाती है कि विकल्प भी नहीं उठता; इसलिए वहाँ विभाव की शून्यता है। स्वयं के अनन्तज्ञानादि स्वभाव से भरपूर परिपूर्ण है और विभाव से खाली है। धर्मी को शासन की प्रभावना का भाव आता है, सत्य के जोर-शोर से स्थापना का भाव आता है, लेकिन वह राग है। जब चिदानन्द स्वरूप में स्थिर हुआ, तब तो वैसा राग भी नहीं होता; वहाँ राग की शून्यता है और ज्ञान की पूर्णता है। जहाँ ज्ञान की पूर्णता हुई, वहाँ राग की शून्यता है। बौद्धमत वाले ऐसा कहते हैं

कि जैसे दीपक में से काजल निकालने के लिए दीपक को ही बुझा देना चाहिए, वैसे आत्मा में से विकार निकालने के लिए ज्ञान का भी अभाव हो जाता है। यह बात असत्य है, उसका उदाहरण भी खोटा, असत्य है। काजल बिना के दीपक भी होता है, वैसे राग बिना का (रागरहित) ज्ञान भी रहता है। राग का नाश होने से कुछ ज्ञान का नाश नहीं हो जाता। आत्मा राग से रिक्त है, लेकिन ज्ञान से लबालब भरी हुई है।

(४) आत्मा को अणुमात्र कहा है, वहाँ अणु कहने से एक पुद्गल परमाणु न समझना; किन्तु अणु अर्थात् सूक्ष्म शरीर, उस शरीर प्रमाण आत्मा होता है। उस अपेक्षा से अणुमात्र कहा जाता है। निगोद के लब्धि अपर्याप्तक जीव को जो छोटे से छोटा शरीर होता है, वह आँख से दिखता नहीं - ऐसा सूक्ष्म है। उसको यहाँ अणु कहा है। वह अणुप्रमाण होने से आत्मा को अणुमात्र कहा है। उससमय भी असंख्यप्रदेश तो उतने के उतने ही हैं।

(५) गुरु कहने से एक हजार योजन का बड़ा शरीर समझना। एक हजार योजन का मत्स्य (मच्छ) होता है। उस शरीर प्रमाण आत्मा है, उस अपेक्षा से आत्मा 'गुरु' अर्थात् बड़े (विशाल) शरीर प्रमाण है। अणु और गुरु के बीच की जो अवगाहना है, वह मध्यम अवगाहना है। इसप्रकार जीव छोटे-बड़े शरीर प्रमाण है। इस शरीर प्रमाण यह व्यवहारनय से है और असंख्यात प्रदेशी यह निश्चयनय से है।

इसप्रकार नयार्थ कहा। अब भावार्थ अर्थात् गाथा का तात्पर्य कहते हैं।

यहाँ इस गाथा का तात्पर्य यह है कि चैतन्य को भूलकर देह के ममत्व के कारण देह को धारणकर जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अतएव इस देहादि के ममत्व को छोड़ कर निर्मोह ऐसे स्वयं के शुद्ध चिदानन्दस्वभाव को पहिचान कर उसकी भावना करना - ऐसी शुद्ध आत्मा की भावना करने से देह का अभाव होकर शुद्ध सिद्धदशा प्रकट होती है। आत्मा को देहमात्र कहा, वह कुछ देह की भावना करने के लिए नहीं कहा। किन्तु देह से भिन्न चिदानन्दमूर्ति आत्मा को जानकर उसकी भावना करना - यह तात्पर्य है। अतएव देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व क्या है? उसको पहिचान कर शुद्ध जीव की भावना भाना॥१०॥

❑❑❑

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-११

इसप्रकार तीन गाथाओं द्वारा नय विभाग पूर्वक संसारी जीव का स्वरूप और उसके अंत में शुद्धजीव का स्वरूप कहते हैं:-

पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी॥११॥

पृथिवीजलतेजोवायुवनस्पतयः विविधस्थावरैकेन्द्रियाः।
द्विकत्रिकचतुःपञ्चाक्षाः त्रसजीवाः भवन्ति शंखादयः॥११॥

भूजलानलवनस्पति अर वायु थावर जीव हैं।
दो इन्द्रियों से पाँच तक शंखादि सब त्रस जीव हैं॥११॥

गाथार्थ :- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि विविध प्रकार के स्थावर, एकेन्द्रिय जीव हैं और शंखादि दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रियवाले त्रस जीव हैं।

टीका :- **होंति** आदि पदों की व्याख्या की जाती है। **होंति** छद्मस्थ जीव, अतीन्द्रिय अमूर्त निजपरमात्मस्वभाव की अनुभूति से उत्पन्न सुखरूपी अमृतरस स्वभाव को प्राप्त न करता हुआ, इन्द्रियसुख तुच्छ होने पर भी उसकी अभिलाषा करता है। उसमें आसक्त होकर एकेन्द्रियादि जीवों का घात करता है, उस जीवघात से उपार्जित त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से जीव होते हैं। कैसे होते हैं? **पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी** पृथ्वी,जल, तेज, वायु और वनस्पति - ऐसे प्रकार के होते हैं। आगम में कहे हुए अपने-अपने अनेकप्रकार के अवान्तर भेदसहित हैं। स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर, एकेन्द्रियजाति नामक कर्म के उदय से स्पर्शेन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होते हैं। वे मात्र ऐसे स्थावर ही नहीं होते। **विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा** दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रियोंवाले त्रस नामकर्म के उदय से, त्रस जीव भी होते हैं। वे कैसे हैं? **संखादी** शंख आदि। स्पर्शन और रसना - इन दो इन्द्रियोंवाले शंख, छीप (सीप), कृमि आदि दो इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण - ये तीन इन्द्रियवाले कुन्थु, पिपीलिका (कीड़ी, चींटी), जूँ, खटमल आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु - ये चार इन्द्रियोंवाले डाँस, मच्छर, मक्खी, भौंरा आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय - ये पाँच इन्द्रियोंवाले मनुष्यादि पंचेन्द्रिय जीव हैं।

सारांश यह है कि – विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निज परमात्मा के स्वरूप की भावना से उत्पन्न पारमार्थिक सुख को प्राप्त न करते हुए, इन्द्रिय सुख में आसक्त जीव एकेन्द्रियादि जीवों का वध करके त्रस और स्थावर होते हैं – इसप्रकार पूर्व में कहा है, अत: त्रस और स्थावर में उत्पत्ति न हो, उसके लिए उसी परमात्मा में भावना करना चाहिए॥११॥

गाथा ११ पर प्रवचन

अब तीन गाथाओं में १४ मार्गणास्थान, १४ जीवसमास, १४ गुणस्थान द्वारा सर्व संसारी जीवों का स्वरूप नयविभाग से कहते हैं – व्यवहारनय से देखो तो वर्तमान पर्याय में संसारीपना होने पर भी निश्चयनय से तो सर्वसंसारी जीव सिद्ध परमात्मा समान शुद्ध हैं।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति के भेदों से अनेक प्रकार के स्थावर जीव हैं, वे सब स्वयं की ही योग्यता से एक स्पर्शन इन्द्रिय को ही धारण करते हैं और वह शुद्ध चिदानन्द स्वभावी अपनी वस्तु की विराधना से स्वयं किये हुए अपराध का फल है। तथा शंखादि दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव हैं। उनको कोई ईश्वर ने किया (बनाया) नहीं है। किसी (कोई) कर्म के कारण उनको ऐसी दशा में भटकना, दु:ख उठाना पड़ता है – ऐसा भी नहीं है।

यद्यपि प्रत्येक जीव अतीन्द्रिय अमूर्तिक ज्ञायक अविकारी निज परमात्मस्वभावी है, तथापि स्वयं के अनाकुल आनन्दरूप अनुभव से उत्पन्न सुखरूपी अमृतरस को न पाकर स्वयं ही भूला हुआ है और तुच्छ इन्द्रियों के अवलम्बन से उत्पन्न आकुलतामय सुख की अभिलाषा किया करता है।

ज्ञानी साधक तो पूर्ण ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से निर्मल विकास में जागृत है। अज्ञानी वर्त्तमान हीन पर्याय में रुका हुआ है। देखो, स्वयं की भूल से एकेन्द्रिय आदि में भटकता है।

कोई नामधारी विद्वान कहता है कि एकेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को कर्म का जोर है, इससे संसार में घूमता है। तब यहाँ टीकाकार कहते हैं कि अतीन्द्रिय अमृतानन्द स्वभाव को प्राप्त नहीं करता है, वह जीव की स्वयं की भूल है; कोई काल,

क्षेत्र, संयोग, कर्म अथवा ईश्वर ने भूल करायी है - ऐसा नहीं है। अज्ञानी त्रिकाल मुक्तानन्द चैतन्य की रुचि-प्रतीति नहीं करता है और पर इन्द्रिय की ओर, वर्त्तमान पर्याय की ओर के झुकाव से पर में सुख मानता है। ज्ञानी पर से राग-द्वेष अथवा सुख-दु:ख नहीं मानता है, इसलिए ज्ञानी को गृहस्थावस्था में विषयों की ओर अल्प राग होने पर भी उसको विषयों में सुख की अभिलाषा नहीं है, वह तो ज्ञानानन्द निधि में निरन्तर संतोषी है; इसलिए एकेन्द्रिय आदि में उत्पन्न नहीं होता।

अज्ञानी स्वयं को भूलकर विषयों की इच्छा करता है। ज्ञानानन्द निधि को भूलता है और इन्द्रिय सुख में आसक्त होकर एकेन्द्रिय आदि जीवों का घात करता है, उस त्रस-स्थावर नामकर्म के उदय से और स्वयं की योग्यता से पृथ्वी आदि रूप होता है। वह जीव स्पर्शन इन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होता है। मात्र स्थावर ही नहीं होता, किन्तु त्रस नामकर्म के उदय से दो, तीन, चार और पंचेन्द्रियधारी त्रस भी होता है। शंख आदि ने स्पर्शन, रसना - ये दो भाव इन्द्रियरूप अल्प विकास को पाया-प्राप्त किया। वह स्वयं की पर्याय की योग्यता से पाता है और उसके योग्य द्रव्य इन्द्रिय का संयोग मिलता है। किसी का कर्त्ता कोई नहीं है। जो पंचेन्द्रिय तक का जितना क्षयोपशम (उघाड़, विकास) प्राप्त करता है, उसको उतनी जड़ इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं।

यहाँ तात्पर्य यह है कि निर्मलज्ञान, दर्शन, आनन्दस्वभाव के धारक निज परमात्मरूप आत्मा की भावना से उत्पन्न पारमार्थिक सुख को जो जीव विपरीत पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं करता, वह इन्द्रियसुख में आसक्त होकर हिंसक होता है; त्रस, स्थावर में उत्पन्न होता है। उसके नाश (नष्ट) करने के लिए पूर्वोक्त प्रकार से शुद्ध परमात्मस्वरूप में भावना - एकाग्रता करना योग्य है। वह एक समय में त्रिकाली ज्ञानानन्द से भरा हुआ है। उसकी श्रद्धा, रुचि, तन्मयता कर उसकी ही भावना करना योग्य है॥११॥

❑❑❑

जिसप्रकार सिद्धलोक में सिद्ध परमात्मा हैं, उसीप्रकार इस देह-देवालय में निज परमात्मा विराजता है और वही उपादेय है। पर का मैं करूँ - इस ओट में देह-देवालय में विराजमान परमात्मा स्वयं अपने को भासित नहीं होता-दिखता नहीं है। यथार्थ रीति से देखें तो अशुचिमय देह-देवालय में विराजमान देह से भिन्न महापवित्र प्रभु स्वयं है। देह तो वेदना की मूर्ति है, भगवान आत्मा देह की भाँति अशुचि नहीं है। देह तो हड्डी, मांस, रक्त, वीर्य की थैली है। - **द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१५८**

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-१२

अब वही त्रस और स्थावरपना चौदह जीवसमास रूप से प्रकट करते हैं।

समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य॥१२॥

समनस्का: अमनस्का:ज्ञेया: पंचेन्द्रिया: निर्मनस्का: परे सर्वे।
बादरसूक्ष्मैकेन्द्रिया सर्वे पर्याप्ता: इतरे च॥१२॥

पंचेन्द्रियी संज्ञी-असंज्ञी शेष सब असंज्ञी ही हैं।
एकेन्द्रियी हैं सूक्ष्म-बादर पर्याप्तकेतर सभी हैं॥१२॥

गाथार्थ :- पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी - ऐसे दो प्रकार के जानना। शेष सब जीव मनरहित असंज्ञी हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं। ये सब जीव पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं।

टीका :- **समणा अमणा** समस्त शुभाशुभ विकल्परहित परमात्मद्रव्य से विलक्षण अनेक प्रकार के विकल्पों के जाल रूप मन है। जो जीव उस मन सहित हों, उन्हें समनस्क-संज्ञी और उनसे विपरीत (अर्थात् मनरहित) हों, उन्हें अमनस्क-असंज्ञी, **णेया** जानना। **पंचिंदिय** ऐसे अर्थात् संज्ञी और असंज्ञी - इन दो भेदवाले पंचेन्द्रिय जीव होते हैं। इसप्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय - इन दो भेदवाले तिर्यंच ही होते हैं। नारकी, मनुष्य और देव संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। **णिम्मणा परे सव्वे** पंचेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य सब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव अमनस्क ही होते हैं। **बादरसुहमेइंदी** बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव हैं; वे भी, आठ पाँखड़ीवाले कमल के आकारवाला जो द्रव्यमन और उसके आधार से शिक्षा, वचन, उपदेशादि को ग्रहण करनेवाला जो भावमन - इन दोनों से रहित होने के कारण असंज्ञी ही हैं। **सव्वे पज्जत्त इदरा य** उपर्युक्त प्रकार से संज्ञी और असंज्ञी रूप से पंचेन्द्रिय के दो भेद, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियरूप से विकलत्रय के तीन भेद तथा बादर और सूक्ष्मरूप से एकेन्द्रिय के दो भेद - ऐसे कुल सात भेद हुए। **आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणो। चत्तारिपंचछप्पियइंदियविलसण्णिसण्णीणं**॥ आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन - ये छह पर्याप्ति हैं। इनमें से एकेन्द्रिय जीव को चार (आहार, शरीर, स्पर्शेन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास), विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को (मन के अतिरिक्त)

पाँच और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को छह पर्याप्ति होती हैं। इस गाथा में कहे हुए क्रम से सब (सात प्रकार के) जीव अपनी-अपनी पर्याप्ति पूर्ण होने से पर्याप्त होते हैं अर्थात् ये सात पर्याप्त होते हैं। और अपनी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होने से सात अपर्याप्त होते हैं। इस प्रकार चौदह जीव-समास जानना।

इन्द्रिय, काय आयुष - ये तीन प्राण पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों को होते हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्त को ही होता है। पर्याप्त अवस्था में संज्ञी पंचेन्द्रियों को दस प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रियों को (मन के बिना) नौ प्राण, चतुरिन्द्रिय को (मन और कर्णेन्द्रिय के बिना) आठ प्राण, त्रीन्द्रिय को (मन, कर्ण और चक्षु इन्द्रिय के बिना) सात प्राण, द्वीन्द्रिय को (मन, कर्ण और घ्राणेन्द्रिय के बिना) छह प्राण और एकेन्द्रिय को (मन, कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना तथा वचन के बिना) चार प्राण होते हैं। अपर्याप्त जीवों में संज्ञी तथा असंज्ञी - इन दोनों पंचेन्द्रियों को श्वासोच्छ्वास, वचनबल और मनोबल के बिना सात प्राण होते हैं और चतुरिन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक क्रम-क्रम से एक-एक प्राण घटता है, इन दोनों गाथाओं में कहे हुए क्रमानुसार यथासंभव इन्द्रियादिक दश प्राण समझना।

यहाँ भावार्थ यह है कि इनसे (इन्द्रियों, पर्याप्तियों, प्राणों आदि से) भिन्न निजशुद्धात्मतत्त्व उपादेय है॥१२॥

गाथा १२ पर प्रवचन

पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी, असंज्ञी - ऐसे दो प्रकार के होते हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय - ये सब मनरहित असंज्ञी हैं। एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं तथा यह कहे हुए सातों पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। ऐसे चौदह जीवसमास हैं। वे सब पर्याप्त और अपर्याप्त जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मन - इन छह पर्याप्तिरूप स्वयं की वर्त्तमान योग्यता से होते हैं।

सर्वप्रकार के शुभ-अशुभ विकल्प आस्रव हैं, बंध का कारण हैं। जिस भाव से सर्वार्थसिद्धि का भव - पर्याय मिले अथवा तीर्थंकर नामकर्म बाँधा जाये, वह आस्रव है, बंध का कारण है।

यहाँ कहते हैं कि असंज्ञी मनरहित है, वह अवस्था बदल कर संज्ञी मनवाला क्यों हुआ? स्वयं की योग्यता से हुआ। जैसे पुद्गल की वर्त्तमान पर्याय में दूसरे पुद्गल द्रव्य

की वर्तमान पर्याय का अभाव है, अन्योन्याभाव है और एक वस्तु में दूसरे द्रव्य का अत्यन्त अभाव है; उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा का निर्विकल्प शुद्ध परमात्मरूप है; उसमें कर्म, शरीर और सर्व शुभाशुभ विकार का अत्यन्त अभाव है। भगवान आत्मा द्रव्यस्वभाव से सदा अविकारी है। विकार-उदयभाव, वह पर्याय-अपेक्षा से जीव का स्वतत्त्व है, किन्तु द्रव्यस्वभाव वह विकारी अंश से सर्वथा भिन्न है। महाव्रतादि शुभ राग व्यवहार है, वह आत्मस्वभाव के लिए व्यर्थ है; क्योंकि वह एक समय का अरूपी विकार त्रिकाल द्रव्यस्वभाव में नहीं है, इसलिए वह अभूतार्थ है।

पुण्य-पाप के लक्षण द्वारा आत्मद्रव्य नहीं पहचाना जाता, पुण्य-पाप वह विकल्प जाल है। दान देने के शुभ राग से तथा अनुकम्पा से संसार-पार नहीं होता, किन्तु पुण्य होता है। कोई ऐसा कहते हैं कि मेघकुमार ने हाथी के भव में खरगोश की दया पाली और इससे संसार पार किया, तो यह बात न्याय विरुद्ध है; क्योंकि शुद्ध सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) बिना संसार नहीं घटता। किसी भी प्रकार का शुभ-अशुभ भाव, वह विकल्प जाल है। वह जीव का स्वरूप नहीं है और किसी भी जीव को शुभ विकल्प जालों से मोक्षमार्गरूप धर्म होता नहीं है। मन द्वारा शुभाशुभ राग होता है, उस परावलम्बी मनोदशा से छूटकर निर्विकल्प ज्ञायक मात्र स्वभाव से ही धर्म होता है।

यदि कोई जीव संयोग से सुख-दु:ख मानता है, तो उसको असंयोगी स्वभाव की अरुचि-अश्रद्धा है और खंड-खंडरूप अंश की रुचि है; उसको निमित्ताधीन दृष्टि है। इससे विपरीत जो जीव एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की कोई भी अवस्था में स्वयं की पर्याय की योग्यता से सुखी-दु:खी हैं - ऐसा मानता है, उसको स्वतन्त्र स्वभाव की रुचि है। विकारी अंश भी स्वयं की पर्याय का विभाव स्वभाव है - ऐसा जाने तो निर्मल स्वभाववान द्रव्य की दृष्टि हुए बिना नहीं रहती।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस आत्मा की वर्तमान पर्याय हीन है, मन सहितपना (संज्ञी) अथवा मनरहितपना (असंज्ञी) है, अल्पज्ञपना भी है; वह संसारदशा है, रोग है और यह बात ठीक है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि 'है' तो वह किससे है? और कैसे दूर हो? उसका उपाय करना चाहिए। जैसे वैद्य है, वह रोगी को रोग, रोग का कारण और निरोगता का उपाय समझाता है। उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि तेरी वर्तमान अल्पज्ञता से मनसहित

जानता है, यह सब संसारी अवस्था (संसारीपना) है। स्वतंत्र ज्ञायकतत्त्व का विरोध करके तू संज्ञी और असंज्ञीपने की अवस्था को धारण करता है। मन के अवलम्बन में रुककर-अटककर काम करता है, यह तेरी पराधीन दशा है। वह अशुद्धता तेरी स्वतन्त्रता बतलाती है। पंचेन्द्रिय जीव सैनी और असैनी होते हैं। तिर्यंच में ही ये दो भेद होते हैं, संमूर्च्छन मनुष्य भी संज्ञी ही है। कोई कहता है कि असंज्ञी पंचेन्द्रिय नारकी में (नरकगति में) पर्याप्त न हो, वहाँ तक वह असंज्ञी है। सनातन शाश्वत सिद्धान्त कहता है कि नरक में पैदा होने के लिए जानेवाला वह जीव मार्ग में भी (विग्रहगति) संज्ञी है। यहाँ भी कहते हैं कि नारक (नारकी), मनुष्य तथा देव - ये संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं।

लोग संयोगों से सुख-दुःख मानते हैं, किन्तु वह वस्तु का स्वरूप नहीं है। नारकी की अपेक्षा एकेन्द्रिय को अनन्तगुणा दुःख है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का विरोध कर ज्ञान सामर्थ्य (शक्ति) हार गया है और चार इन्द्रियों संबंधी ज्ञानरहित हुआ है; इसलिए एकेन्द्रिय जीव नारकी से महान दुःखी है। वनस्पति देखने में हरी सुन्दर दिखती है, किन्तु महती मूढ़ता (महान अज्ञान) और तीव्र कषाय वेदन से महान दुःखी है। वर्त्तमान पर्याय में ज्ञान अत्यन्त अल्प हो गया है, वही महान दुःख है। नारकियों में छेदन-भेदन अग्नि आदि का दुःख नहीं; वृक्ष से काटा जाता है, उसका उस जीव को दुःख नहीं है, शरीर से रक्त चला जाये आदि संयोग से दुःख नहीं है; किन्तु असंयोगी ज्ञानस्वभाव के विरोधरूप संयोगी बुद्धि का ही दुःख है। पर्याय व्यक्त (प्रत्यक्ष) बाह्य है, द्रव्य-गुण अप्रकट शक्तिरूप हैं। जिसको व्यक्त पर्याय की स्वतन्त्रता की श्रद्धा नहीं है, वह जीव द्रव्य-गुण की स्वतन्त्रता की दृष्टि कर नहीं सकता है। विभाव भी स्वतन्त्र तेरे से, हीनता (अल्पता) भी तेरे से और निर्मल विकास भी तेरे से है। ऐसे स्वतंत्र स्वभाव को देख!

मन की ओर के झुकाव में शुभाशुभ विकल्प है, वह स्वयं के स्वतन्त्र अपराध से है। ऐसा न जाने; उसको मन, इन्द्रिय और रागरहित एक ज्ञायक हूँ - ऐसी श्रद्धा करने की सामर्थ्य नहीं है। बादर तथा सूक्ष्म एकेन्द्रियरूप अल्पदशा धारण की, तब उस जीव को आठ पंखुड़ियों के विकसित कमल के आकार जो द्रव्य मन है, उसका और उसके अवलंबन से शिक्षा, वचन, उपदेश आदि को ग्रहण करनेवाला भाव मनरूप ज्ञान का क्षयोपशम - इन दोनों का अभाव होता है; इससे वह असंज्ञी ही है।

संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, दो, तीन, चार इन्द्रियवाले विकलत्रय (अपूर्ण इन्द्रियवाले) तथा बादर, सूक्ष्म एकेन्द्रिय – ये सात भेद हुए, उनके पर्याप्त और अपर्याप्त – ऐसे कुल १४ भेद जीव के हुए।

तथा आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा तथा मन – ये छह पर्याप्ति हैं। उनमें से एकेन्द्रिय के चार पर्याप्ति होती हैं, संज्ञी पंचेन्द्रिय के छह होती हैं, शेष जीवों के मनरहित पाँच पर्याप्ति होती हैं। ये सभी वर्त्तमान पर्याय की योग्यता अशुद्धनय से जीवों का स्वतत्त्व हैं। आत्मा स्वभाव से तो भगवान है; किन्तु पर्याय में जड़ की ऋद्धि, अल्पज्ञता भी पर्याप्ति की उपाधि है, यह सभी पराधीनता की अवस्था बतलाती है।

अशुद्धनय से प्राण, पर्याप्ति, गुणस्थान, मार्गणा में जीव रहते हैं, प्रवर्तते हैं। शुद्धनय से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की सभी अवस्था में सभी आत्मायें भगवान हैं, प्रभु हैं। १४ ब्रह्माण्ड (तीन लोक) में सभी आत्मायें चिदानन्द अमृतलता के फल हैं, अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड है; द्रव्यस्वभाव की अधिकता, प्रभुता है; और वर्त्तमान पर्याय की हीनता, तुच्छता है – ऐसा जानकर अति दुर्लभ अवसर में इस शुद्धात्मा को समझने का शुभ प्रसंग जानकर अशरीरी सिद्धस्वरूप जानो।

शरीर, मन, भाषा, पर्याप्ति, शुभ विकल्प से भी मैं पृथक् हूँ – ऐसा जानकर एक शुद्ध परमात्मस्वरूप को ग्रहण कर, यही एक शरण है। कोई परद्रव्य या परदेवादि तुझे शरणरूप नहीं है; जो तुझे पराधीन दीन-हीन बताये, वह सुदेव, सुगुरु नहीं है। यहाँ तो प्रत्येक गाथा में स्वतन्त्रता की दृष्टि करायी, पर से भिन्न बताया, स्वाधीन सुख का अक्षय भण्डार तू है, इसका अनुभव करने की बात कही है। कोई संयोगी वस्तु इष्ट-अनिष्ट नहीं है। मोटा कपड़ा किसी को किसी समय अच्छा लगता है और फिर अच्छा नहीं लगता है। बरसात किसी को ठीक लगती है और किसी को ठीक नहीं लगती है, लेकिन कोई परवस्तु इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं है। पूर्णरूपेण शुद्ध आत्मा, वह इष्ट है और आत्मा को अशुद्धपर्याय अनिष्ट है – ऐसा भान करके पर से भिन्न स्वयं का शुद्ध आत्मतत्त्व है, वही निरन्तर ग्रहण करने योग्य है।

अब शुद्ध पारिणामिक परमभाव का ग्राहक (जाननेवाला) जो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है; इस अपेक्षा से सर्व आत्मा सर्व संसारी जीव हैं, वे शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं। सभी आत्मायें नित्य केवलज्ञान परमानन्द के कंद हैं। शक्तिरूप से सतत पूर्ण शुद्ध

स्वभाव से लबालब (पूर्ण) भरे हुए हैं। उदय, क्षयोपशमादिभाव में निमित्त की अपेक्षा है और क्षायिकभाव में निमित्त के अभाव की अपेक्षा है। दोनों अपेक्षारहित, त्रिकाल निरपेक्ष शुद्ध चिदानन्द द्रव्यस्वभाव, वह जीवतत्त्व (वस्तु) है। संसार, वह उदयभाव है; उपशम सम्यकत्व और उपशमचारित्र, वह नवीन पर्याय अनित्य है; वह भी जीवद्रव्य नहीं है। वह निर्मल पर्याय होने पर भी उसको गौण करके असली (शुद्ध) पूर्णस्वभाव की दृष्टि करना, यह अपूर्व और सुखी होने का उपाय है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं- लोगों ने मिश्री के नारियल (श्रीफल) की खूब प्रशंसा की, खूब गीत गाये; लेकिन यहाँ तो सारा नारियल अमृत का ही है। सभी आत्मायें पूर्ण अमृत-आनन्द का अविनाशी नारियल हैं।

त्रिकाल सामान्य शुद्ध ध्रुवस्वभाव को ग्रहण करने का जिसका प्रयोजन है, ऐसी शुद्ध दृष्टि से देखें तो संसारी सभी जीव शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव के धारक प्रभु हैं। निगोद के जीव जो कि अभी तक कभी दो इन्द्रिय नहीं हुए हैं, वे भी सभी पूर्ण परमात्मशक्ति के भंडार हैं। वस्तु स्वभाव तो सदा ऐसा है तो भी वर्त्तमान भेद भंग (नयापेक्षा) से अवस्था को देखो तो १४ मार्गणास्थान तथा १४ गुणस्थान सहित हैं। यहाँ व्यवहारनय से नहीं कहा, क्योंकि स्वयं के कारण से पर्याय में भूले हुए जीव को अनेक प्रकार से अशुद्धता होती है। संसार का व्यय और मोक्ष की उत्पत्ति - यह भी अशुद्धनय का विषय है। कारण कि वह भेद है और उस भेद पर से भी लक्ष्य छुड़ाना है। जीव है, वह शुद्ध पारिणामिक भाव से सदा शुद्ध है और अशुद्धनय से पर्याय में अशुद्ध है। जो शुद्ध है, वही अशुद्ध है, यह सुनते ही अज्ञानी को आश्चर्य (अपूर्वता) लगता है; लेकिन जो द्रव्य स्वभाव से शुद्ध है, वही पर्याय में अशुद्ध है।

कोई कहे लीला रे अलख-अलख तणी रे, लख पूरे मन आस।
दोष रहित ने लीला न विघटे रे, लीला दोष विलास॥

कोई ईश्वर को जगत की सृष्टि का कर्त्ता मानता है, लेकिन वह तो दोष का विलास है; किन्तु संसार में जितने जीव हैं, वे स्वयं के स्वभाव से पूर्ण शुद्ध प्रभु होने पर भी स्वयं स्वभाव से भूले हैं। वह स्वयं की पर्याय का दोषरूप विलास है, उसका कर्त्ता अशुद्ध निश्चयनय से जीव है। कोई ईश्वर कर्म वगैरह कराये अथवा कोई देव, गुरु तार दे (कल्याण कर दे) - ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। ❑❑❑

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-१३

अब शुद्ध-पारिणामिक-परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाववाले हैं तो भी पश्चात् अशुद्धनय से चौदह मार्गणास्थान और चौदह गुणस्थान सहित होते हैं – इसप्रकार प्रतिपादन करते हैं:-

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥१३॥

मार्गणागुणस्थानैः चतुर्दशभिः भवन्ति तथा अशुद्धनयात्।
विज्ञेयाः संसारिणः सर्व्वे शुद्धाः खलु शुद्धनयात्॥१३॥

भवलीन जिय विध चतुर्दश गुणथान मार्गणथान से।
अशुद्धनय से कहे हैं पर शुद्धनय से शुद्ध हैं॥१३॥

गाथार्थ :- सर्व संसारी जीव अशुद्धनय से मार्गणास्थान और गुणस्थान की अपेक्षा से चौदह-चौदह प्रकार के हैं। शुद्धनय से यथार्थ में सब संसारी जीव शुद्ध जानना।

टीका :- **मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया** जिस प्रकार पूर्व गाथा में कहे हुए चौदह जीव समासों से जीव चौदह भेदवाले होते हैं, उसीप्रकार मार्गणा और गुणस्थान से भी होते हैं – इसप्रकार जानना। (मार्गणा और गुणस्थान से) कितनी संख्यावाले होते हैं? **चउदसहि** प्रत्येक चौदह-चौदह संख्यावाले होते हैं। किस अपेक्षा से? **असुद्धणया** अशुद्धनय की अपेक्षा से। इसप्रकार के कौन होते हैं? **संसारी** संसारी जीव होते हैं। **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** वे ही सब संसारी जीव शुद्ध हैं अर्थात् जिनका सहजशुद्धज्ञायक एकस्वभाव है – ऐसे हैं। किस अपेक्षा से? शुद्धनय की अपेक्षा से, शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से।

अब आगम प्रसिद्ध दो गाथाओं द्वारा गुणस्थानों के नाम कहते हैं – मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगी केवली और अयोगी केवली। इसप्रकार क्रमपूर्वक चौदह गुणस्थान जानना।

अब उन गुणस्थानों में से प्रत्येक का संक्षिप्त लक्षण कहते हैं। वह इसप्रकार है- सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूप अखंड-एक-प्रत्यक्ष-प्रतिभासमय निजपरमात्मा आदि छह

द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों में, तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोष रहित, वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत नयविभाग अनुसार जिस जीव को श्रद्धान नहीं है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है ॥१॥ पत्थर में उकेरी हुई रेखा समान अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ में से किसी एक के उदय द्वारा प्रथम-उपशमसम्यक्त्व से गिरकर जहाँ तक मिथ्यात्व को प्राप्त न हो, वहाँ तक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व - इन दोनों के बीच के परिणामवाला जीव सासादन है ॥२॥ निजशुद्धात्मादि वीतराग-सर्वज्ञप्रणीत तत्त्वों को और परप्रणीत तत्त्वों को भी जो मानता है, वह मिश्रदर्शनमोहनीय कर्म के उदय से दही और गुड़ के मिश्रणयुक्त पदार्थों की भाँति मिश्रगुणस्थानवाला जीव है ॥३॥

यहाँ **शंका** - जिस किसी भी (चाहे जो हो) एक देव से हमें तो प्रयोजन है तथा सभी देव वंदनीय हैं, किसी भी देव की निन्दा नहीं करनी चाहिए - इत्यादि वैनयिक मिथ्यादृष्टि अथवा संशय मिथ्यादृष्टि मानता है तो उसमें और सम्यग्मिथ्यादृष्टि में क्या अन्तर है? उसका **समाधान** - वह तो सब देवों के प्रति और सब शास्त्रों के प्रति भक्ति के परिणाम करने के कारण किसी भी एक से मुझे पुण्य होगा - ऐसा मानकर संशय रूप से भक्ति करता है, उसे किसी एक देव में निश्चय नहीं है और मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव को तो दोनों में निश्चय है - यह अन्तर है।

स्वाभाविक अनंतज्ञानादि अनंत गुण के आधारभूत निजपरमात्मद्रव्य उपादेय है और इन्द्रिय सुखादि परद्रव्य हेय हैं - इसप्रकार अर्हत्सर्वज्ञ प्रणीत निश्चय-व्यवहारनय रूप साध्य-साधक भाव से मानता है, परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोधादि अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से, मारने के लिए कोतवाल द्वारा पकड़े गये चोर की भाँति, आत्मनिन्दा सहित वर्तता हुआ इन्द्रियसुख का अनुभव करता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि का लक्षण है ॥४॥ जो पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि होता हुआ भूमि की रेखा के समान क्रोधादि अप्रत्याख्यानावरणरूप द्वितीय कषाय के उदय का अभाव होने पर **दंसणवयसामाइय पोसहसचित्तराइभत्ते य। बम्हारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य।१।** (दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग) इस गाथा में कहे हुए (श्रावकों के) ग्यारह स्थानों में- (१) अंतरंग में निश्चयनय से एक देश रागादिरहित स्वाभाविक सुख की अनुभूति जिसका लक्षण है और (२) बाह्य विषयों में (व्यवहार से) हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म

तथा परिग्रह की एकदेश निवृत्ति जिसका लक्षण है, उसमें वर्तता है; वह पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक है ॥५॥ जब वही सम्यग्दृष्टि धूल की रेखा समान क्रोधादि प्रत्याख्यानावरण तीसरे कषाय के उदय का अभाव होने पर पाँच महाव्रतों में– (१) अंतरंग में निश्चयनय से रागादि–उपाधिरहित स्वशुद्धात्मसंवेदन से उत्पन्न सुखामृत का अनुभव जिसका लक्षण है और (२) बाह्य विषयों में (व्यवहार से) हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह की संपूर्णरूप से निवृत्ति जिसका लक्षण है, उसमें वर्तता है; तब दु:स्वप्न आदि व्यक्त और अव्यक्त प्रमादसहित होने पर भी, वह छट्ठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत है ॥६॥ वही जीव जल की रेखा के समान संज्वलन कषाय का मंद उदय होने पर प्रमादरहित शुद्धात्मानुभव में दोष उत्पन्न करनेवाले व्यक्त और अव्यक्त प्रमादरहित वर्तता हुआ सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्तसंयत है ॥७॥ वही (जीव) संज्वलन कषाय का अत्यंत मंद उदय होने पर अपूर्व (परम–आह्लादरूप एक सुख की अनुभूति जिसका लक्षण है – ऐसा) अपूर्वकरण–उपशमक अथवा क्षपक नामक आठवाँ गुणस्थानवर्ती है ॥८॥ दृष्ट और अनुभूत भोगाकांक्षादिरूप समस्त संकल्प–विकल्प रहित निज निश्चल परमात्म स्वरूप में एकाग्र ध्यान के परिणाम की अपेक्षा से जिन जीवों को एक समय में परस्पर अंतर नहीं होता है, वे वर्ण और संस्थान आदि का भेद होने पर भी अनिवृत्तिकरण–उपशमक अथवा क्षपक संज्ञा के धारक, अप्रत्याख्यानावरणरूप द्वितीय कषायादि इक्कीस प्रकार की चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय में समर्थ – ऐसे नवम गुणस्थानवर्ती जीव हैं ॥९॥ सूक्ष्म परमात्मतत्त्व की भावना के बल से, सूक्ष्म–अत्यन्त कृश हुए लोभ कषाय का उपशम अथवा क्षय करनेवाले जीव दशम गुणस्थानवर्ती हैं ॥१०॥ परम–उपशममूर्ति निजात्मा के स्वभाव के अनुभव के बल से संपूर्ण मोह का उपशम करनेवाले (जीव) ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती हैं ॥११॥ उपशम श्रेणी से विलक्षण ऐसे क्षपक श्रेणी के मार्ग से निष्कषाय शुद्धात्मा की भावना के बल से कषाय का क्षय करनेवाले जीव बारहवें गुणस्थानवर्ती हैं ॥१२॥ मोह का क्षय करने के पश्चात् अंतर्मुहूर्त कालपर्यन्त, स्वशुद्धात्मसंवित्ति (संवेदन) जिसका लक्षण है – ऐसे एकत्ववितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान में स्थिर होकर, उसके अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय – इन तीनों का एक साथ एक समय में नाश करके, मेघ पटल में से निकले हुए सूर्य की भाँति सकल निर्मल केवलज्ञान की किरणों से लोक और अलोक को प्रकाशित करनेवाले, तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन भास्कर हैं ॥१३॥ मन, वचन,

काया की वर्गणा का जिन्हें अवलंबन है और कर्मों को ग्रहण करने में जो निमित्त हैं – ऐसे आत्मप्रदेशों के परिस्पंदस्वरूप जो योग, उनसे रहित चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगीजिन हैं ॥१४॥ और उसके पश्चात् निश्चयरत्नत्रयात्मक कारणभूत समयसार नामक जो परम यथाख्यातचारित्र है, उसके द्वारा पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानों से अतीत हुए, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हुए तथा सम्यक्त्वादि आठ गुणों में अंतर्भूत निर्नाम, निर्गोत्र आदि अनन्त गुणवाले सिद्ध हैं।

यहाँ शिष्य पूछता है कि केवलज्ञान की उत्पत्ति होने पर मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय की परिपूर्णता हो गई तो उसी क्षण मोक्ष होना चाहिए। अत: सयोगी और अयोगी जिन नामक दो गुणस्थानों का काल नहीं रहता है। इस शंका का उत्तर देते हैं :- यथाख्यातचारित्र तो हुआ, परन्तु परम यथाख्यातचारित्र नहीं है। यहाँ दृष्टांत है– जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता है तो भी उसे चोर के संसर्ग का दोष लगता है, उसीप्रकार सयोग केवलियों के चारित्र का नाश करनेवाले चारित्रमोह के उदय का अभाव होने पर भी निष्क्रिय शुद्धात्म–आचरण से विलक्षण तीन योग का व्यापार चारित्र में दोष उत्पन्न करता है तथा तीन योग का जिसको अभाव है; उस अयोगी जिन को, चरम समय के अतिरिक्त, शेष चार अघातिकर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दोष उत्पन्न करता है। चरम समय में मंद उदय होने पर, चारित्र में दोष का अभाव होने से, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

इसप्रकार चौदह गुणस्थानों का व्याख्यान समाप्त हुआ।

अब मार्गणाओं का कथन किया जाता है:- **गइ इंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य। संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारे॥** (गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार) इसप्रकार गाथा में कथित क्रमानुसार गति आदि चौदह मार्गणायें जानना। वे इसप्रकार – निज आत्मा की उपलब्धिरूप सिद्धि से विलक्षण ऐसी गतिमार्गणा नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के भेद से चार प्रकार की है॥१॥ अतीन्द्रिय शुद्धात्मतत्त्व से प्रतिपक्षभूत इन्द्रियमार्गणा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के भेद से पाँच प्रकार की है॥२॥ अशरीरी आत्मतत्त्व से विसदृश ऐसी कायमार्गणा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसकाय के भेद से छह प्रकार की है॥३॥ निर्व्यापार शुद्धात्म पदार्थ से विलक्षण मन, वचन और काययोग के भेद से योगमार्गणा तीन प्रकार की है अथवा

विस्तार से सत्य, असत्य, उभय और अनुभयरूप भेद से चार प्रकार का मनोयोग है; इसीप्रकार (सत्य, असत्य, उभय और अनुभय) चार प्रकार का वचन योग है। औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्माण - ये काययोग के सात प्रकार हैं। इसप्रकार सब मिलकर पन्द्रह प्रकार की योगमार्गणा है ॥४॥ वेद के उदय से उत्पन्न रागादि दोष रहित परमात्मद्रव्य से भिन्न ऐसी वेदमार्गणा, स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद के भेद से तीन प्रकार हैं ॥५॥ निष्कषाय शुद्धात्मस्वभाव से प्रतिकूल क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार प्रकार की कषायमार्गणा है, विस्तार से कषाय और नोकषाय के भेद से पच्चीस प्रकार की कषायमार्गणा है ॥६॥ मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि - इस प्रकार आठ प्रकार की ज्ञानमार्गणा है ॥७॥ सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातरूप भेद से पाँच प्रकार का चारित्र तथा संयमासंयम और असंयम - ये दो प्रतिपक्षरूप भेद मिलकर सात प्रकार की संयममार्गणा है ॥८॥ चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार की दर्शनमार्गणा है ॥९॥ कषायोदयरंजित योग-प्रवृत्ति से विसदृश (कषाय के उदय से रंजित योग की प्रवृत्ति से विपरीत) ऐसे परमात्मद्रव्य का विरोध करनेवाली लेश्यामार्गणा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ललेश्या के भेद से छह प्रकार की है ॥१०॥ भव्य और अभव्य के भेद से दो प्रकार की भव्यमार्गणा है ॥११॥

यहाँ शिष्य कहता है - शुद्ध पारिणामिकपरमभावरूप शुद्धनिश्चयनय से जीव गुणस्थान और मार्गणास्थान से रहित हैं - इसप्रकार पहले कहा है और अब यहाँ मार्गणा के कथन में भव्य और अभव्यरूप से पारिणामिकभाव कहा है - इसप्रकार वहाँ पूर्वापर विरोध आता है। उसका यहाँ समाधान करते हैं - पहले शुद्धपारिणामिकभाव की अपेक्षा से गुणस्थान और मार्गणास्थान का निषेध किया था, परन्तु यहाँ भव्यत्व और अभव्यत्व ये दो, अशुद्ध पारिणामिकभावरूप होने से, मार्गणा के कथन में घटित होते हैं। यदि इसप्रकार कहा जाये कि शुद्ध और अशुद्ध के भेद से पारिणामिकभाव दो प्रकार का नहीं है, परन्तु एक शुद्ध ही है तो ऐसा नहीं है। यद्यपि सामान्यरूप से उत्सर्ग व्याख्यान से शुद्ध पारिणामिकभाव कहा जाता है तो भी अपवाद व्याख्यान से अशुद्ध पारिणामिकभाव भी है। जैसे **जीवभव्याभव्यत्वानि च** - इसप्रकार तत्त्वार्थ सूत्र में जीवत्व, भव्यत्व और

अभव्यत्वरूप तीन प्रकार से पारिणामिकभाव कहा है। वहाँ शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व अविनश्वरपने के कारण शुद्धद्रव्य के आश्रित होने से शुद्धद्रव्यार्थिक ऐसी संज्ञावाला शुद्ध पारिणामिकभाव कहलाता है और कर्मजनित दश प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व रूप से तीन हैं, वे विनश्वरपने के कारण पर्यायाश्रित होने से पर्यायार्थिक ऐसी संज्ञावाले अशुद्ध पारिणामिकभाव कहलाते हैं। **प्रश्न** – अशुद्धपना कैसे है? **उत्तर** – यद्यपि ये तीन अशुद्ध पारिणामिकभाव व्यवहार से संसारी जीव में हैं तो भी **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** शुद्धनय से सर्व (संसारी) जीव वास्तव में शुद्ध हैं – इस वचन से शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से (संसारी जीव में) ये तीनों भाव नहीं हैं और मुक्त जीव में तो सर्वथा नहीं हैं, इस हेतु से अशुद्धपना कहलाता है। वहाँ शुद्ध और अशुद्ध पारिणामिकभाव में से शुद्ध पारिणामिकभाव ध्यान के समय ध्येयरूप होता है, ध्यानरूप नहीं होता है; क्योंकि ध्यानपर्याय विनश्वर है और शुद्ध पारिणामिकभाव तो द्रव्यरूप होने से अविनश्वर है – ऐसा भावार्थ है।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व के भेद से सम्यक्त्वमार्गणा-मिथ्यादर्शन, सासादन और मिश्र – इन तीन विपरीत भेदों सहित छह प्रकार की जानना॥१२॥ संज्ञी और असंज्ञीपने से विसदृश ऐसे परमात्मस्वरूप से भिन्न संज्ञीमार्गणा संज्ञी और असंज्ञी के भेद से दो प्रकार की है॥१३॥ आहारक और अनाहारक जीवों के भेद से आहारमार्गणा भी दो प्रकार की है॥१४॥

इसप्रकार चौदह मार्गणाओं का स्वरूप जानना।

इसप्रकार **पुढविजलतेयवाऊ** इत्यादि दो गाथाओं से और तीसरी गाथा के तीन पादों से ग्रंथकार ने धवल-जयधवल-महाधवल प्रबंध नामक तीन सिद्धांत ग्रंथों के बीजपद को सूचित किया है, जिसका स्वरूप (जिस बीजपद का स्वरूप) **गुणजीवा-पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य। उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया।** गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग – इसप्रकार क्रमपूर्वक बीस प्ररूपणा कही हैं। इस (गोम्मटसार की) गाथा आदि में कहा। **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** (शुद्धनय से सर्व जीव वास्तव में शुद्ध हैं) इस तीसरी गाथा के चौथे पाद से – जो शुद्धात्मतत्त्व का प्रकाशक है, उससे पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार – इन तीन प्राभृतों के बीजपद को सूचित किया है।

यहाँ गुणस्थान और मार्गणास्थान आदि में केवलज्ञान और केवलदर्शन – ये दो, क्षायिकसम्यक्त्व, अनाहारक शुद्धात्मस्वरूप साक्षात् उपादेय हैं और शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान–ज्ञान–आचरणरूप कारण समयसार है, वही उपादेयभूत का (केवलज्ञानादि का) विवक्षित एकदेश शुद्धनय की अपेक्षा से साधक होने से परंपरा से उपादेय है, इसके अतिरिक्त सब हेय हैं। अध्यात्म-ग्रन्थ के बीजपद भूत जो शुद्धात्मस्वरूप कहा है, वह तो उपादेय ही है।

इसप्रकार जीवाधिकार में शुद्ध और अशुद्ध जीव के कथन की मुख्यता से सप्तम स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं॥१३॥

गाथा १३ पर प्रवचन

चौदहवें गुणस्थान तक संसारस्थ जीव का उदयभाव, वह जीव का स्वतत्त्व है; वह किसी अन्य से नहीं है। संसारी जीव अशुद्धनय से १४ मार्गणास्थानों से तथा १४ गुणस्थानों से चौदह–चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से देखो तो सर्व संसारी जीव शुद्ध ही हैं।

षट्खण्डागम में धवल के ६३ वें सूत्र में ''संजद'' पद का जो झगड़ा है, उसका स्पष्ट खुलासा है। आचार्य यहाँ मूल गाथा में कहते हैं कि मार्गणा, गुणस्थान वह अशुद्धनय से जीव का स्वतत्त्व है।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव इस भावमार्गणा को व्यवहारनय से नहीं कहते, किन्तु अशुद्धनय से कहते हैं, इससे मार्गणा भाव अपेक्षा से ही है। कुछ लोग धवल शास्त्र में से ''संजद'' शब्द निकालने की कहते हैं। लेकिन इस न्याय से तो नहीं निकलना चाहिए। भाव मार्गणा होने से ''संजद'' पद रहना चाहिए। गोम्मटसार, धवल और द्रव्यसंग्रह में एक ही बात है कि मार्गणा भाव अपेक्षा से है।

भगवान सर्वज्ञदेव ने त्रिकाली जीवस्वभाव और उसकी पर्याय की प्रत्येक समय की योग्यता स्वतन्त्र देखी है, उसका यह कथन है। जीव में चौदह गुणस्थान तथा चौदह मार्गणारूप परिणमन होता है। गुणस्थान और मार्गणास्थान की पर्यायरूप जीव स्वयं ही स्वयं की योग्यता से होता है। किसी पर के कारण से वह पर्याय नहीं होती। विचित्र (अनेकविध) पर्यायें होती हैं, वह भी उसका ही स्वभाव है। त्रस–स्थावर वगैरह भेदरूप

जो चौदह गुणस्थान कहे, वह भी जीव की पर्याय की वैसी योग्यता है। मिथ्यात्व से लगाकर अयोगी केवली जिन गुणस्थान तक की संसारी जीव की जितनी पर्यायें हैं, वे सभी जीव की योग्यता से हैं और वह अशुद्धनय का विषय है। देखो, वह जीव का ही अशुद्ध भाव है, इसलिए उसको अशुद्धनय का विषय कहा है।

जीव की स्वतन्त्रता द्वारा ही गुणस्थान और मार्गणास्थान होते हैं, किन्तु जीव को संसार है, वह अशुद्धनय से है। शुद्धनय से तो सभी जीव शुद्ध हैं। चाहे वह गुणस्थान हो अथवा चाहे वह मार्गणास्थान हो, किन्तु उसीसमय अन्तर (चैतन्य) के शुद्धस्वरूप की दृष्टि से देखें तो सभी जीव शुद्ध एक रूप ज्ञायक स्वभावी हैं। संसार पर्याय के जितने भेद हैं, वे सभी अशुद्धनय से ही हैं। शुद्ध चिदानन्द स्वभाव की दृष्टि से देखें तो सभी जीव शुद्ध हैं। पर्याय में विकार के समय में भी शुद्धनय से तो आत्मा शुद्ध एकरूप है। शुद्धनय से आत्मा कभी भी विकाररूप से हुआ ही नहीं है। एक सामान्य जन को मनुष्यगति, कुमति, कुश्रुत, ज्ञान, मिथ्यात्वदशा है और उसी समय एक मुनि ध्यान में लीन होकर के केवलज्ञान प्रकट करते हैं। इसप्रकार पर्याय की योग्यता पृथक्-पृथक् है, लेकिन उसी समय यदि शुद्धनय से देखो तो सब जीव एकरूप शुद्ध स्वभाव के पिण्ड हैं। यहाँ केवली और मिथ्यादृष्टि – ऐसे भेद शुद्ध निश्चयनय के विषय में नहीं हैं। शुद्धनय से तो प्रत्येक आत्मा सहज स्वभावरूप एक ज्ञायक भाव है। शुद्धनय से देखने से सारा जगत शुद्ध जीवों से भरा हुआ है और अशुद्धनय से देखने से संसारावस्था की अनेक प्रकार की योग्यता भी जीव की स्वयं की है।

संसारावस्था में जीव को गुणस्थान होते हैं। उनके नाम १. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरतसम्यक्त्व, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसांपराय, ११. उपशांतमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगी केवलीजिन और १४. अयोगी केवलीजिन।

अब उन चौदह गुणस्थानों का स्वरूप कहते हैं :-

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप

शुद्धनय से जीव एकरूप शुद्धस्वभावी है, लेकिन उसको भूलकर अनादि से संसार में भ्रमण करता है। उसमें (जीव में) अनादि से मिथ्यात्व गुणस्थान है। वीतराग सर्वज्ञ

परमात्मा ने जो जीवादि तत्त्व कहे हैं, उसका जिसको यथार्थ श्रद्धान नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। भगवान ने जो तत्त्व कहे हैं, उनमें शुद्ध केवलज्ञान और केवलदर्शनस्वरूप अखंड प्रत्यक्ष प्रतिभासरूप – ऐसा निज परमात्मा, वह मुख्य है। ऐसे स्वयं शुद्धजीव वगैरह छह द्रव्य, पंचास्तिकाय तथा सात तत्त्व वगैरह का यथार्थ श्रद्धान जिस जीव को नहीं है, उसको प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान है। यह भी जीव की स्वयं की पर्याय की योग्यता है।

सर्वज्ञ भगवान ने कालद्रव्य सहित छह द्रव्य कहे हैं, वे मूलद्रव्य हैं। उनका श्रद्धान नहीं करे और काल को उपचरित कहे तो सर्वज्ञ द्वारा कथित छह द्रव्यों की उसको श्रद्धा नहीं है। ऐसे जीव मिथ्यात्व गुणस्थानवाले हैं, वह उनकी पर्याय है। देखिये, मिथ्यात्वकर्म का उदय हो, उसको मिथ्यात्व गुणस्थान है – ऐसा यहाँ नहीं कहा, किन्तु सर्वज्ञदेव द्वारा कथित शुद्ध जीवादि तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा जो नहीं करता, उसको मिथ्यात्व गुणस्थान है – इसप्रकार कह कर यहाँ अशुद्ध निश्चयनय का विषय कहा है।

छह द्रव्यों में जीव-अजीव पृथक्-पृथक् हैं। जीव के कारण शरीर की क्रिया होती है अथवा शरीर की क्रिया से जीव को धर्म होता है – ऐसा माने, उसने छह द्रव्यों को स्वतन्त्र नहीं माना है। सात तत्त्वों को भी स्वतंत्र नहीं माना है। इसलिए यहाँ कहा है कि सर्वज्ञदेव द्वारा कथित छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों को यथार्थ जानना। किसप्रकार जानें? कि देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता – ये तीन मूढ़ता दूरकर यथार्थ (सत्य) जानना। ऐसी मूढ़ता दूर करके यथार्थ तत्त्वों को जिस जीव ने जाना नहीं है, उस जीव को प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

लोक में द्रौपदी जैसी सती के पाँच पति मानते हैं, उसको जो माने उस जीव को लोकमूढ़ता है। द्रौपदी के पाँच पति थे, यह बात बिलकुल झूठी है। भगवान आहार करते हैं, मुनि सवस्त्र होते हैं – ऐसी मान्यता देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता है तथा जिन शास्त्रों में ऐसा कथन किया हो, उन शास्त्रों को मानना, वह शास्त्रमूढ़ता है – ऐसी मूढ़ता छोड़कर जीव ने सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्वों को कभी भी यथार्थ जाना नहीं है, इसलिए उसको अनादि से मिथ्यात्व गुणस्थान है।

और फिर पच्चीस दोषरहित जानने को कहा है। सत्यार्थ देव-गुरु-शास्त्र कैसे हों?

यह तो जाने नहीं और कुदेवादि को माने तथा उनके माननेवालों की प्रशंसा करे, उसको छह अनायतन के सेवन का दोष लगता है और फिर वीतरागी मार्ग में शंका करे, पुण्य के फल की वांछा करे, धर्मात्मा के प्रति वत्सल भाव नहीं रखे, धर्म की प्रभावना का विचार (भाव) नहीं करे – इत्यादि आठ प्रकार के सम्यक्त्व के दोष (शंका आदि) हैं। तथा जातिमद वगैरह आठ प्रकार के मद हैं। इसप्रकार ८ मद, ८ शंकादि दोष, ६ अनातन, ३ मूढ़ता – ऐसे पच्चीस दोष से रहित होकर, नयापेक्षा वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कथित तत्त्व को जीव जानता नहीं है, उसको मिथ्यात्व का नाम का पहला गुणस्थान है।

कुदेवादि तो मिथ्यात्व के निमित्त हैं। उनकी मान्यता को जो नहीं छोड़ता है, वह जीव मिथ्यात्व का सेवन करनेवाला है। यह पहला गुणस्थान है।

(२) सासादन गुणस्थान

पहले जीव उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, बाद में अनन्तानुबंधी क्रोधादि किसी कषायभाव का उदय होने से सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुआ हो, लेकिन अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है; वहाँ बीच के समय में रहे हुए – ठहरे हुए जीव को सासादन गुणस्थान होता है। यह अवस्था भी जीव की योग्यता से होती है। आसातन=चैतन्यस्वरूप की आसातना (विराधना) करने पर भी अभी मिथ्यात्व में गया नहीं है, उसके पूर्व की यह दशा-अवस्था है।

पाषाण में खुदाई का काम (नक्काशी) किया हो, वह जैसे मिटता नहीं है; वैसे ही यह अनन्तानुबंधी अनन्त संसार के कारणरूप कषाय है, वह पाषाण-रेखा समान कठिन है, तीव्र है। ऐसे तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ उत्पन्न होने से स्वभाव का आचरण छूट जाता है। वह कोई निमित्त अथवा कर्म के कारण से नहीं है, परन्तु जीव के अपराध से ही है।

चिदानन्दमूर्ति आत्मा का देह, वाणी, मनरहित भान (ज्ञान) वह प्रथम उपशम सम्यक्त्व है। जैसे पानी में कीचड़ नीचे बैठ गया है और उससमय पानी की जैसी निर्मलता है, वैसी उपशमसम्यक्त्ववाले जीव की दशा है।

जैसे वृक्ष से फल गिर गया, किन्तु अभी जमीन पर नहीं पहुँचा है व बीच में है; वैसे सम्यक्त्वावस्था से छूटकर जीव मिथ्यात्व भूमिका को प्राप्त नहीं हुआ है, उसके

पहले की यह अवस्था है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त इन चौदह गुणस्थान की अवस्था का वर्णन कोई नहीं कर सकता है। प्रत्येक भूमिका की सूक्ष्म अवस्था का स्वरूप जो सर्वज्ञ ने कहा है, वह जानना चाहिए। वे सभी अवस्थायें जीव की योग्यता से ही हुई हैं, वे कोई कर्मादि के कारण से नहीं हुई हैं।

यहाँ प्रथम गुणस्थान के बाद दूसरा गुणस्थान कहा, किन्तु यहाँ ऐसा न समझना कि पहले गुणस्थान के बाद दूसरा गुणस्थान आता है। पहले गुणस्थान के बाद सीधा दूसरा गुणस्थान कभी किसी जीव को होता ही नहीं है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यक्त्व होते ही पहले सीधा चौथा गुणस्थान होता है और इसके बाद भ्रष्ट होनेवाले जीव को ऐसा दूसरा गुणस्थान होता है। उसमें पहले गुणसथान की अपेक्षा शुद्धता की विशेषता है।

देखिये, यहाँ यह सभी गुणस्थान तथा मार्गणास्थान आदि के भेदों का वर्णन कर ऐसा कहा है कि सभी भेद जीव की पर्याय में है अर्थात् यह सभी जीव के भाव हैं – ऐसा अशुद्धनय से जानना। शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हैं। ऐसे दोनों पहलुओं से जीव को पहिचानना चाहिए।

(३) मिश्र गुणस्थान

अनादि मिथ्यादृष्टि को इस तीसरे गुणस्थान की पर्याय सीधी नहीं आती, परन्तु चौथा गुणस्थान प्राप्त करने के बाद जीव वहाँ से गिरता है, तब ही जीव तीसरे गुणस्थान में आता है, उसका ज्ञान कराते हैं। इस मिश्र गुणस्थान अवस्थारूप जीव स्वयं परिणमित हुआ है – ऐसा जानना यह अशुद्धनय है।

सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्व भी माने तथा अन्य मतावलंबियों द्वारा प्ररूपित तत्त्वों का भी श्रद्धान करे – किसी के द्वारा कहा हुआ स्त्री-मुक्ति माने, वस्त्रसहित मुक्ति माने तथा केवली को कवलाहार माने। ऐसे विपरीत-अविपरीत दोनों तत्त्वों का श्रद्धान करे। जैसे दही और गुड़ मिले हुए हों, वैसे ही पदार्थों का मिश्र श्रद्धान करता है; यह मिश्र गुणस्थान की दशा है।

शंका – अपने को किसी का अनादर नहीं करना, सब देवों का विनय करना, अपने को तो देव से मतलब है। सर्वज्ञ भी सच्चे और अन्य विष्णु आदि देव भी सच्चे, सबमें

से कोई न कोई देव सच्चा ही निकलेगा; इसलिए सब देवों का विनय करना, वह विनय मिथ्यादृष्टि तथा संशयमिथ्यादृष्टि है। तब उनमें और सम्यग्मिथ्यादृष्टि मिश्र गुणस्थान की अवस्था में अन्तर (भेद) क्या है? अर्थात् वैनयिक अथवा सांशयिक मिथ्यादृष्टि जीव में और मिश्र गुणस्थान की अवस्थावाले जीव में क्या अन्तर है?

समाधानः- सम्यग्दर्शन प्राप्त कर पीछे (नीचे की ओर) गिरने से जीव की दशा, यह मिश्र गुणस्थान है। यहाँ रहते हुए जीव को दोनों प्रकार की श्रद्धा होती है। परन्तु वैनयिक मिथ्यादृष्टि अथवा सांशयिक मिथ्यादृष्टि जीव को कुछ निश्चय नहीं होता। सभी देव सच्चे ऐसा मान कर सब देवों की भक्ति करते हैं और इसमें सत्यार्थ देव की भी भक्ति आ जायेगी और पुण्य होगा - ऐसा वह मानते हैं; इससे वे मिथ्यादृष्टि ही हैं।

वैनयिक मिथ्यादृष्टिवाले एक दृष्टान्त देते हैं। एक स्त्री के पति को किसी ने विद्या से बैल बना दिया, इससे वह स्त्री बैल की सेवा करती और चराती। एक समय ऊपर से (आकाशमार्ग से) जाती हुई विद्याधरी को बैल को देखने से दया आयी, इसलिए उसने अपने पति विद्याधर से विनती की कि इसको मनुष्य बना दो, तब उसने कहा- इस बैल को संजीवनी बेल खिलाने में आये तो यह मनुष्य हो जायेगा; लेकिन वह स्त्री संजीवनी बेल को पहिचानती नहीं थी, इससे उसने माना कि सभी बेलें खिलाने से उसमें वह संजीवनी बेल भी आ जायेगी और मेरा पति अच्छा हो जायेगा। ऐसा मानकर सभी प्रकार की बेलें खिलाने लगी। उनमें संजीवनी बेल आने से वह बैल मनुष्य हो गया - ऐसा दृष्टान्त देते हैं। किन्तु यह दृष्टान्त ही असत्य है। उनमें कोई विषैली बेल आ जाये तो बैल मर भी जाये। इसलिए उस वैनयिक मिथ्यादृष्टि का दृष्टान्त असत्य है। इसलिए सर्व में से किसी एक का यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

क्रमबद्ध की बात आने से अज्ञानी संशय में पड़ जाता है कि यदि प्रत्येक पदार्थ क्रमबद्ध परिणमता हो तो उसमे पुरुषार्थ कहाँ आया? कुछ करने का तो रहा नहीं तथा यदि वस्तु का स्वरूप क्रमबद्ध न माने तो सर्वज्ञ तीन काल तीन लोक के जाननेवाले हैं, यह सर्वज्ञावस्था नष्ट हो जाती है - ऐसे माननेवाले संशयमिथ्यादृष्टि हैं तथा कोई दोनों को सत्य माने - सर्वज्ञ भी माने और फिर पदार्थों की पर्यायें उलटी-सीधी भी की जा सकती हैं - ऐसा दोनों माने। इन दोनों में से कोई सत्य होगा; अपने को वाद-विवाद किसलिए (क्यों) करना? दोनों की मान्यता सत्य होगी, वह वैनयिक मिथ्यादृष्टि है। वे

दोनों प्रथमगुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि ही हैं।

(४) अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान

दर्शनमोह हटा, इससे जीव को सम्यग्दर्शन प्रकटता है – ऐसा नहीं है। यह जीव की अवस्था है। जीव स्वयं ही स्वयं की योग्यता से ही परिणमता है। स्वाभाविक अनंतज्ञानादि गुणों का आधारभूत जो स्वयं परमात्मद्रव्य है – वही उपादेय है। निज परमात्मद्रव्य आधार है और अनन्तगुण आधेय हैं – द्रव्य के आश्रय से रहे हुए हैं। मैं अनन्त गुणों का आधार ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ, वही आश्रय करने योग्य है; उपादेय है तथा इन्द्रियों का काल्पनिक सुख, शुभाशुभ परिणाम, व्यवहाररत्नत्रय – ये परद्रव्य हैं, हेय हैं, आश्रय करने योग्य नहीं हैं – ऐसा सर्वज्ञदेव द्वारा कथित निश्चय-व्यवहार को साध्य-साधक माने अर्थात् त्रिकालस्वरूप को साध्य माने और वर्त्तमान स्वसन्मुख हुए मोक्षमार्ग की पर्याय को साधक माने। ऐसी यथार्थ मान्यता होना, वह सम्यग्दर्शन है।

इस गुणस्थानवाले को यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा होती है, अंतरंग निज शुद्धात्म द्रव्य को वह उपादेय मानता है तथा जिसको भूमिरेखा समान जो अप्रत्याख्यानावरण कषाय होती है, उसकी उसको अन्तर (चैतन्य) में आत्मनिन्दा बरतती है। यह चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव का स्वरूप है। जैसे कोतवाल ने किसी चोर को पकड़ा, उस चोर को अंतरंग में पश्चात्ताप ग्लानि होती है; वैसे इस चौथे गुणस्थानवर्ती जीव को स्वयं के पुरुषार्थ की कमजोरी से जो कषाय परिणति प्रवर्तती है, उसकी उसको अंतरंग में निन्दा होती है, खेद होता है।

इस चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को भूमिका अनुसार स्वयं की कमजोरी से व्यापार का, शादी-विवाह करने का, स्त्री का, लड़ाई का राग होता है; इन्द्रिय सुख की ओर झुकाव होता है; परन्तु उसकी उसको निन्दा होती है और अंतरंग में मैं शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ – यह दृष्टि एकसमय भी छूटती नहीं है।

इस चौथे गुणस्थान की अवस्था यह अशुद्धनय का विषय है तथा उससमय अखण्ड चिदानन्द आत्मा की दृष्टि करना – यह शुद्धनय का विषय है। चौथे गुणस्थान में इस शुद्धनय के विषयभूत ज्ञातास्वभाव की दृष्टि उपादेय बुद्धि है। पहले के तीन गुणस्थानों में भी ऐसा नित्यस्वरूप तो मौजूद ही था, किन्तु वहाँ उसकी दृष्टि नहीं थी। जब चौथे

गुणस्थान में स्वयं के त्रिकाली परमात्मद्रव्य की दृष्टि, रुचि, उपादेय बुद्धि हुई; इसलिए अंशरूप से पर्याय में भी शुद्धता का अंश प्रकट हुआ है।

यहाँ आत्मा की पर्याय के भेदों का ज्ञान कराते हैं। शुद्धनय से सब आत्मायें सिद्ध समान शुद्ध हैं। इस अपेक्षा से तो सभी आत्मायें समान हैं, किन्तु पर्याय में मिथ्यात्व से लगाकर चौदहवें अयोगी गुणस्थान तक की पर्यायें होती हैं – यह अशुद्धनय का विषय है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन है। उस भूमिका में सर्वज्ञ भगवान ने जैसा कहा, वैसा स्वयं की शुद्धात्मा का ज्ञान होता है; लेकिन वहाँ अभी अप्रत्याख्यानावरण कषाय है, इसलिए व्रत नहीं है। ऐसा चौथा गुणस्थान है। देखिये, पर्याय आदरणीय नहीं है, किन्तु ज्ञान में जानने योग्य है। आदरणीय तो शुद्धनय के विषयरूप शुद्ध आत्मा है।

(५) देशविरत गुणस्थान

अन्तर (चैतन्य) में चिदानंदस्वभाव का ज्ञान होने के बाद आत्मा के विशेष अनुभव से एकदेश राग दूर होकर वीतराग भाव होने से अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होकर पाँचवाँ गुणस्थान प्रकट होता है।

यहाँ पाँच अणुव्रत तथा प्रतिमा वगैरह होती हैं। अन्तर में सहजस्वभाव का अनुभव बढ़ गया और बाह्य में हिंसादि छूट गये हैं। पाँचवें गुणस्थान में व्रतप्रतिमा होती है, उन ग्यारह प्रतिमाओं में क्रमशः शुद्धता का अंश बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे अन्तर में आनन्द का स्वाद बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे प्रतिमा बढ़ती जाती है और उस उसप्रकार का राग और राग के निमित्त छूटते जाते हैं।

सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक के पाँचवें गुणस्थान की दशा कैसी होती है? वह चर्चा यहाँ की। इससे विरुद्ध जो मानता हो, वह आगम अथवा गुरु सच्चा नहीं है। वह कुगुरु और कुशास्त्र है। पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक की कैसी अवस्था हो? उसकी कैसी श्रद्धा हो? उसका भी ज्ञान न हो और अपने को सीधा मुनिपना मान बैठे, उसको तो अभी सत्य श्रद्धा का भी पता नहीं है। चौथे गुणस्थानवाले को भी सत्यार्थ देव-शास्त्र-गुरु की कैसी श्रद्धा होती है, उनके प्रति कितना हर्ष और उत्साह होता है; उसका तो जिसको ज्ञान नहीं है और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का पोषण कर मूढ़ता सेवन कर रहा है – ऐसे जीव को श्रावकपना अथवा मुनिपना होता ही नहीं है। उसको यह मुनि अवस्था और

श्रावक अवस्था कैसी होती है – इसका भी ज्ञान नहीं है।

देखो, यह गुणस्थान तो अभी अशुद्धनय का विषय है, उसका भी जिसको ज्ञान नहीं है, वह शुद्धनय के विषयभूत द्रव्य आदरणीय है – यह बात कहाँ से जाने? जिसको देव-गुरु-शास्त्र का ज्ञान हुआ है, उनके कहे हुए शुद्धात्मा वगैरह तत्त्वों का ज्ञान हुआ है – ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन की चौथी भूमिका हो और बाद में पाँचवाँ गुणस्थान होता है।

(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान

इसके पश्चात् अन्तर (चैतन्य) स्वभाव में विशेषरूप से लीन होने से निर्विकल्प अवस्था में पहले सातवाँ गुणस्थान होता है और बाद में विकल्प उठने से छठवाँ गुणस्थान होता है। यह सनातन नियम है कि मुनि को पहले सातवाँ गुणस्थान प्रकट होता है और बाद में ही छठवाँ गुणस्थान होता है, लेकिन यहाँ क्रमशः कथन होने से पहले छठवें गुणस्थान का कथन किया है।

देखो, अन्तर में स्वभाव का ज्ञान होने के पश्चात् अत्यधिक शुद्धता प्रकट होने से छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलती मुनिदशा प्रकट होती है। मिथ्यादृष्टि को द्रव्यलिंगी मुनि कहा जाता है, लेकिन उसको छठवाँ गुणस्थान नहीं होता। छठवें गुणस्थान में तीन कषाय के अभावरूप वीतराग भावसहित देह की दिगम्बर अवस्था ही होती है। वस्त्रसहित मुनिदशा कदापि नहीं होती है – ऐसे छठवें गुणस्थानवाले जीव की दशा है। इससे विरुद्ध जो कहता हो; वह कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र है।

छठवें गुणस्थानवाले को अन्तर चैतन्य में अधिक वीतराग भाव हो गया है और बाह्य में वस्त्रादि सर्वपरिग्रह छूट गया है। जहाँ-जहाँ मुनि हों, वहाँ-वहाँ मुनिदशा ऐसी ही होती है। इससे विरुद्ध जो मुनिदशा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। स्वयं के शुद्धात्मा के ज्ञानपूर्वक सुखामृत का अनुभव बढ़ जाने से तीन प्रकार की कषायों का अभाव जिनको हो गया है अर्थात् अन्तर में रागादि की उपाधि छूट गयी है और बाह्य में हिंसादि के त्यागरूप महाव्रत होते हैं – ऐसे मुनिवरों को छठवाँ गुणस्थान होता है। इस छठवें गुणस्थान में कोई अशुभ स्वप्न तथा कोई अल्पप्रमादभाव आ जाता है। मुनि को अधिक निद्रा नहीं आती, बहुत थोड़े समय की थोड़ी नींद होती है। अन्दर का जागृतिभाव विशेष बढ़ गया है। छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान की ऐसी अवस्था है।

देखो, सबसे पहले तो सत्यार्थ देव-शास्त्र-गुरु के प्रति उल्लासभाव आना चाहिए। जो जीव कुदेव-कुशास्त्र का पोषण-सेवन करता है और उसको सत्यार्थ देव-गुरु-शास्त्र मिलें, उनके प्रति कुदेवादि का सेवन न छूटे तो वह कुलटा स्त्री जैसा गृहीत मिथ्यादृष्टि है। धर्मीजीव सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर तन-मन-धन सर्वप्रकार से उनका बहुमान करता है और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का सेवन नहीं करता है।

छठवें गुणस्थानवाले मुनि को कभी वस्त्र नहीं होता है। अन्तर की चारित्र दशा में, बाह्य में वैसा ही निमित्त होता है। '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' ऐसा कहा है- उसमें यह बात भी समाविष्ट हो जाती है। यह तो वीतरागी मार्ग है। मुनिदशा में छठवें गुणस्थान में जलरेखा जैसी अति सूक्ष्मकषाय होती है।

(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

छठवें गुणस्थानवाले को पहले सातवाँ गुणस्थान होता है। चौथे अथवा पाँचवें गुणस्थान के पश्चात् पहले सातवाँ गुणस्थान, फिर छठवाँ गुणस्थान आता है। इस सातवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय भी विशेष मंद होती है। इस गुणस्थान में निर्विकल्प अनुभवदशा ही होती है, इसमें प्रमादभाव नहीं होता है। संज्वलन के तीव्र उदय से छठवाँ गुणस्थान और संज्वलन के मंद उदय से सातवाँ गुणस्थान होता है - ऐसा गोम्मटसार में कथन आता है, वह तो निमित्त से कथन किया है। लेकिन जीव की अवस्था कुछ कर्म के कारण से नहीं होती, जीव स्वयं ही स्वयं की योग्यता से उन-उन गुणस्थानों में प्रवर्तता है।

देखो, इस गाथा में चौदह गुणस्थान तथा मार्गणास्थान आदि को अशुद्धनय का विषय कहकर कथन किया है अर्थात् वह सब जीव के भावों का कथन है। यह कथन करके श्रीधवल, जयधवल तथा महाधवल के बीजाक्षर (बीजमंत्र) रख दिये हैं तथा शुद्धनय से समस्त जीव शुद्ध हैं - ऐसा शुद्धनय का वर्णन करके समयसार आदि अध्यात्म के बीजाक्षर रख दिये हैं।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान

सातवें गुणस्थान के पश्चात् विशेष निर्विकल्पता दृढ़ होने से जीव श्रेणी माँड़ता है, तब आठवाँ गुणस्थान होता है। श्रेणी दो प्रकार की है- उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। क्षपक श्रेणी वाला तो आगे बढ़कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। आठवें गुणस्थान में

संज्वलन कषाय अत्यन्त मंद हो गयी है। सातवें गुणस्थान से लेकर ऊपर के आगे के सभी गुणस्थानों में निर्विकल्प ध्यान में एकाग्रता ही होती है। छठवें-सातवें गुणस्थान में कोई मुनि हजारों वर्ष झूले, लेकिन इसके बाद आठ से बारहवें गुणस्थान की स्थिति तो अल्प है, अन्तर्मुहूर्त ही है।

(९) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

आठवें की अपेक्षा अधिक एकाग्रता होने से नववाँ गुणस्थान प्रकट होता है। देखे हुए, सुने हुए अथवा अनुभव किये हुए भोगों की वांछारहित, संकल्प-विकल्परहित, स्वयं के शुद्ध परमात्मध्यान में विशेष निश्चलता होने से नववाँ गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में रहनेवाले जीव पृथक्-पृथक् वर्ण तथा संस्थानादिवाले होने पर भी उनके परिणामों में समानता है।

(१०) सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान

यहाँ सूक्ष्म लोभ होता है, वह भी अबुद्धिपूर्वक होता है। सातवाँ तथा उसके आगे के गुणस्थानों में बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता है। कषाय अत्यन्त सूक्ष्म हो गयी है। इससे यहाँ परमात्मतत्त्व को भी सूक्ष्म ऐसा विशेषण देकर कहा है कि सूक्ष्म परमात्मतत्त्व के ध्यान से क्लिष्ट लोभकषाय का नाश किया है - ऐसा दसवाँ गुणस्थान है।

(११) उपशांतमोह गुणस्थान

आत्मा के ज्ञान के बल से उपशम पर्याय (दशा) उत्पन्न होती है। वीतराग अवस्था होने के पूर्व किसी जीव को उपशम श्रेणी होती है। वह जीव नीचे (वापस) गिरता है; उसका कारण कर्म नहीं है, किन्तु स्वयं की पामरता है। कर्म के कारण से गिरता है - यह निमित्त का कथन है। जो उपशांत दशा करता है, वह ग्यारहवें गुणस्थानवाला जीव है - ऐसा ज्ञान करना; लेकिन वह पर्याय है, इसलिए आदरणीय नहीं है। शुद्ध आत्मा ही आदरणीय है।

(१२) क्षीणमोह गुणस्थान

ग्यारहवें में पुरुषार्थ मन्द है, बारहवें में तीव्र है। आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक स्वरूप में स्थिरता हुई, शुद्धता के अंश बढ़ते जाते हैं, उसको श्रेणी कहते हैं। वह आठवें

गुणस्थान से प्रारंभ होती है। उपशम श्रेणी की अपेक्षा क्षपक श्रेणी में उग्र पुरुषार्थ है। बारहवें गुणस्थान में शुद्ध आत्मा की भावना के बल पर कषायें नष्ट की हैं और वीतरागता प्रकट की है और जब जीव ऐसा पुरुषार्थ करे, तब कर्म नष्ट हुए बिना नहीं रहते। यह भूमिका भी अशुद्धनय का विषय है। वह पर्याय है – जानने जैसी है; लेकिन आदरणीय नहीं है।

(१३) सयोगी केवलीजिन गुणस्थान

आठवें से बारहवें गुणस्थान तक का समय अन्तर्मुहूर्त है और तेरहवें गुणस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व की होती है। वीतरागता होने के बाद शुक्ल ध्यान के दूसरे पाये में केवलज्ञान होता है। क्षपकश्रेणी में शुक्ल ध्यान का पहला पाया आठवें से दसवें गुणस्थान तक है। दूसरा पाया बारहवें से शुरू होता है। यहाँ विशेष प्रकार से एकत्ववितर्क अवीचार नामक ध्यान में स्थिर होने से केवलज्ञान होता है (एकत्ववितर्कवीचार श्रुतज्ञान है)। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अन्तराय – ऐसे तीन कर्म नाश होने से बादलों में से बाहर निकलते सूर्य की तरह संपूर्ण रूप से निर्मल केवलज्ञान प्रकट होता है और लोक-अलोक को जानता है अथवा लोक-अलोक उस ज्ञान में प्रकाशित होते हैं।

यहाँ बादल का दृष्टान्त दिया है, वह आंशिक लागू पड़ता है। दृष्टान्त सब प्रकार से लागू नहीं होता। यहाँ बादलों के पीछे सूर्य प्रकट जाज्वल्यमान है; वैसे आत्मा की पर्याय में केवलज्ञान प्रकट जाज्वल्यमान है और कर्म आड़े आ गये हैं – ऐसा न समझना। सूर्य की तरह आत्मा के केवलज्ञान प्रकटरूप नहीं है। कोई केवलज्ञान को सत्तारूप मानते हैं और कहते हैं कि केवलज्ञान अन्दर में प्रकट है, कर्म के बादल आड़े आये हुए हैं; वे कर्मरूपी बादल हट जाने से केवलज्ञान प्रकट होता है। ऐसा जो मानते हैं, वह बात ठीक नहीं है। केवलज्ञान अन्दर शक्तिरूप से है और व्यक्त रूप से हीनदशा में है और उनमें कर्म निमित्तरूप हैं।

जो शक्तिस्वभाव है, उसमें एकाग्रता होने से केवलज्ञान व्यक्त (प्रकट) होता है और कर्म हट जाते हैं। इसलिए बादलों का दृष्टान्त दिया है। जैसे छोटी पीपल में चौंसठ पहरी तिखास (चरपरापना) व्यक्तरूप से नहीं है; किन्तु शक्तिरूप से है, घिसने से शक्तिरूप

की तिखास व्यक्त होती है; वैसे आत्मा में केवलज्ञान शक्तिरूप से है, उस अखंड शुद्धात्मा का ज्ञान करके उसमें तल्लीनता करने से वह प्रकट होता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ १९४ में कहा है कि 'कोई ऐसा मानता है कि आत्मा के प्रदेशों में तो केवलज्ञान ही है, ऊपर आवरण होने से प्रकट नहीं होता, सो यह भ्रम है' – जो केवलज्ञान वज्रपटलादि आड़े होने पर भी वस्तु को जानता है, वह कर्म आड़े आने से किसलिए अटके?

अज्ञानी जीव कर्म तथा निमित्त को देखते हैं और कर्म बाधक हैं, इसलिए केवलज्ञान नहीं होता – ऐसा कहते हैं, वे स्वभाव को नहीं देखते। स्वभाव को देखनेवाले, उपादान को देखनेवाले निर्णय करते हैं कि केवलज्ञान स्वयं के पुरुषार्थ से प्रकट होता है और विपरीत मान्यता के काल में प्रकट नहीं होता, लेकिन जिस समय प्रकट होना है, उसी समय प्रकट होता है – ऐसे केवलज्ञान की पर्याय का निर्णय करनेवाले की दृष्टि स्वयं के अखंडस्वभाव पर है।

केवलज्ञान शक्तिरूप से है, वह व्यक्त होता है; इसलिए केवलज्ञान अनादि से प्रकट है – ऐसा नहीं है। इसीप्रकार केवलज्ञान गुण नहीं है, पर्याय है। उस केवलज्ञान से मैं पृथक् हूँ और अनन्त दूसरे पदार्थ पर हैं – ऐसा भासता है। तो भी वहाँ विकल्प नहीं है; जैसा है, वैसा प्रतिभासित है। तेरहवें गुणस्थान में जीव की संपूर्ण शुद्धदशा प्रकट नहीं हुई है। इसलिए तेरहवाँ गुणस्थान अशुद्धनय का विषय है। केवलज्ञान द्रव्य के आश्रय से प्रकट होता है, पर्याय के आश्रय से प्रकट नहीं होता। इसलिए केवलज्ञान पर्याय जानने योग्य है और शुद्धद्रव्य आदरणीय है।

(१४) अयोगी केवलीजिन गुणस्थान

तेरहवें गुणस्थान में कम्पन होता है, वह चौदहवें में नहीं होता। मन–वचन–काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होता है और इसलिए कर्मों का आगमन होता है। उस कम्पनरहित दशा को चौदहवाँ अयोगी गुणस्थान कहते हैं। वह भी पर्याय है, इसलिए आदरणीय नहीं है; त्रिकालस्वभाव ही अवलंबन करने योग्य है।

यह जीव का अधिकार है। जीव अनादि है, उसकी पर्याय में चौदह प्रकार के गुणस्थानों का भेद होता है, वह स्वतन्त्र है। प्रत्येक पर्याय में स्वतंत्रता है। प्रथम गुणस्थान

की पर्याय भी सत् है, उत्पाद सत् है, व्यय भी सत् है। ऐसी पर्याय की स्वतंत्रता बताते हैं। लेकिन वह पर्याय होने से अशुद्धनय का विषय है, इसलिए आदरणीय नहीं है; लेकिन जानने जैसी है; शुद्धद्रव्य एक ही आदरणीय है।

इसप्रकार चौदह गुणस्थानों की बात समाप्त हुई।

सिद्धदशा

अब सिद्धों की बात करते हैं। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारणभूत जो परम यथाख्यातचारित्र है, वह पूर्व में कहे हुए चौदह गुणस्थानों एवं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित तथा आठ गुणों में गर्भित निर्नाम, निर्गोत्र वगैरह अनन्तगुणों सहित सिद्धदशा होती है।

अब यहाँ समझने के योग्य शिष्य प्रश्न करता है कि केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता हो गयी है। तत्त्वार्थसूत्र में तो '**सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** - ऐसा कहा है। क्षायिक सम्यक्त्व तो चौथे से सातवें तक हो जाता है, कारण कि किसी जीव को क्षयोपशम सम्यक्त्व हो तो क्षपकश्रेणी माँडने के पूर्व क्षायिक कर लेता है; क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व बिना क्षपकश्रेणी नहीं होती, इसलिए सम्यक्त्व क्षायिक होता है। चारित्र बारहवें गुणस्थान में पूर्ण हुआ है और ज्ञान तेरहवें में परिपूर्ण प्रकट हुआ है। ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता होने से, मोक्षमार्ग पूर्ण होने से, उसी समय जीव को मोक्ष होना चाहिए? आपने तो कहा कि कोई केवली तेरहवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त रहे और कोई अरबों वर्ष तक रहे तो उसका क्या कारण? उसकी मुक्ति शीघ्र ही क्यों नहीं होती? शिष्य ऐसी **शंका** करता है।'

समाधानः- केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय यथाख्यातचारित्र हो गया है, परन्तु सम्पूर्ण आत्मा का चारित्र-परम यथाख्यातचारित्र प्रकट नहीं हुआ है।

अघातिकर्म बाकी है, इसलिए सिद्धदशा नहीं होती - ऐसा नहीं है। इसे दृष्टान्त से समझाते हैं। जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता, परन्तु चोर के संसर्ग से उसको दोष लगता है; उसीप्रकार केवली भगवान को चारित्र के नाश करनेवाले मोहकर्म के उदय का अभाव है, लेकिन कम्पनरहित शुद्ध आत्मा के आचरण से विलक्षण जो मन-वचन-काय के निमित्त से कम्पन का व्यापार है, वह सम्पूर्ण आत्मा के चारित्र में दूषण उत्पन्न

करता है। आत्मा में कंपन की योग्यता है और उसमें अघातिकर्मों का निमित्त है। अघातिकर्म दूषण नहीं कराते हैं। इसके बाद अयोगी दशा में चौदहवें गुणस्थान में कम्पन नहीं है; लेकिन संस्कार रहता है, वह चारित्र में दोष उत्पन्न करता है, उसमें चार अघातिकर्म निमित्त हैं। अन्त समय में अघाति कर्म का उदय मंद है, वह निमित्त मात्र है और उससमय संस्कार के दोष का अभाव करते हैं और अयोगीजिन मोक्ष अवस्था प्राप्त करते हैं।

अब मार्गणास्थान की बात करते हैं। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा तथा आहार - ऐसे १४ प्रकार के मार्गणास्थान जानना।

यह जीवपदार्थ है, उसकी वर्तमानदशा अथवा पर्याय सत् है, वह किसी ने बनायी नहीं है। जीव पदार्थ अनादि-अनंत द्रव्य स्वभाव से होने पर भी वर्तमान पर्याय १४ मार्गणास्थानरूप होती है, वह स्वयं के कारण होती है - उसका ज्ञान करा कर उस पर्याय का लक्ष्य छुड़ाने को त्रिकाली स्वभाव का आश्रय कराना - तत्संबंधी बात करते हैं।

(१) गतिमार्गणा- चिदानंद आत्मा की सम्पूर्ण प्राप्ति से सिद्धदशा होती है। इसके विलक्षण चार प्रकार की गतियाँ संसार दशा में होती हैं। नरकगति नामकर्म के कारण जीव नरक में नहीं जाता; लेकिन नरकगतिरूप जीव की योग्यता है, वर्त्तमान गति की पर्याय स्वतंत्र आत्मा से हुई है - ऐसा ज्ञान करना। नरक में रहता हुआ क्षायिकसम्यक्त्वी ज्ञान करता है कि नारकीपने की योग्यता स्वयं की पर्याय में है, वह कर्म के कारण नहीं है; लेकिन स्वयं के कारण है तो भी वह पर्याय है; इसलिए आदरणीय नहीं है। आश्रय तो स्वभाव का ही रहता है।

तिर्यंचगति में निगोद से लेकर संज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंच तक ले लेना। उस गतिरूप की योग्यता जीव की है। अढ़ाई द्वीप के बाहर असंख्यात तिर्यंच पाँचवें गुणस्थान में हैं। वे समझते हैं कि तिर्यंचरूप रहने की स्वयं की योग्यता है, लेकिन पर्याय आदरणीय नहीं है। द्रव्य ही आदरणीय है। बादर सूक्ष्म एकेन्द्रियादि भिन्न-भिन्न भेदों को केवलज्ञानी जैसे स्वतंत्र जानते हैं, वैसे श्रुतज्ञानी भी श्रुतज्ञान से सभी पर्यायें स्वतंत्र हैं - ऐसा जानते हैं, फिर भी पर्याय आदरणीय नहीं है।

मनुष्यगति पूर्वकर्म के कारण से नहीं है, मनुष्य शरीर तो पुद्गल है, इसकी बात नहीं है। आत्मा की उस रूप की योग्यता वह मनुष्यगति है, पर्याय का ज्ञान किया, वह आदरणीय नहीं है – ऐसा जानकर द्रव्य आदरणीय है – ऐसी श्रद्धा करना।

देवगतिरूप जीव की पर्याय जीव की योग्यता है, वह आदरणीय नहीं है; द्रव्य आदरणीय है।

(२) इन्द्रियमार्गणा- आत्मा स्वयं के अवलम्बन से परिपूर्ण काम करता हो तो ज्ञान में खण्ड-खण्ड दशा न हो अर्थात् भावेन्द्रिय न हो। आत्मा कैसा है ? आत्मा जड़ इन्द्रियों से अगम्य है तथा भावेन्द्रियों के अवलम्बन से भी गम्य नहीं है। वस्तु जो सत् है, वह आदि-अन्तरहित है तथा वह अखंड ज्ञानस्वभावी वस्तु के आश्रय से अनुभव की जा सकती है; केवलज्ञान में पूर्णगम्य है और साधक को स्वसंवेदन ज्ञान से अल्पगम्य है। जीव स्वयं के शुद्धात्मा का अवलम्बन करता नहीं है, इसलिए उसको भावेन्द्रियपना भी प्राप्त होता है। एकेन्द्रियादिपना शुद्धात्मतत्त्व से प्रतिपक्षीभूत है। एकेन्द्रिय जीवों के ज्ञान का अल्प क्षयोपशमपने परिणमन हो रहा है, वह स्वयं के कारण से है; कर्म के कारण नहीं है।

यहाँ शरीर अथवा जड़ इन्द्रिय की बात नहीं है, लेकिन अरूपी भावेन्द्रियपने की स्वतंत्रता बतलाना है। यह अशुद्धनय का विषय है। पर्याय में एकेन्द्रियपना है, तो भी उसी समय स्वभाव तो अतीन्द्रिय आनन्दकन्द है – ऐसा शुद्धनय से धर्मी जीव जानता है। इसप्रकार दोनों नयों का ज्ञान कराता है। यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य में हो नहीं सकती। इसलिए सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय पहले ही होना चाहिए। एक समय में प्रत्यक्ष ज्ञान में सर्वज्ञ ने सम्पूर्णरीत्या देखा है। अल्पज्ञ परोक्षज्ञान द्वारा यह बात निश्चित नहीं कर सकता है। एकेन्द्रिय की अवस्था स्वतंत्र है – ऐसा जानकर भी आत्मा आनन्दकन्द है – ऐसी दृष्टि करना – यह प्रयोजन है। दो इन्द्रियपना यह भी ज्ञान की खण्ड-खण्ड अवस्था है, वह कर्म के कारण नहीं है; फिर भी स्वभाव तो अतीन्द्रिय है। अन्यमत का निषेध कराकर, अशुद्धनय के विषयभूत पर्याय का ज्ञान कराकर, उसका निषेध कराकर, त्रिकाली शुद्धस्वभाव की श्रद्धा कराते हैं।

तीन-चार-पाँच इन्द्रियों का क्षयोपशम भी स्वयं के कारण से है। कर्म का क्षयोपशम है, इसलिए ज्ञान का उघाड़ है – ऐसा नहीं है। संसारी जीव को ढूँढना हो तो वह

इन्द्रियमार्गणा से जाना जायेगा। केवली को भावेन्द्रियपना नहीं है, उनको अतीन्द्रिय अनुभव है।

(३) कायमार्गणा- आत्मा तो शरीररहित है। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, कार्माण और तैजस - ऐसे पाँच प्रकार के शरीर का आत्मा में अत्यन्त अभाव है। आत्मतत्त्व को भूला हुआ जीव पृथ्वी आदिरूप हीनदशा को प्राप्त करता है। ऊपर जो दिखता है, वह तो पृथ्वी का शरीर है, उसकी बात नहीं है। अन्दर पृथ्वीकायरूप जीव की पर्याय की बात है, वह स्वतंत्र है। पृथ्वीकायरूप जीव की दया पालने की बात नहीं है, यह अवस्था बतलाकर उसका आश्रय छुड़ाकर शुद्धस्वभाव का आश्रय कराना है। जलकाय की दशारूप से जीव स्वयं हुआ है, उसको मार सकना अथवा जला सकना; उसकी बात नहीं है, जीव की स्वतंत्र दशा बतलाना है। अग्निकायरूप से जीव स्वयं हुआ है, ऊपर दिखता है, वह तो शरीर है; उसकी बात नहीं है। अन्दर एकेन्द्रियपने की योग्यता की बात है। इसीप्रकार वायुकायरूप से, वनस्पतिकायरूप से अथवा त्रसकायरूप से जीव स्वयं परिणमता है। कोई ईश्वर तो उसका कर्ता नहीं है, लेकिन कर्म के कारण उस रूप दशा हुई है - ऐसा भी नहीं है। उसीप्रकार पूर्वपर्याय के कारण भी नहीं है। यह वर्तमान पर्याय स्वतंत्र है - ऐसा अशुद्धनय से बतलाते हैं, लेकिन वह एक समय की पर्याय है, इसलिए उसका अवलम्बन लेना युक्त नहीं है। त्रिकाली स्वभाव का अवलम्बन लेना ठीक है। त्रिकाली स्वभाव का अवलम्बन लेना कहा, इससे एकेन्द्रयादि जीवों के भेद हैं ही नहीं, ऐसा जानें तो ज्ञान असत्य ठहरता है। वर्तमान पर्याय अथवा भेद उसका अस्तित्व उड़ाने से श्रद्धा-ज्ञान सत्य नहीं होते हैं और एकेन्द्रियादि पर्यायें ही जीव का पूर्ण स्वरूप माने तो भी असत्य है। इसलिए जैसा है, वैसा समझना चाहिए।

(४) योगमार्गणा- भगवान आत्मा तो पन्द्रह प्रकार के योग के व्यापार से रहित हैं; पर्याय में कंपन है, वह स्वभाव नहीं है। ऐसा व्यापार-रहित शुद्धतत्त्व से विलक्षण मनोयोग, वचनयोग और काययोग - ऐसी तीन प्रकार की योगमार्गणा है अथवा विस्तार से पन्द्रह प्रकार है। पन्द्रह प्रकार में जिस-जिसप्रकार का योग रहता हो, उस-उसप्रकार का समझना। मन वचन काय तो जड़ है, उसकी बात नहीं है; लेकिन आत्मा के प्रदेशों का कंपन वह योग है और उसमें जो निमित्त हो, उस-उसप्रकार का योग कहा जाता है।

मन की ओर झुकाव अथवा कंपन, वह मनोयोग है। वचन के निमित्त से कंपन, वह वचनयोग; काय के निमित्त से कंपन, वह काययोग है। सत्य बोलने के भाव के समय प्रदेशों के कंपन को सत्यमनोयोग कहते हैं। आत्मा के असंख्यप्रदेशों में सूक्ष्म परिस्पंदन होता है – यह कंपन की बात है। असत्य बोलने के भाव के समय प्रदेशों का कंपन – यह असत्यमनोयोग है। इस सत्यासत्य मनोयोग और सत्यासत्य मनोयोग से विलक्षण मनोयोग – ऐसे चार प्रकार से प्रदेशों में स्वतंत्र कंपन होता है। इसप्रकार पर्याय की स्वतंत्रता का ज्ञान करा कर द्रव्यदृष्टि कराते हैं। इसप्रकार सत्य, असत्य, सत्यासत्य और सत्यासत्य से विलक्षण – ऐसी चार प्रकार की वाणी बोली जाये, उससमय जो कंपन हो, वह वचनयोग है।

इसप्रकार प्रदेशों के कंपन में जिसप्रकार का शरीर निमित्त हो, उसप्रकार योग (काययोग) समझना। औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियक, वैक्रियकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्माण – ऐसे सात प्रकार के काययोग समझना। किसी मुनि को आहारकयोग होता है, कार्माणयोग जीवों के विग्रहगति में होता है। उस-उसप्रकार की स्वतंत्रता स्वयं की कारण से है, कर्म के कारण से नहीं है। इसप्रकार पर्याय का ज्ञान कराया तथा द्रव्य कंपनरहित है – ऐसी दृष्टि भी साथ में करायी है।

(५) वेदमार्गणा- तीन प्रकार के वेद कहे, यह द्रव्यवेद की बात नहीं है। शरीर के अवयव तो जड़ हैं। अन्दर के भाव की बात है। ऐसे वेद के उदय से जो रागादि दोष उत्पन्न होते हैं, वे पर्याय में हैं; लेकिन परमात्मद्रव्य में नहीं हैं। द्रव्य तो त्रिकाल अवेदी भगवान है, उससे वेद के परिणाम भिन्न हैं।

स्त्रीवेद- स्त्रीवेद के परिणाम कर्म के कारण या पर के कारण से नहीं हैं, जीव के स्वयं के कारण से हैं; तो भी द्रव्य से भिन्न हैं। जिससमय स्त्रीवेद पर्याय में है, उसी समय वह परिणाम स्वभाव में नहीं है – इसप्रकार दोनों का ज्ञान कराया है।

यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं है, सर्वज्ञपना का एक ही प्रकार है। जैन के नाम से जो शाखा निकली है (श्वेताम्बर मत) उसमें भी सर्वज्ञपना नहीं है। पूर्णज्ञान दर्शन दशा प्रकट हो, इसका एक ही मार्ग है। इसलिए सत्यार्थ देव-गुरु-शास्त्र का निर्णय करना चाहिए। 'सत्तास्वरूप' में अनेक बोलों में महत्त्वपूर्ण वास्तविक

रकम बतायी है। मूल रकम के निर्णय के बिना पेटा भेद का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। इसलिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप का यथार्थ निर्णय होना चाहिए।

श्लोकवार्तिककार विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहा हुआ द्रव्य-गुण-पर्याय वगैरह का स्वरूप जिस प्रमाण से है, उससे विरुद्ध कोई जीव प्ररूपणा करे, तब स्वयं का श्रद्धा-ज्ञान रखकर उसका विरोध करने का विकल्प न उठे और मिथ्या प्ररूपणा की तलाक न दे, वह मिथ्यादृष्टि है।

स्वयं के पिता को किसी के द्वारा गाली देने में आये तो पुत्र सहन नहीं कर सकता, उसीप्रकार सर्वज्ञ के विरुद्ध कहनेवाली बात को धर्मी जीव सहन नहीं कर सकता और यह प्ररूपणा असत्य है - ऐसा विकल्प आये बिना रहता नहीं है। जो ऐसा विकल्प न आये तो वह मिथ्यादृष्टि है। किसी को भाषा का योग न हो और वचन द्वारा विरोध न करे तो यह बात पृथक् है; लेकिन भाव में असत्य का विरोध आये बगैर नहीं रहता, अन्यथा सर्वज्ञ का अनादर हो जाता है। इसलिए जीवों को सत्य का यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

पुरुषवेद- द्रव्यवेद की बात नहीं है, लेकिन अन्दर में विकार होता है; वह जीव की पर्याय है, वह अशुद्धता जीव के कारण से है। पुरुषवेद का काल था, वह तेरे स्वयं से है - ऐसा स्वीकार करे; उसी क्षण 'अखंडानंद ध्रुव हूँ' - ऐसी दृष्टि की स्वीकृति पर्याय का ज्ञान कराती है। अज्ञानी जीव कहते हैं कि हमारे भाव करने के नहीं हैं, लेकिन पूर्व के कर्म एकसाथ उदय में आये; इसलिए ऐसे भाव होते हैं, लेकिन यह बात बिलकुल गलत है। वेद के परिणाम पर्याय में व्यक्त हैं। जो व्यक्त है, उसकी स्वतन्त्रता नहीं भासती है, उसको अव्यक्त शुद्धद्रव्य स्वतंत्र है - ऐसा भान नहीं हो सकता। वेद की पर्याय होने पर भी सारी वस्तु ऐसी नहीं हुई है - ऐसा ज्ञान कराया है।

नपुंसकवेद- स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने का भाव, वह नपुंसकवेद है। वह कर्म के कारण से नहीं है, वह विभाव जीव के कारण से होता है। उसी समय त्रिकाली भगवान अव्यक्त अवेदी अन्दर विराजता है - ऐसी श्रद्धा करने के लिए यह बात कही है। इसप्रकार वेदमार्गणा हुई। यहाँ द्रव्यसंग्रह में यह बात भावमार्गणा की है, इसलिए उसको अशुद्धनय का विषय कहा है।

(६) कषायमार्गणा- भगवान आत्मा तो कषाय से रहित है, स्वभाव तो शुद्ध है, तब फिर कषाय कहाँ से आयी? स्वयं ने पर्याय में की, इसलिए शुद्ध आत्मा के स्वभाव से प्रतिकूल क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। जीव स्वयं के अकषायी स्वभाव को भूलता है, तब पर्याय में ऐसे परिणाम होते हैं; उन्हें विस्तार से कहते हैं।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसी श्रद्धारहित स्वरूप का आचरण भूलकर होनेवाले मिथ्या आचरण के परिणाम अनन्तानुबंधी के परिणाम हैं। सत्यार्थ देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अनादर के परिणाम को, सत्यार्थ देवादि की अपेक्षा कुदेवादि अथवा स्त्री कुटुम्ब के प्रति अधिक राग होने के परिणमन को अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं। अनन्तानुबंधी को तीव्र, अप्रत्याख्यान को मंद, प्रत्याख्यान को मंदतर, संज्वलन को मंदतम कषाय कहते हैं। उनमें क्रोध, मान, माया लोभ - ऐसे प्रत्येक के चार भेद होने से सोलह भेद होते हैं।

यह जीव की योग्यता के कारण से है, कर्म के कारण से नहीं है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद - ऐसी नौ प्रकार की नोकषाय के परिणाम जीव के कारण से हैं। इसप्रकार पच्चीस प्रकार से कषायमार्गणा है, वह परिणाम जीव के कारण से है। यह अशुद्धनय का विषय है। कषायें द्रव्य में नहीं हैं, कारण कि द्रव्य शुद्धनय का विषय है। यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। जो सर्वज्ञ की बात को अन्यमत के साथ समन्वय करने जाता है, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। दूसरों ने सर्वज्ञ के नाम से संप्रदाय चलाने के लिए बिना बुद्धि के नकल की है। जो सुदेवादि-कुदेवादि के बीच विवेक नहीं करता और स्वयं का माना हुआ पथ नहीं छोड़ता, वह मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञ भगवान जिसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप कहते हैं, उसप्रकार जाने तो पर्यायबुद्धि दूर होकर स्वभावबुद्धि होती है।

(७) ज्ञानमार्गणा- इस संसार में अनन्त आत्मायें हैं, प्रत्येक आत्मा त्रिकाल शुद्ध है; इसप्रकार स्वयं भी शुद्ध है - ऐसा ज्ञान होने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान होने से स्वयं की वर्तमान पर्याय ज्ञान-दर्शन इत्यादि की कौन-कौन-सी होती है और दूसरे (जीव) कौन-कौन-सी दशा में बरतते हैं - यह मार्गणास्थान का जानपना (जानकारी) है। मार्गणास्थान सभी संसारी जीवों के होते हैं, किन्तु उसका निर्णय साधक जीव अशुद्धनय से करता है। यहाँ दो नय की व्याख्या चलती है। आत्मा

ज्ञानस्वभावी है, उसको निमित्त से अथवा विकार से धर्म नहीं होता; उसीप्रकार पर्याय के अवलम्बन से भी नवीन शुद्धदशा प्रकट नहीं होती है। शुद्धदशा तो द्रव्य के आश्रय से होती है। 'मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ' – ऐसा ज्ञान शुद्धनय से होता है और स्वयं की तथा जगत के जीवों की वर्तमान पर्याय जानना – यह अशुद्धनय का विषय है। यह केवली की बात नहीं है, उनको कुछ निर्णय करना नहीं रहता, साधक इन गुणस्थानों का विचार करता है।

आत्मा द्रव्य है, उसका स्वभाव ज्ञान है। उसकी पाँच सम्यग्ज्ञान की और तीन मिथ्याज्ञान की – ऐसी आठ पर्यायें हैं। प्रत्येक आत्मा का ज्ञानस्वभाव एक रूप शुद्ध है, उस ज्ञानगुण की आठ अवस्थायें हैं। मिथ्याज्ञान हो, तब सम्यग्ज्ञान नही होता और सम्यग्ज्ञान हो, तब मिथ्याज्ञान नहीं होता। यहाँ सम्यग्ज्ञानी जीव त्रिकाली स्वभाव का निर्णय कर पर्याय का ज्ञान करता है। पर्याय अशुद्धनय का विषय है। केवलज्ञान के निर्णय की अपेक्षा तीन लोक के पदार्थों का निर्णय होता है। दूसरे जड़ तथा चेतन पदार्थों का जिस काल में जैसा होना है, वैसा होता है; उसमें परिवर्तन नहीं होता है। इस जगत में तत्त्वों का महान मर्म है। केवलज्ञान – यह ज्ञान की पूर्णपर्याय है। आत्मा द्रव्य है, सदा ज्ञान उसका परमस्वभाव है। यह ज्ञानगुण न हो तो स्व-पर को नहीं जाना जा सकता। इसलिए ज्ञानगुण सदृशध्रुव है और वह पूर्ण है।

उसकी वर्तमान पर्याय, साधकदशा में राग-द्वेष में रुकने (अटकने) से अल्पज्ञता भासित होती है। वह पर्याय का वास्तविक स्वरूप नहीं है। पर्याय का पूर्णस्वरूप जानना हो सकता है। इसप्रकार आत्मद्रव्य, ज्ञानगुण और उसकी जाननेरूप की पर्याय पूर्ण हो सकती है – ऐसा जिसने निश्चित किया, वह जानता है कि जगत के पदार्थों का जिस काल में जैसा होना है, वैसा होता है; उसमें थोड़ा भी आगे-पीछे (फेरफार) नहीं होता है।

प्रश्न:- कोई यहाँ प्रश्न करता है कि फिर इसमें पुरुषार्थ कहाँ रहा?

समाधान:- इसमें ही पुरुषार्थ है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है और उसकी एक समय की पर्याय पूर्ण हो सकती है अर्थात् केवलज्ञान जगत में है। पूर्णशक्ति में से पूर्णकार्य प्रकट हुआ – ऐसा स्वीकार करनेवाले को राग-द्वेष, हर्ष-शोक, इत्यादि परिणाम हेय बुद्धि से होते हैं। जगत में अनन्त केवली हैं, वे स्वयं के सामर्थ्य से केवलज्ञान को प्राप्त

हुए हैं। इसप्रकार जो मानता है, उसको दया-दानादि की रुचि दूर हो जाती है, विकल्प का आदर छूटता है, अल्पज्ञ पर्याय का लक्ष्य नहीं रहता है। अल्पज्ञ में अल्पज्ञ के आश्रय से सर्वज्ञ का निर्णय नहीं होता। मैं अल्पज्ञ हूँ, पूर्णपर्याय कहाँ से आयेगी? अल्पज्ञता का अभाव और सर्वज्ञता का उत्पाद कहाँ से होगा?

राग में से अथवा निमित्त में से होगा? नहीं, स्वयं में से होगा। ऐसा निर्णय करने से निमित्त की और पुण्य-पाप की रुचि दूर हो जाती है। अल्पज्ञता में से सर्वज्ञता प्रकट नहीं होती – ऐसा निर्णय करने से अल्पज्ञता की रुचि दूर हो जाती है और सर्वज्ञता तो ज्ञानगुण ध्रुवसदृश है, उसमें से आती है और वह ज्ञानगुण आत्मा का है। इसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा उपादेय मानी और राग तथा अधूरी पर्याय को हेय मानी। अनन्त जीवों ने केवलज्ञान प्राप्त किया और प्राप्त करेंगे; वे स्वयं के आश्रय से केवलज्ञान को प्राप्त हुए – इसप्रकार मैं भी प्राप्त करूँगा – ऐसा निर्णय करनेवाला स्व में रहकर निर्णय करता है। कारण कि वह पर्याय ज्ञानगुण में से प्रकट होती है और उस ज्ञानगुण का धारक आत्मा है। इससे आत्मा की ओर दृष्टि हुए बिना केवलज्ञान का निर्णय नहीं होता, वह निर्णय क्रमबद्ध होता है, किन्तु वह स्वद्रव्य के आधार से होता है; लेकिन अल्पज्ञता के आधार से नहीं होता है।

जगत के तत्त्व जिसप्रकार हैं, उसप्रकार भगवान ने केवलज्ञान से जाने और वाणी द्वारा कहा। इसप्रकार जो निर्णय करता है; वह पर्यायबुद्धि, निमित्तबद्धि और अल्पज्ञबुद्धि को हेय मानता है और ज्ञानगुण को उपादेय मानता है अर्थात् यह ज्ञानगुण आत्मा का है; इसलिए आत्मा को उपादेय मानता है, उसको सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता है। केवलज्ञान का अथवा सर्वज्ञ का निर्णय करनेवाले को अल्पज्ञता और राग-द्वेष की हेय बुद्धि बरतती है, वह उसको उपादेय नहीं मानता है। वह तो शुद्ध अन्तरस्वभाव को ही उपादेय मानता है। जगत के पदार्थ व्यवस्थित परिणमित हो रहे हैं। लोकालोक में कोई भी पर्याय उलटी-सीधी नहीं होती, ऐसा निर्णय करनेवाले जीव को सर्वज्ञता प्रकट होती है, वह ऐसे द्रव्यस्वभाव को ही उपादेय मानता है। जो जीव वस्तुस्वरूप को क्रमबद्ध नहीं मानता, वह केवली को नहीं मानता। उसको द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप की और देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप की श्रद्धा नहीं है।

शंका – इसमें पुरुषार्थ कहाँ से आया?

समाधान – सर्वज्ञ की प्रतीति करनेवाला गुणी का आदर करनेवाला है, ज्ञानगुण परिणमित होकर केवलज्ञान रूप होता है और उस गुण को धारण करनेवाली स्वयं की आत्मा है। पहले अज्ञानदशा में राग को ज्ञान के साथ एकत्व मानता था अथवा निमित्त से अल्पबुद्धि थी, वह दूर होकर गुणी में एकत्व हुई। जो शक्ति निमित्त और राग में अटकती थी, वह स्वभाव की ओर झुकने लगी। कारण कि स्वभाव की एकाग्रता होने से सर्वज्ञदशा होगी, वह शक्ति वीर्य अथवा पुरुषार्थ है, वह सम्यग्दर्शन और ज्ञान है और वही जैन धर्म है। केवली भगवान को सर्वज्ञता कहाँ से प्राप्त हुई? गुणी में (आत्मद्रव्य में) एकाग्रता होने से वह प्रकट हुई है। ऐसा निर्णय लेने से आत्मा की ओर दृष्टि जाती है। इसप्रकार क्रमबद्ध की स्वीकारोक्ति करनेवाले को द्रव्यदृष्टि होती है और राग तथा अल्पज्ञता की हेय बुद्धि रहती है।

यह मार्गणा का अधिकार है। मिथ्यादृष्टि को मार्गणा होती है, लेकिन उसको मार्गणा खोजना (ढूँढना) नहीं होता; क्योंकि उसको शुद्धनय का पता नहीं है, इसीप्रकार अशुद्धनय का भी पता नहीं है। धर्मीजीव जिसको शुद्धनय का ज्ञान है, वह अशुद्धनय से स्वयं की तथा अन्य की पर्याय का ज्ञान करता है। केवलज्ञान भी पर्याय है, उसमें दिखनेवाले जगत के पदार्थ क्रमशः परिणमित होते हैं। इसप्रकार केवलज्ञान का निर्णय करने से द्रव्य का निर्णय होता है, देव-गुरु-शास्त्र का निर्णय होता है और यही पुरुषार्थ है।

पहले एक भाई ने प्रश्न किया कि केवलज्ञानी ने जैसा देखा है; वैसा होता हो, तब पुरुषार्थ नहीं रहता। तब उससे कहने में आता है कि केवलज्ञानी है या नहीं? उसका अस्तित्व तुमने स्वीकार किया है? जिसकी बात पूछते हो, उसकी स्वीकारोक्ति है न? प्रश्न पूछनेवाले ने कहा – 'मेरे लिए उसका काम नहीं है।' उससे कहा जाता है कि 'ऐसा नहीं चलता।' तुम ऐसा कहे सकते हो कि संसार में कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता अथवा सर्वज्ञ को न मानें तो क्या आपत्ति है? किन्तु केवलज्ञानी ने जैसा देखा, वैसा होता हो तो पुरुषार्थ नहीं होता – इस प्रश्न के पहले केवलज्ञानी की अस्ति स्वीकार करना चाहिए।

आत्मा है, तब उसका स्वभाव ज्ञान भी है और जिसका जो स्वभाव हो, वह पूर्ण

नहीं होता – ऐसा नहीं होता। पूर्ण व्यक्तता न होती तो वह उसका स्वभाव नहीं कहा जा सकता अर्थात् आत्मा माननेवाले ने ज्ञानस्वभाव माना और उसकी पूर्णदशा केवलज्ञान माना और केवलज्ञान माननेवाला क्रमबद्धपर्याय माने बिना नहीं रहता है, उसको पर्यायबुद्धि नहीं होती, उसको स्वभावबुद्धि होती है। इसका नाम पुरुषार्थ है। इसप्रकार जिसको विचार आया, उसका पुरुषार्थ जाग्रत होता है। जगत समझे या न समझे, वह उसके कारण से है। जगत की पर्याय उलटी-सीधी नहीं होती है – ऐसा निर्णय करनेवाले को अहंकार का पानी उतर जाता है और पहले की विपरीत मान्यता शून्य (व्यर्थ) हो जाती है।

सर्वज्ञ का निर्णय होने से सर्वज्ञ दोषरहित होते हैं – ऐसा निर्णय होता है। उनके भोजन-पान नहीं होता (कवलाहार नहीं करते), रोग नहीं होता। जो जीव ऐसा मानता है कि सर्वज्ञ भोजन लेते हैं, उन्हें रोग होता है; वह देव-गुरु-शास्त्र को समझता नहीं है। ज्ञानपर्याय अन्तर्मुखी होकर केवलज्ञान प्रकट हुआ, उनको संयोगरूप से परम औदारिक स्फटिक जैसा शरीर होता है और आहार नहीं होता। इसप्रकार सर्वज्ञता प्रकट होने से कैसा संयोग हो और कैसे संयोग का अभाव हो, वह धर्मी जीव जान लेता है।

छोटी पीपल में ६४ पहरी (चरपरापन) प्रकट होती है, वह कहाँ से होती है? वर्तमान में तीखापन (चरपरापन) कम है। ६४ पहरी अव्यक्त है। वह शक्ति में से व्यक्त होगी। उसीप्रकार वर्तमान पर्याय में अल्पज्ञता है, गुण अव्यक्त हैं। मेरा स्वभाव सर्वज्ञशक्तिवाला है – ऐसा निर्णय कर अन्तर (चैतन्य) में उतरने से सर्वज्ञता व्यक्त होती है। यही पुरुषार्थ है। यह बात न्याय से कही जाती है। आत्मा है, तब वह स्वयंसिद्ध है। आत्मा है, तब ज्ञानस्वभाव है, ज्ञान सविकल्प है, वह विशेष रूप से पदार्थ को निश्चित करता है। परमभावग्राहक दृष्टि से ज्ञान ही आत्मा है, क्योंकि ज्ञान अनन्त गुणों को जानता है। इसप्रकार आत्मा ''ज्ञ'' स्वभावी है। ऐसा निर्णय करने से अल्पज्ञता नहीं रहती। साधकदशा में अभी राग-द्वेष होंगे, लेकिन अल्पराग का ज्ञाता रहकर शुद्धता वृद्धिंगत करता हुआ वीतरागता प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त करेगा। इसप्रकार अनन्त जीवों ने केवलज्ञान प्राप्त किया, वर्तमान में प्राप्त करते हैं और भविष्य में प्राप्त करेंगे। जहाँ तक वस्तुस्थिति विचार में न आये और भावभासना न हो, वहाँ तक सब व्यर्थ है। सर्वज्ञ भगवान, निर्ग्रन्थ गुरु और शास्त्र इसप्रकार स्पष्ट कह रहे हैं।

अज्ञानी जीव मानता है कि मेरी चतुराई से पैसा आता है, यह जीव व्यर्थ का अभिमान करता है। पैसा तो पुद्गल जड़ है। वह अपने परावर्तन के समय आता है और जाता है। पैसा आने का समय था, इसलिए आया है। जीव की होशियारी (चतुराई) के कारण से नहीं आया है। वस्तुस्थिति ऐसी है। मेरा स्वभाव ज्ञान से परिपूर्ण है। मेरी कमजोरी है, इसलिए अल्पज्ञता है और पूर्ण हूँ; इसलिए सर्वज्ञता प्रकट कर सकता हूँ – ऐसा हूँ। केवलज्ञान मानने में न आये तो संसार कभी नष्ट नहीं होता, लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

प्रश्न– तब फिर चरणानुयोग में मन्द कषाय करने का उपदेश क्यों दिया?

समाधान– मन्दकषाय जिस काल होना है, उसी काल में होती है; अन्य समय में नहीं। फिर भी तत्त्वज्ञान के लक्ष्यपूर्वक चरणानुयोग में कथन होता है।

और फिर प्रवचनसार गाथा ८० में कहा है :–

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥

जो जीव अरहन्त के द्रव्य–गुण–पर्याय को जानते हैं कि मेरा आत्मा वैसा ही शक्ति रूप से है, अन्तर्मुख होने से केवलज्ञान प्रकट करने की शक्ति मेरे में है – ऐसा निर्णय करनेवाले को क्षायिकसम्यक्त्व होता है। अरहन्त भगवान की केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख वगैरह अर्थपर्याय और उनकी व्यंजनपर्याय को जो जानता है; निर्णय करता है कि मैं भी उसी जाति का हूँ; मैं मेरे द्रव्य के अवलंबन से उस अवस्था को प्रकट कर सकूँगा, उसका दर्शनमोह नष्ट होता है। इसप्रकार क्षायिकसम्यक्त्व की बात कही।

और फिर गाथा ८२ में कहा है:–

सव्वे विय अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तथोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं॥८२॥

अनंत अरहन्तों ने उस ही विधि से कर्मों का नाश किया तथा उसी प्रकार उपदेश दिया; मोक्ष प्राप्त किया, उनको नमस्कार हो। इसप्रकार कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रवचनसार में स्पष्ट कहा है।

फिर कोई कहता है कि जड़ पदार्थों में पर्याय क्रमबद्ध होती है, लेकिन आत्मा में क्रमबद्ध नहीं होती। यह बात भी असत्य है। जड़पदार्थ क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं, वे ज्ञेय हैं, उनको ज्ञान जानता है, जड़पदार्थ व्यवस्थित हैं। इसप्रकार जो ज्ञान निर्णय करता है, वह ज्ञान भी क्रमबद्ध है, उलटा-सीधा नहीं है। ज्ञान क्रमबद्ध है, इसमें ही सर्वज्ञ का निर्णय है और सर्वज्ञ के निर्णय में सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न- जैसे ज्ञेय व्यवस्थित हैं, वैसे ज्ञान क्रमबद्ध है; उसीप्रकार कर्म के उदयानुसार राग होता है, वह भी क्रमबद्ध है न?

समाधान:- 'नहीं'। कर्म के उदयानुसार राग हो, तब कर्म और राग एक हो जाते हैं और राग की पर्याय भी सिद्ध नहीं होती है। इसलिए यह बात मिथ्या है। धर्मी जीव जानता है कि पर्याय की योग्यता मेरे कारण से है, कर्म के अनुसार नहीं। अनादि अनन्तकाल के जितने समय हैं, उतनी चारित्रगुण की पर्यायें हैं। वे क्रमपूर्वक स्वयं के कारण से हैं। ज्ञानी जानता है कि राग होता है, उससमय कर्म निमित्त हैं; लेकिन कर्म का उदय कर्म के कारण से है। कर्म के उदय के कारण राग नहीं है। उसीप्रकार कर्मोदय के प्रमाण में भी राग नहीं है। कर्मोदय के प्रमाण में राग करना पड़े तो निगोद में से निकलने का अवसर भी न मिले। निगोद के जीवों की कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर की है। वहाँ से निकल कर कोई पंचेन्द्रिय मनुष्य हो तो वहाँ विग्रहगति में ही अन्त:कोड़ाकोड़ी की स्थिति का कर्म बाँधता है।

एक सागर की स्थितिवाले ही कर्म उदय में हैं और अन्त: कोड़ाकोड़ी अर्थात् इतनी अधिक लंबी स्थिति के कर्म कैसे बाँधता है? इसलिए कर्म के उदयानुसार जीव राग नहीं करता, लेकिन कम या ज्यादा स्वयं की योग्यतानुसार करता है। कर्म के उदयानुसार राग हो तो साधक होने का अथवा मन्द राग करने का भी प्रसंग नहीं रहता। राग के प्रमाण में जड़कर्म का उदय होना चाहिए - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध का अर्थ नहीं है। कर्मों के उदयानुसार राग हो - ऐसा माननेवाला मूढ़ है। उसकी कर्म के साथ एकत्वबुद्धि है। धर्मी जीव को उदय के सन्मुख दृष्टि नहीं है, लेकिन स्वभावसन्मुख दृष्टि है। जिसप्रकार का राग और जितने प्रमाण में हो, उसको उसप्रकार से जानता है और कर्म का उदय निमित्त है - ऐसा भी जानता है। अन्य के कारण मेरे में कुछ नहीं है और मेरे कारण पर में कुछ नहीं है - ऐसा वह जानता है।

यहाँ ज्ञानमार्गणा की बात चलती है। उसमें पहला भेद मतिज्ञान है। सम्यग्दृष्टि निश्चित करता है कि जिससमय अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा होना है – उससमय होता है। वह इन्द्रिय के कारण या कर्म के क्षयोपशम के कारण नहीं है। ज्ञानगुण का स्वकाल निश्चित है, वही होने का है। आँख खुली हो तो जानना होता है और बन्द हो तो जानना नहीं होता – यह गलत है। आत्मा वस्तु है, ज्ञान उसका गुण है और उसकी सम्यक् पाँच पर्यायें हैं। पर्यायें उत्पाद–व्ययरूप हैं और गुण ध्रुवरूप हैं। अवग्रहादि मतिज्ञान की पर्यायें हैं। शुद्धनय से गुणी आत्मा जाना जाता है, अशुद्धनय से अवग्रह की जो–जो पर्यायें होती हैं, उनको वैसा जानता है। लेकिन वह भेदरूप है, इसलिए अशुद्धनय से जानता है। त्रिकाल वस्तु तो एकरूप है, उसको शुद्धनय जानता है।

यहाँ ज्ञानप्रधान आत्मकथन है, इसलिए पर्याय के भेदों को जाननेवाले नय को अशुद्धनय कहा है। समयसार में दृष्टिप्रधान अध्यात्मकथन है, इसलिए वहाँ पर्याय के भेदों को जाननेवाले नय को व्यवहारनय कहा है। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा क्रमपूर्वक होते हैं। सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मेरी पर्याय मेरे कारण हीन है, निमित्त कारण से नहीं है। हीन पर्याय का ज्ञान होने पर भी शुद्ध ओर की दृष्टि हटती नहीं है।

कोई कहता है कि चश्मा हो तो दिखता है न? 'नहीं' –चश्मे के कारण ज्ञान मानने वाला ज्ञान के वर्तमान को उड़ाता (नष्ट करता) है। जिसको वर्त्तमान पर्याय की स्वतंत्रता की जानकारी नहीं है, उसको द्रव्य की जानकारी नहीं है।

प्रश्न– तब फिर चश्मा किसलिये लगाते हो?

उत्तर– चश्मा कौन लगाता है? चश्मा लगाया जाता है – ऐसा जानता है। जड़ की अवस्था आत्मा नहीं कर सकता है।

प्रश्न– चश्मा लगाते हम प्रत्यक्ष देखते हैं, यह दार्शनिक प्रमाण है।

उत्तर– यहाँ एक पंडितजी आये हुए थे। उनने भी ऐसा कहा कि यह फ्रेम प्रत्यक्ष रूप से किसमें है? प्रत्यक्षरूप फ्रेम में हो, इन्द्रिय में हो, राग में हो अथवा स्वयं के ज्ञान में हो, ज्ञान प्रत्यक्ष किसको होता है? इन्द्रिय नहीं, राग नहीं, मेरा स्वभाव ही ज्ञान है; ऐसा स्वयं का ज्ञानस्वभाव स्वतंत्र है। ऐसा जिसने निर्णय किया है, उसको ज्ञान आंशिक प्रत्यक्ष प्रकट हुआ है और ऐसा जीव दूसरे पदार्थों का निर्णय कर सकता है।

दार्शनिक प्रमाण (साक्ष्य) कहाँ रहता होगा? जड़ में रहता होगा? 'नहीं' जड़ में नहीं, जड़ के कारण नहीं, सारी दुनियाँ के पदार्थ स्वतंत्र हैं - ऐसा निर्णय कर स्वयं की ओर झुकाव कर जो स्वसंवेदन प्रकट हुआ, वह स्वयं को और पर को स्वतंत्ररीत्या जानता है। यह दार्शनिक प्रमाण है।

प्रश्न - इसमें कार्य-कारण सम्बन्ध क्या हुआ?

उत्तर - त्रिकालीद्रव्य कारण है और सम्यग्ज्ञान की पर्याय प्रकट हुई - यह कार्य है। यहाँ सम्यक् मतिज्ञान की बात चलती है। सम्यग्दृष्टि जीव अशुद्धनय से मतिज्ञान की पर्याय को जानता है और इसप्रकार के ज्ञान की हीनता (अल्पता) बरतती है - ऐसा जानता है। उसीप्रकार दूसरे की भी पर्याय जैसी हो रही हो, वैसी जानता है। लेकिन रुचि तो शुद्ध स्वभाव पर ही है। इस धर्मीजीव को शुद्धनय और अशुद्धनय दोनों का ज्ञान होता है।

धर्मीजीव संयोग विकार और पर्याय को गौण कर त्रिकालीद्रव्य को उपादेय मानता है। आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की शुद्धि की वृद्धि करनेवाले को आत्मा का परम स्वभाव एक रूप अंगीकार करने जैसा है। ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि होती है, तब भी कितनी भेददशा है, उसका अशुद्धनय से ज्ञान करता है। दोनों नय का ज्ञान एकसाथ होता है। मैं परम पारिणामिक भाव एकरूप ज्ञायक हूँ, रागद्वेष-दया-दानादि का भाव - यह अपराध है, अपने को जानता हुआ उसका व्यवहार से जाननेवाला हूँ - ऐसा धर्मी जीव जानता है। पर्याय में नवीन भाव उत्पन्न होता है और पुराना दूर होता है, यह अशुद्धनय का विषय है। अंश का (पर्याय) ज्ञान करने जैसा है, लेकिन आदरणीय नहीं है, अंशी ध्रुवस्वभाव आदरणीय है।

यह मार्गणा अधिकार है। स्वभावदृष्टि से मार्गणा भी आत्मा की नहीं है, किन्तु जो मार्गणा वर्त रही है (हो रही है), उसको जानता है; गति, इन्द्रिय, कषाय, ज्ञान आदि की जो-जो अवस्था हो रही है, उसको जानता है; वह अवस्था पर के कारण से नहीं है, मेरे कारण से है, तब भी वह उपादेय नहीं है, मात्र शुद्ध आत्मा उपादेय है; ऐसा धर्मीजीव मानता है। ज्ञायक का श्रुतज्ञान प्रमाण है, उसके दो पहलू हैं - एक त्रिकाल को जानता है और एक वर्त्तमान जो जानता है, तब ज्ञान प्रमाण होता है। ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् स्वयं के पुरुषार्थ द्वारा राग घटाने की योग्यता देखे, तब व्रतादि प्रत्याख्यान

होता है। इसके बिना व्रतादि नहीं होते हैं।

यहाँ मतिज्ञान का प्रकरण चलता है, उसके भेद:- अवग्रह (जानने का प्रारंभ होना), ईहा (विचार करना), अवाय (निश्चय) और धारणा क्रमपूर्वक होते हैं। ये भेद इन्द्रियों के कारण से नहीं, उसीप्रकार उलटे-सीधे भी नहीं, स्वतंत्रपने से होते हैं। इसप्रकार धर्मीजीव वर्तमान भेद का ज्ञान करता है। अवग्रहादि स्वकाल में हैं, उसका अशुद्धनय से ज्ञान करता है और मेरा स्वरूप एकरूप ध्रुव नित्य है - ऐसा भी ज्ञान करना है, स्वयं को जानता हुआ पर को जानता है।

शास्त्रादि का ज्ञान, यह श्रुतज्ञान नहीं है; लेकिन आत्मा ज्ञानस्वरूप है - ऐसा मतिज्ञान होने के पश्चात् आत्मा आनन्दरूप है - ऐसे आनन्द के वेदन का ज्ञान यह भावश्रुतज्ञान है। आनन्द का वेदन यह चारित्रगुण की पर्याय है, लेकिन श्रुतज्ञान की पर्याय नहीं है; किन्तु इस वेदन का ज्ञान होना - यह श्रुतज्ञान है। आत्मा के भानसहित बारह अंग का ज्ञान लब्धरूप होकर उपयोग रूप होता है, यह श्रुतज्ञान है। यह ज्ञान की पर्याय त्रिकालीस्वभाव से भेदरूप है - ऐसा बतलाने के लिए इसको अशुद्धनय का विषय कहा है। त्रिकाली आत्मा को शुद्धनय का विषय कहा है। कोई जीव पर से श्रुतज्ञान मानता है, उसको विषय विदित कराने के लिए श्रुतज्ञान स्वयं से है - ऐसा भी बतलाते हैं।

श्रुतज्ञान सुनने से अथवा राग से नहीं होता है, किन्तु स्वयं की सामर्थ्य से होता है। यह श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से लोकालोक के स्वरूप को, छह द्रव्य को, नवतत्त्व, पंचास्तिकायादि के स्वरूप को यथार्थ जानता है। केवली भगवान प्रत्यक्ष जानते हैं। श्रुतज्ञानी परोक्ष जानता है; किन्तु जैसा है, वैसा जानता है। गणधर भगवान अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना करते हैं। उस ज्ञान का विकास शुभराग के कारण अथवा भगवान की वाणी के कारण नहीं है। धर्मीजीव समझता है कि मैं आत्मा नित्यानन्द ध्रुव हूँ, उसका ज्ञानगुण समय-समय पर परिणमित होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि तब फिर आप भिन्न-भिन्न शास्त्रों के निमित्त क्यों बदलते हो?

उससे कहते हैं - पुस्तकादि परपदार्थों को कोई लाता नहीं है। उन पदार्थों की उस काल में वैसी अवस्थायें होती हैं, उनको ज्ञान जानता है। समयसार द्रव्यसंग्रहादि के कारण ज्ञान नहीं होता है, ज्ञान तो स्वयं से ही होता है।

अवधिज्ञानी मन-इन्द्रिय के निमित्त बिना आत्मा से रूपीपदार्थों को द्रव्य-क्षेत्र-काल की मर्यादा में जानता है और समझता है कि यह ज्ञान क्रमपूर्वक हुआ है।

प्रश्न- तब फिर अवधिज्ञानी उपदेश क्यों करता है?

समाधान- अवधिज्ञानी जीव वाणी को नहीं करता, वाणी निकली उसको जानता है। विकल्प आते हैं, उनको भी जानता है और सामनेवाला जीव स्वयं की योग्यता से समझता है - ऐसा जानता है।

प्रश्न- भगवान महावीर की वाणी केवलज्ञान होने के पश्चात् दो मास छह दिन में खिरी, तब वह (वाणी) गणधर आये, इसलिए खिरी?

समाधान- नहीं। वाणी बन्द रही, वह वाणी के कारण से रही और निकली, वह भी वाणी के कारण से निकली है।

उसीप्रकार भरत चक्रवर्ती ने भगवान ऋषभदेव से पूछा कि इस सभा में ऐसा कोई जीव है जो आपके जैसा तीर्थंकर होगा?

भगवान के इच्छा नहीं होती, उनको तो केवलज्ञान होता है। ऐसा प्रश्न पूछा जायेगा और वाणी निकलेगी - इन सब बातों की जानकारी पहले से ही है। भरत के प्रश्न के समय वाणी, वाणी के कारण से सहज निकली कि मारीचि का जीव २४वाँ तीर्थंकर होगा अर्थात् लगभग एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम के पश्चात् वह तीर्थंकर होगा।

भरत ने सुना कि इतने लम्बे समय बाद मारीचि की मुक्ति होगी। उनको (भरत) इसीप्रकार श्रुतज्ञान में ज्ञात हुआ। ऋषभदेव के पश्चात् अजितनाथ भगवान ५०लाख करोड़ सागरोपम व्यतीत होने के बाद हुए और महावीर तो अन्तिम तीर्थंकर हुए अर्थात् प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के बीच बहुत लम्बा समय व्यतीत हुआ। इतने लम्बे समय तक मारीचि के जीव को संसार में रहना पड़ा और यह जीव इसके पूर्व पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। इस सम्बन्ध में भरत को शंका नहीं होती; क्योंकि यह बात टलने की नहीं है।

अब मारीचि के अधिक भव सुने, इसलिए मेरे भी अनन्त भव होंगे - ऐसी शंका भरत को नहीं होती है; क्योंकि धर्मीजीव की दृष्टि स्वभाव पर है। स्वभाव में भव नहीं है, अल्प राग रहता है; वह अल्प समय में दूर होकर मुक्ति होगी। श्रुतज्ञानी को भव

की शंका नहीं होती। श्रुतज्ञानी स्व को जानता हुआ विकल्प तथा राग-द्वेष को जानता है, तब भी यह आकुलता ज्यादा समय नहीं रहेगी – ऐसा वह जानता है। जिस जीव को शंका हो और कहे कि मेरे अनन्त भव होंगे, तब उसका ज्ञान स्वभाव-सन्मुख नहीं है, वह मिथ्याज्ञानी है।

इस मार्गणास्थान की चाहे जैसी पर्याय का भेद धर्मीजीव को बरतता हो, तब भी यह राग लम्बे समय तक रहेगा – ऐसी शंका उसको नहीं होती। क्रमबद्ध स्वीकार करनेवालों की दृष्टि स्वभाव पर रहती है। उनको भव की शंका नहीं होती, तब भी पर्याय को जानते हैं। धर्मीजीव को मतिज्ञान-श्रुतज्ञान अल्प होता है, किसी को अवधिज्ञान अल्प होता है, इसलिए मुझको गणधर जितना बारह अंग का ज्ञान कब होगा? कब केवलज्ञान होगा? ऐसी शंका धर्मीजीव को नहीं होती।

किसी अवधिज्ञानी का विकास अधिक दिखता है, परमाणु को भी देखे – ऐसा किसी को ज्ञान हो, तब ज्ञानी को दूसरे का उतना अधिक विकास देखकर स्वयं का अल्प विकास देख हीनता अथवा दीनता नहीं होती और खेद नहीं होता। और फिर किसी ज्ञानी को अवधिज्ञान का विकास बहुत हो, किसी मुनि को मन:पर्यय ज्ञान हो और समक्ष के जीव के विचार भूत-भविष्य के भी जाने, तब भी ज्ञानी को उसका गर्व नहीं होता और किसी श्रुतज्ञानी को मन:पर्यय ज्ञान न हो, तब वह मन:पर्यय ज्ञान की भावना नहीं करता। स्वयं की तथा दूसरों की हीन (अल्प) अथवा अधिक ज्ञान की पर्याय को जैसी है, वैसी जानता है।

केवलज्ञान पर्याय द्रव्य से भेदरूप है, इसलिए यह भेद अशुद्धनय का विषय है। केवलज्ञानी को नय नहीं होते, वे तो सम्पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं। अवधिज्ञान मर्यादित रूपी पदार्थों को जानता है। मन:पर्यय ज्ञान दूसरों के विचारों को जानता है। यह ज्ञान आंशिक प्रत्यक्ष है, इसलिए इसमें नय नहीं है।

मति का विषय अल्प है, इसलिए इसमें नय नहीं है। श्रुतज्ञान यह मतिज्ञान की उत्तरतर्कणा है, इसलिए इसमें नय होता है। श्रुतज्ञानी अशुद्धनय से मार्गणा को खोजता है और विचारता है कि जगत में केवलज्ञान प्राप्त किये हुए अनन्त आत्मायें हैं। केवलज्ञानी प्रत्यक्ष जानते हैं, श्रुतज्ञानी परोक्ष जानते हैं। श्रुतज्ञानी केवलज्ञान की मार्गणा का खोजक है, केवलज्ञान की पर्याय को प्रतीति में लेता है। वह पर्याय परिपूर्ण है,

मार्गणा-शोधक को ऐसी प्रतीति हुई है। तब भी केवलज्ञानपर्याय की भावना नहीं है। धर्मीजीव को केवलज्ञान के विकल्प की उमंग या आकांक्षा नहीं होती, उसीप्रकार स्वयं के अपरिपूर्ण मति-श्रुतज्ञान का खेद नहीं; क्योंकि वह स्वरूप की श्रद्धा में स्वयं निःशंक है।

जैसे लड्डू खानेवाले को श्रद्धा है कि ये लड्डू छोटे से गले में से नीचे उतरेगा और पच जायेगा, इसमें उसको जरा भी शंका नहीं होती। उसीप्रकार भावश्रुतज्ञानी निःशंक है कि इस जगत में केवलज्ञानी हैं, मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, मुझमें वर्तमान में अल्पज्ञता है, उसका व्यय होकर परिपूर्ण दशा एक-दो भव में होगी। स्वयं के केवलज्ञान के लिए अनन्त भव होंगे, उसको ऐसी शंका नहीं होती। मैं केवलज्ञान अल्पसमय में प्राप्त करूँगा। मेरे पहले अनन्त जीव इसप्रकार हो गये और भविष्य में होंगे। मैं अपने स्वभाव की प्रतीति कर पूर्ण करना चाहता हूँ, तब मेरे लिए अनन्त काल हो नहीं सकता। साधक को केवलज्ञान प्रकट करने में अनन्त काल नहीं होता है, किन्तु वह अल्पकाल में ही केवली हो जाता है।

अल्पकाल अनन्तकाल के हिसाब से अनन्तवें भाग है। यदि मैं अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त कर सकूँगा तो अनन्तकाल के हिसाब से अनन्तकेवली हो गये हैं, हो रहे हैं और अनन्त होंगे - ऐसा वह जानता है। धर्मीजीव की दृष्टि तो गुणीद्रव्य पर है, उसकी वर्त्तमान पर्याय केवलज्ञान को खोजती है। जगत में केवलज्ञानवाले जीव हैं, वे अनन्त हैं। इस क्षेत्र में केवलज्ञानी नहीं हैं, तब दूसरे क्षेत्र में केवलज्ञानी हैं, इसलिए दूसरे क्षेत्र से भी सिद्ध होते हैं। और फिर केवलज्ञान होने के पश्चात् केवली को शरीर में रहने का अनन्त का समय नहीं होता तथा केवलज्ञान के पश्चात् सिद्ध होने में असंख्य वर्ष नहीं लगते हैं। शरीर होने पर भी केवलज्ञान हो सकता है और केवलज्ञान होने के पश्चात् शरीर में रहने का समय असंख्य वर्ष नहीं होता।

इस क्षेत्र में वर्त्तमान में केवलज्ञानी नहीं हैं, अतएव इस जगत में केवलज्ञानी बिलकुल नहीं ही हैं - ऐसा नहीं होता है। इस क्षेत्र में केवलज्ञानी नहीं है, तब भी ज्ञानी को उसकी शंका नहीं होती। यदि केवलज्ञानी के संबंध में शंका पड़े अथवा स्वयं के भव के संबंध में शंका पड़े, तब उसको केवलज्ञान की बात तो जमी ही नहीं, किन्तु एक भी ज्ञान की बात उसको जमी नहीं है।

अब मार्गणा शोधनेवाले अज्ञानमार्गणा की शोध करते हैं। स्वयं को अज्ञान नहीं है; लेकिन जगत में अज्ञानी जीव हैं, उनकी शोध-खोज करते हैं।

राग से अथवा निमित्त से लाभ माननेवाले अज्ञानी कुमतिज्ञानी जीव संसार में हैं। आत्मज्ञान के बिना केवल शास्त्रों के पढ़नेवाले कुमतिज्ञानवाले हैं। जैसे केवलज्ञान के धारक अनन्त हैं, वैसे कुमति के धारक अनंत हैं। आत्मा के ज्ञान बगैर राग से धर्म माननेवाले द्रव्यलिंगी मुनि कुमतिवाले हैं। ग्यारह अंग के पढ़नेवाले द्रव्यलिंगी मुनि से लेकर निगोद तक के मिथ्यादृष्टि जीव कुमतिज्ञान के धारक हैं।

मार्गणा-शोधक साधक और बाधक सबका निश्चित करता है, वह पर्याय की शक्ति बतलाते हैं, वह द्रव्य के अवलम्बन से हुई सम्यक्ता को बतलाते हैं।

व्यवहार से और राग से लाभ माननेवाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं। फिर भले वे ग्यारह अंग नौ पूर्व के पाठी हों, तब भी उनका ज्ञान कुश्रुतज्ञान है।

किसी मिथ्यादृष्टि को विभंगज्ञान हो, अमुक द्वीप-समुद्र आदि का विचार आये, किन्तु उसको आत्मा का विचार नहीं आता। आत्मा स्वयं सिद्धतत्त्व है, यह बात उसको जमती नहीं है। उसको क्रियाकांड का पक्ष रहता है। किसी मिथ्यादृष्टि को कदाचित् विभंगज्ञान हो और धर्मीजीव को अवधिज्ञान न हो, तब भी धर्मीजीव को इसप्रकार की दीनता नहीं होती कि मुझे अवधिज्ञान नहीं है। कारण कि मेरा ज्ञान पर से नहीं है तथा मैं पर को जाननेवाला हूँ, इसलिए मैं ज्ञायक हूँ - ऐसा भी नहीं है। मैं तो अखंड ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसा भान उसको होता है, वह धर्मीजीव विभंगज्ञानी को शोधता है।

(८) संयममार्गणा- अब धर्मी जीव संयममार्गणा शोधता है। मार्गणा-शोधक को सभी प्रकार का चारित्र होता ही है, ऐसा नहीं होता है। चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में रहनेवाले श्रुतज्ञानी चारित्र के भेद का विचार करते हैं। अखंड वस्तु की अपेक्षा से चारित्र के सात भेद अशुद्धनय का विषय है और इससे वह आदरणीय नहीं है, मात्र शुद्धद्रव्य ही आदरणीय है।

सामायिक चारित्र- आत्मा के भानसहित उसमें तन्मयता-तल्लीनता करने से राग की अनुत्पत्ति, यह सामायिक है। यह चौथे, पाँचवे गुणस्थान में नहीं होता है, लेकिन सामायिक चारित्र कैसा हो - इसका ज्ञान होता है। स्वयं को सामायिक की वीतरागता

नहीं है – ऐसा जानता है। चैतन्यशुद्धद्रव्य के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक एकाग्रता करना यह सामायिक चारित्र है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना नहीं होती। सामायिक कहाँ होती है – सम्यग्ज्ञानी को इसका विचार और विवेक होता है।

यह जीव द्रव्य है, इसका अनन्त चैतन्यस्वभाव भाव है, यह परमपारिणामिक ज्ञायक-भाव है, यह सम्यग्दर्शन का तथा शुद्धनय का विषय है। यह वर्तमान पर्याय स्वयं की तथा पर की है – यह अशुद्धनय का विषय है। आध्यात्मिक दृष्टि से मार्गणास्थान, जीवस्थान इत्यादि भेद अभूतार्थ है, उसको व्यवहारनय का विषय कहा है। यह एकरूप स्वभाव नहीं है, इसलिए शरण लेने जैसा नहीं है। मात्र एकरूप स्वभाव का शरण लेना योग्य है। वही सुख का कारण है। उससमय जो सम्यक् श्रुतज्ञान प्रकट होता है, उसमें एक नय अनादि-अनंत एकरूप जो स्वभाव है, उसको पकड़ता है और दूसरा नय स्वयं की तथा पर की पर्याय को पकड़ता है, उसके द्वारा साधक जीव पर्याय का यथार्थ ज्ञान करता है।

अखंड दृष्टि के उपरान्त विशेष शान्ति, समता भाव प्रकट होता है – वह सामायिक है। वह मुनि को होती है। उससमय शरीर नग्नावस्थारूप होता है, उसकी यहाँ बात नहीं है। स्वभाव के अवलम्बन से जो स्थिरता अथवा वीतरागता प्रकट हुई, वह सामायिक है; किन्तु वह भेद होने से अशुद्धनय का विषय है। निचली अवस्था में सम्यग्दृष्टि के सामायिक नहीं होती है, लेकिन मुनि को कैसी सामायिक होती है, उसका ज्ञान करत है।

छेदोपस्थापन- मुनि स्वयं के चारित्र में जब स्थिर नहीं रह सकते, तब उनको २८ प्रकार के मूलगुणों के पालन करने का विकल्प उठता है। पाँच समिति का पालना, अचेलकत्व, अदंतधोवन, एकबार खड़े-खड़े आहार का विकल्प होता है। उससमय अखंड स्वभाव की तन्मयता भंग हुई और मूलगुण पालन करने का विकल्प आया अथवा २८ मूलगुण में दोष लगे, उसके प्रायश्चित्त को छेदोपस्थापन चारित्र कहते हैं।

स्वयं की वर्तमान पर्याय तथा दूसरों की वर्तमान पर्याय का क्या स्वरूप है? उसको (पर्याय को) चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थानवाला जीव इस मार्गणा द्वारा शोध-खोज कर विचार करता है।

परिहारविशुद्धि– किसी मुनि को ऐसा चारित्र होता है। उनको इसप्रकार की लब्धि होती है कि वे जल अथवा हरी दूब पर चलें, तब भी उनके निमित्त से पैर के नीचे के जीवों को दु:ख नहीं होता है। जिस धर्मी को ऐसी ऋद्धि नहीं होती, वह दूसरों की पर्याय का ज्ञान त्रिकाल की दृष्टि रख कर करता है।

सूक्ष्मसांपराय– यह दशवें गुणस्थान की पर्याय है। इसमें अल्पकषाय शेष है। इस भूमिकावाले को विकल्प नहीं होता, नीचे की भूमिकावाला इसका विचार करता है।

यथाख्यात– यह चारित्र ११, १२, १३, १४ वें गुणस्थान में होता है। इसमें आत्मा अकषायी जैसा है (सांपरायिक आस्रव से रहित) ऐसी प्रसिद्धि प्राप्त है, उसको यथाख्यात चारित्र कहते हैं। यह भी पर्याय है, त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा भेद हुआ; इसलिए यह भी अशुद्धनय का विषय है।

ऐसे भेद सर्वज्ञ के आगम में बताये गये हैं, अन्यत्र कहीं नहीं हैं। सर्वज्ञदेव तीर्थंकर जिनको इन्द्र नमस्कार करते हैं, जो समवशरण में विराजते हैं; वे यथाख्यात चारित्रयुक्त हैं। ऐसे चारित्रवाले लाखों केवली महाविदेह क्षेत्र में विराजते हैं।

धर्मीजीव विचार करता है कि आत्मा के श्रद्धा–ज्ञान करने से मुझे स्वरूपाचरण प्रकट हुआ है, तब वह वृद्धि प्राप्त कर अल्प समय में यथाख्यातचारित्र होगा। विकल्प यह चारित्र नहीं है, किन्तु मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ – ऐसा ज्ञान और प्रतीति होने के बाद क्रमश: पूर्ण चारित्र प्रकट करनेवाले जीव इस काल में हैं। भले ही इस क्षेत्र में इससमय केवली न हों, किन्तु दूसरी जगह होने चाहिए। इससमय ऐसे जीव महाविदेह क्षेत्र में विहार करते हैं और पहले भरतक्षेत्र में तथा ऐरावतक्षेत्र में थे। इसप्रकार यथाख्यातचारित्र की प्रतीति और ज्ञान करता है। उसीसमय त्रिकाली स्वभावपने से एकरूप हूँ – ऐसा भी ज्ञान करता है।

संयमासंयम– यह पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक अवस्था की बात है। आत्मा का भान और ज्ञान हुआ तथा कुछ लीनता है और कुछ असंयम है। ऐसी दशा गृहस्थाश्रम में होती है। ऐसी दशा स्वयं की हो तो स्वयं को; उसीप्रकार पर की दशा जैसी है, वैसी जानता है।

असंयम– पहले से चौथे गुणस्थान तक असंयम अवस्था होती है। मिथ्यादृष्टि जीव जिसको आत्मा का भान नहीं है – वह बाह्यरूप से शील संयम पालता हो, शरीर के

खंड-खंड टुकड़े होने पर भी क्रोध न करे, २८ मूलगुणों का पालन करता हो, ग्यारह अंग का ज्ञान हो-तब भी वह असंयमी है; क्योंकि उसको आत्मा का भान नहीं है। चौथे गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि असंयमी है, आत्मा का भान है; किन्तु संयम नहीं है। भरत बाहुबली दो भाई परस्पर लड़े, फिर भी आत्मा का भान था और अल्प द्वेष था। वे जानते हैं कि यह अपराध है, शांति को लूटनेवाला है।

इसप्रकार संयममार्गणा के सात भेद हुए।

(६) दर्शनमार्गणा- आत्मा दर्शनादि अनन्तगुणों का पिण्ड है - ऐसी शुद्ध दृष्टि होने पर दर्शन का वर्तमान में कौन-सा उपयोग हो रहा है, धर्मीजीव उसको अशुद्धनय से जानता है। स्वयं को स्वयं की भेदपूर्वक जानकारी नहीं है, किन्तु उसका कार्य होता है, इसप्रकार ज्ञान जानता है।

चक्षुदर्शन- रूप जानने के पहले आत्मा का स्वसन्मुख प्रयत्न होता है, उसको चक्षुदर्शन कहते हैं। धवलग्रंथ में शिष्य ने प्रश्न किया कि चक्षुदर्शन का शब्दार्थ तो आँख से देखना होता है, तब आप गाथा का तोड़-मरोड़ कर अर्थ क्यों करते हो? उसका समाधान आचार्यदेव करते हैं कि हम तोड़-मरोड़ कर अर्थ नहीं करते हैं, किन्तु शब्दों के भाव-अनुसार अर्थ करते हैं। भगवान को अथवा कागज को आँख से देखा, तो यह चक्षुदर्शन नहीं है, किन्तु ज्ञान-उपयोग है। इस ज्ञानोपयोग होने के पहले आत्मा का सामान्य सत्तामात्र व्यापार, यह चक्षुदर्शन है।

सिद्धान्तशास्त्र में स्वयं का अवलोकन, इसको दर्शन कहते हैं और न्यायशास्त्र में दर्शन की व्याख्या सामान्य अवलोकन की है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से समझना चाहिए। रूप जानने के पूर्व आत्मा में सामान्य सत्ता का ख्याल आना अथवा पृथक् वस्तु के ख्याल आने के पूर्व आत्मा में जो प्रयत्न होता है, वह चक्षुदर्शन है। चक्षुदर्शन के उपयोग के समय चक्षुदर्शन स्वयं को नहीं जानता, लेकिन बाद में ज्ञान जानता है। उसीप्रकार चक्षुदर्शन में अन्य कोई वस्तु नहीं जानी जाती। यह भगवान है - ऐसा विचार अथवा ऐसी परिच्छिन्नता दर्शन में नहीं होती, फिर भी चक्षुदर्शन के समय अचक्षुदर्शन नहीं होता - ऐसा धर्मी जानता है। धर्मी जीव को - स्वयं का आत्मा दर्शनादि गुणों का भंडार है - ऐसी दृष्टि होने पर भी वर्तमान पर्याय चक्षुदर्शन की विद्यमान हो, तब उसको अशुद्धनय से जानता है।

अचक्षुदर्शन – शब्द, गंध, रस, स्पर्श, स्वप्न, संकल्प, विकल्प आदि का ज्ञान होने के पूर्व आत्मा में सामान्य व्यापार (प्रवृत्ति) विद्यमान रहता है – यह अचक्षुदर्शन है। इसमें यह शब्द है – ऐसा भेद नहीं होता है।

धर्मात्मा श्रुतज्ञानी त्रिकालीद्रव्य, गुण तथा वर्त्तमान पर्याय कैसी है – वह शोधता खोजता है। केवलज्ञानी प्रत्यक्ष जानते हैं और श्रुतज्ञानी परोक्ष जानते हैं। आत्मा द्रव्य है, दर्शन गुण है, चक्षु–अचक्षुदर्शन उसकी पर्याय है। द्रव्य कारण है और पर्याय कार्य है। तब उसकी कार्यदशा पूर्ण है, अपूर्ण है अथवा विपरीत है; धर्मी जीव उसका ज्ञान करता है। अनन्तगुणों के पिण्ड आत्मा को स्वीकार किया, उसको (आत्मा को) पर्यायरूपी कार्य कैसा होता है, इसका यथार्थ ज्ञान होता है।

अवधिदर्शन– अवधिज्ञान होने के पूर्व अवधिदर्शन होता है। आत्मज्ञानी जीव मरकर नारकी, पशु, मनुष्य नहीं होता; किन्तु कल्पवासी देवों में पैदा होता है। 'मैं शुद्ध चैतन्य हूँ' – ऐसी स्वीकारोक्ति होने से जन्म लेते ही विचार करता है कि 'मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ', किन्तु पर्याय में पूर्णता नहीं है। पूर्ण पर्याय को प्राप्त प्रभु कहाँ है? भगवान किस क्षेत्र में हैं? तथा दिव्यध्वनि खिरती है कि नहीं? इसका विचार अवधिज्ञान द्वारा करता है। ज्ञान होने के पूर्व का व्यापार (प्रवृत्ति) यह अवधिदर्शन है।

इन्द्रों की आयु–स्थिति पूर्ण होने को आये, तब अवधिज्ञान से जान लेते हैं। वे विचारते हैं कि मनुष्य की आयु अल्प होती है, इस हिसाब से मनुष्य हम को अमर कहते हैं, परन्तु हम भी अमर नहीं हैं। ३३ सागर की आयुवाले भी चले जाते हैं। वे अन्तिम समय वैराग्य प्राप्त करते हैं और शाश्वत प्रतिमा (अकृत्रिम मूर्ति) पर हाथ रखते हैं और शरीर छोड़ देते हैं। इसप्रकार अवधिज्ञान से स्वयं के शरीर की स्थिति देखी – ऐसा ज्ञान होने के पूर्व का सत्तामात्र व्यापार, यह अवधिदर्शन है।

केवलदर्शन– छद्मस्थ जीव दर्शनपूर्वक ज्ञान करता है। केवली भगवान को केवलदर्शन और केवलज्ञान एक समय में होते हैं। अनन्त सिद्धों को और लाखों केवलियों को एक समय में केवलदर्शन और केवलज्ञान होता है। उसका विचार श्रुतज्ञानी करता है, अल्पज्ञान में केवलदर्शन का विचार करता है।

जैसे चावल, हीरा, मिरची वगैरह के व्यापारी अपनी–अपनी बिक्री का माल कहाँ पैदा होता है, उसकी खोज करते हैं; वैसे भावश्रुतज्ञानी केवलदर्शन और केवलज्ञान कहाँ

उत्पन्न होते हैं, उसकी खोज करता है। भले ही वर्तमान के भरतक्षेत्र में वे (केवलदर्शन केवलज्ञान) उत्पन्न नहीं होते, लेकिन महाविदेह क्षेत्र में केवलदर्शन प्राप्त जीव भी है और वर्तमान में केवलज्ञान प्रकट करनेवाले जीव भी हैं। स्वयं की वर्तमान पर्याय में प्रकट नहीं है, किन्तु स्वयं के चैतन्य के समीप में पैदा होता है, उसका विवेक करता है। इसप्रकार दर्शन के चार भेद हैं। त्रिकाली द्रव्य में वे भेद हैं, इससे अशुद्धनय का विषय है; क्योंकि केवलदर्शन वगैरह त्रिकालीद्रव्य के भेद हैं, अंश है। इसप्रकार मार्गणा का धर्मी जीव ज्ञान करता है।

(१०) लेश्यामार्गणा- क्रोध, मान, माया, लोभ, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा वगैरह कषाय हैं। कषायों से रँगे हुए आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदरूप व्यापार, यह लेश्या है। जैसे लकड़ी के साथ कागज चिपकाने के लिए गोंद काम करती है; वैसे कषाय-अनुरंजित लेश्या, यह आत्मा को कर्मों के साथ चिपकाने के लिए निमित्त है। दया-दानादि तथा हिंसा, असत्य आदि के परिणाम, यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। ऐसा लेश्यारहित शुद्ध आत्मतत्त्व शुद्धनय का विषय है। इससे विपरीत लक्षणवाली छह प्रकार की लेश्या है।

जीवद्रव्य अनन्त गुणों का पिण्ड है तथा उसकी वर्तमान पर्याय स्वयंसिद्ध सत् है। इसप्रकार दो नय से वस्तु का ज्ञान करना - यह प्रमाणज्ञान है। द्रव्य स्वयं के कारण से मलिन पर्याय धारण करता है। यह संसारी जीव की व्याख्या है। विकार स्वतंत्र रूप से प्रकट होता है, उसीसमय आत्मा शुद्ध चैतन्यानन्द ध्रुव है। आत्मद्रव्य शुद्ध है, उससे विपरीत भाव करने वाली छह लेश्यायें हैं। जैसे गोंद में चेप (चिकास) होता है, उसीप्रकार लेश्या चेप के समान है। वे छह तरह की हैं।

लेश्या का स्वरूप शास्त्रों में आम्रवृक्ष का दृष्टान्त देकर समझाया है।

आम खाने की इच्छावाला जीव आम का समूचा वृक्ष काटता है। यह दृष्टान्त परिणामों को अत्यन्त उग्र एवं भयंकर बतलाने के लिए है। आत्मा के प्रदेशों का कम्पन सहित जो भयंकर उग्र परिणाम है, वह कृष्ण लेश्या है। ऐसा परिणाम सम्यग्दृष्टि जीव को भी किसी समय होता है। तब भी वह (सम्यग्दृष्टि) यह परिणाम स्वयं से हुआ है - ऐसा मानता है, उसका ज्ञान करता है, उस भाव को हेय समझता है। यह परिणाम शुद्ध चैतन्य में नहीं है, शुद्ध चैतन्य तो एकरूप है - दोनों का ऐसा ज्ञान करता है।

कृष्ण लेश्या की अपेक्षा अल्प मलिन परिणाम को नील लेश्या के परिणाम कहते हैं। आम खाने के लिए बड़ी-बड़ी शाखायें काटता है। इस दृष्टान्त के अनुसार परिणाम अशुभ है। ज्ञानी को भी ऐसे परिणाम होते हैं, लेकिन उसकी उनमें हेयबुद्धि रहती है।

कापोत लेश्या के दृष्टान्त में आम खानेवाला छोटी-छोटी शाखायें काटकर आम प्राप्त करना चाहता है। नील लेश्या के परिणामों की अपेक्षा पाप के अल्प परिणाम हैं, वे भी अशुभ हैं।

आम खानेवाला केवल गुच्छे तोड़ता है, यह पीत लेश्या का दृष्टान्त है। दया-दानादि के परिणाम शुभ हैं। ये आत्मतत्त्व से विपरीत हैं, फिर भी जब तक पूर्णदशा प्राप्त न हो, तब तक शुभ परिणाम होते हैं।

आम खानेवाला जो आम पके हुए हैं, उनको तोड़ता है – यह पद्मलेश्या के परिणाम का उदाहरण है। पीत लेश्यावाले जीव की अपेक्षा विशेष शुभ परिणाम होते हैं, वे भी चैतन्य तत्त्व से विपरीत हैं।

आम खानेवाला हवा से नीचे गिरे हुए आम से संतोष मानता है। यह शुक्ल लेश्या का उदाहरण है। यद्यपि आम खाने के छहों प्रकार के अभाव शुभ हैं; परन्तु यहाँ तो परिणामों की तारतम्यता बतलाने के लिए दृष्टान्त दिया है। प्रथम तीन अशुभ, अन्तिम तीन शुभ हैं। छहों लेश्या के परिणाम बंध के कारण हैं, कल्याण के कारण नहीं हैं। कुछ लोग शुक्ल लेश्या के परिणाम को धर्म का कारण मानते हैं, यह भूल है; यह बंध का कारण है – ऐसा समझना चाहिए।

(११) भव्यत्वमार्गणा- भव्य और अभव्य – इसप्रकार जीवों के दो भेद हैं। धर्मीजीव भव्य-अभव्य का विचार करने से जानता है कि मैं भव्य हूँ तथा संसार में दूसरी जाति के अभव्य भी हैं – ऐसी दो जाति अनादि से हैं। भव्यत्व और अभव्यत्व दोनों जीव के अनुजीवी गुण हैं। कोई जीव अनेक कसाई खाने चलाये, इसलिए वह अभव्य होता है – ऐसा नहीं है और कोई अभव्य जीव बहुत दया पाले, ब्रह्मचर्य का पालन करे, तब भी वह अभव्य मिटकर भव्य नहीं होता है। जैसे वठर मूँग कभी भी पानी में नहीं सीझती (नहीं पकती), उसीप्रकार अभव्य जीव चाहे जितने शास्त्र पढ़े अथवा क्रियाकांड करे, तब भी उसको कभी मोक्ष नहीं हो सकता – ऐसे दो प्रकार के जीव स्वभाव से हैं, इसप्रकार धर्मीजीव जानता है।

कोई कहता है कि अपने को तो भव्य-अभव्य की खबर नहीं पड़ती तो ऐसे जीव को धर्म की ही खबर नहीं है। जिसको भव्य अथवा अभव्यपने की शंका दूर नहीं होती है, उसको कभी धर्म प्रकट नहीं हो सकता है। धर्मीजीव को अभव्य की बात सुन कभी शंका नहीं होती, किन्तु वह तो ऐसा समझता है कि मेरा पुरुषार्थ ऐसा है कि अल्प समय में ही मेरी मुक्ति होगी, भगवान से पूछने नहीं जाना पड़ेगा।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि -

''आपने इस गाथा के पहले कहा था कि शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से अथवा शुद्ध निश्चयनय का जो विषय परम पारिणामिकभाव एकरूप कहा था, उसकी अपेक्षा से जीव में गुणस्थान अथवा मार्गणास्थान के भेद नहीं हैं। कारण कि उसमें किसी कर्म की अपेक्षा नहीं होती है। औदायिकभाव में कर्म के उदय की, उपशमभाव में कर्म के उपशम की, क्षयोपशम भाव में कर्म के क्षयोपशम की, क्षायिक भाव में कर्म के क्षय की - ऐसे चार भाव कर्म के सद्भाव अथवा अभाव की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु परम पारिणामिकभाव में कर्म के सद्भाव की अथवा अभाव की अपेक्षा नहीं रहती है, उसको परम पारिणामिकभाव कहा।

केवलज्ञान भी परम पारिणामिकभाव नहीं है, परमभाव की अपेक्षा से जीव गुणस्थान तथा मार्गणास्थान के भेदों से रहित है। अब इस ग्यारहवीं मार्गणा में भव्य और अभव्य ऐसे दो भेद आप कहते हो और भव्य, अभव्य तो पारिणामिक भाव हैं। ये दोनों कर्म के सद्भाव अथवा अभाव की अपेक्षा नहीं रखते हैं। भव्यत्व-अभव्यत्व उदयभाव नहीं, उपशमभाव नहीं, क्षयोपशमभाव नहीं, उसीप्रकार क्षायिकभाव नहीं; क्योंकि उसमें किसी कर्मादि की अपेक्षा नहीं रहती। भव्यजीव का भव्यत्व स्वभाव अनादि से है और अभव्य जीव का अभव्यत्व स्वभाव अनादि से है, वह पारिणामिकभाव है और पारिणामिक भाव शुद्धनय का विषय है। तब उन भेदों को मार्गणा में क्यों कहा? क्योंकि मार्गणा तो अशुद्धनय का विषय है। परम पारिणामिकभाव में तो मार्गणास्थान नहीं है। तब फिर भव्यत्व, अभव्यत्व जो पारिणामिक भाव है, उसको मार्गणा में क्यों कहा? इसप्रकार कहने से विरोध आता है।''

इसप्रकार शिष्य शंका करता है। यहाँ शिष्य समझने की तीव्र आकांक्षावाला है,

उसकी शंका का समाधान करते हैं।

पहले जो मार्गणास्थानादि का निषेध करने में आया था, वह शुद्धचैतन्य की अपेक्षा से किया था। अन्तर्मुखी दृष्टि से देखने से तो त्रिकालस्वभाव में भव्य-अभव्य के भेद नहीं हैं, वह एकरूप है; वह बंध का कारण नहीं, किन्तु धर्म का कारण है।

देखो! यह बात समझना चाहे तो वह समझ सकता है। परम पारिणामिकभाव कहो, चैतन्य कहो, एक ही है और यह सम्यग्दर्शन का ध्येय है। स्वयं के स्वभाव का विश्वास होना चाहिए। नित्यनिगोद के किसी जीव ने कभी व्यवहारराशि में लट, चींटी अथवा मनुष्यपना प्राप्त नहीं किया - ऐसा कोई जीव कषाय मंद कर मनुष्यपना प्राप्त करता है और आठ वर्ष की आयु में भगवान के निकट जाकर धर्मदेशना सुनी, क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त किया, चारित्र अंगीकार कर केवलज्ञान और सिद्ध-अवस्था प्राप्त करता है। देखिये! सिद्ध और निगोद अवस्था को केवल आठ वर्ष का अन्तराल है, वह किससे है?

चिदानन्द एकरूप ध्रुव मेरा स्वभाव है - ऐसे परमभाव के आश्रय से धर्मदशा प्रकट होती है। यह स्वभाव केवलज्ञान की पर्यायरूप नहीं है, किन्तु केवलज्ञान का कारण है, संसार का कारण नहीं है। ऐसे स्वभाव को परम पारिणामिकभाव कहो, द्रव्यदृष्टि का विषय कहो, कारण परमात्मा कहो, शुद्धभाव कहो - यह सब एक ही है। आठ वर्ष का बालक जिसने धर्म का अक्षर नहीं सुना हो, वह समवशरण में वाणी सुनकर विचार करता है कि अहो! एक रूप चैतन्यस्वभाव यही मेरा स्वभाव है। वह कुलाँट खाता है (परिणमन बदलता है) सम्यग्दर्शन प्राप्त कर, चारित्र प्राप्त कर, केवलज्ञान और सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है।

यहाँ तो जिस जीव ने अनन्त भव किये और इस जीवन में ६० वर्ष होने को आये, तब भी 'यह बात समझ में नहीं आती' - ऐसा कहे, उसको धर्म की रुचि नहीं है - ऐसा लगता है। वह यदि समझना चाहे तो समझ सकता है।

यहाँ शिष्य को समझाते हैं कि एकरूप शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से तो स्वभाव में मार्गणा भी नहीं है। मार्गणा में भव्य-अभव्य कहा है, वह अशुद्ध पारिणामिकभाव से कहा है; क्योंकि जो कुछ भेद होते हैं, वह अशुद्धनय का विषय है। इसलिए नयभेद से यह कथन संगत है, योग्य है, किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

देखिये, यह समझने की क्रिया है। मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान बदल कर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होता है, यही धर्म की क्रिया है। जगत को जड़ की क्रिया और राग की क्रिया समझ में आती है। समयसार में कहते हैं कि तू परमात्मा होने की शक्तिवाला है। जो परमात्मा हो गये, उनसे परमात्मा बनने को नहीं कहा जाता। किन्तु जो परमात्मदशारूप नहीं हुए, उनसे कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं सिद्ध और तू भी सिद्ध, निकाल दे संसार को हृदय से, हम स्त्री-बाल-बच्चे वाले, हम रागी, पंचमकाल में सिद्धत्व प्राप्त नहीं होता - ये सब बातें निकाल दे, तू एकबार 'हाँ' तो कह कि मैं सिद्ध हूँ, वस्तुस्वभाव से त्रिकालशुद्ध हूँ - ऐसे सिद्ध की हाँ करनेवाले को यह बात समझ में न आये (कि मैं सिद्ध समान हूँ) - ऐसा नहीं बनता।

शिवभूति मुनि को विशेष ज्ञान का क्षयोपशम नहीं था, किन्तु मैं शुद्धचैतन्य हूँ और ये शुभाशुभ परिणाम मेरे से भिन्न हैं - ऐसी भावभासना बराबर थी।

यहाँ कहते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से एकरूप शद्धचैतन्यभाव में मार्गणा नहीं है, यह बात बराबर (ठीक) है। इस बात के आधार पर भव्यत्व और अभव्यत्व जो कि पारिणामिक भाव के भेद हैं, उसको अशुद्धनय से मार्गणास्थान में कहा है। इसप्रकार नयभेद से बात संगत है, विरोध नहीं आता। इसप्रकार शिष्य के प्रश्न का समाधान किया।

जैसे त्रिकालीस्वभाव में कर्म की अपेक्षा नहीं है, वैसे भव्यत्व और अभव्यत्व भाव में कर्म की अपेक्षा नहीं है। भव्यत्व और अभव्यत्व पारिणामिक भाव है। कोई जीव दया-दानादि के परिणाम करे, मुनि हो जाये और शुक्ललेश्या के परिणाम करे और देवगति प्राप्त करे, इसलिए वह भव्य है - ऐसा नहीं है।

भव्यत्व भव्यजीव का अनादि-अनन्त गुण है और अभव्यत्व अभव्यजीव का अनादि अनन्त गुण है। जो भव्यजीव संसार का अन्त करता है, उसकी अपेक्षा से उसके लिए संसार अनादि-सान्त है, और कोई अन्त न करे उसके लिए संसार अनादि-अनन्त है। फिर भी उसका स्वभाव तो भव्यत्व ही है। जैसे कोई लकड़ी कभी भी पानी में न गई हो और वह जल जाये, तब भी उस लकड़ी का स्वभाव तैरने का है, वह नष्ट नहीं हो जाता है। उसीप्रकार कोई भव्यजीव निगोद में से कभी न निकले, तब भी उसका भव्यत्व स्वभाव नष्ट नहीं हो जाता है और अभव्य का स्वभाव वठर मूँग जैसा है, वह

कभी भी तिरने के योग्य नहीं होता है। उस स्वभाव को किसी की अपेक्षा नहीं होती है। औदायिक भाव को कर्म के उदय की अपेक्षा, उपशम भाव को कर्म उपशम की अपेक्षा, क्षायोपशमिक भाव को कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा और क्षायिक भाव को कर्म के क्षय की अपेक्षा होती है; इसलिए ये चारों भाव पारिणामिकभाव नहीं हैं। एकरूप ध्रुवस्वभाव पारिणामिकभाव है। इसमें कर्म की अपेक्षा नहीं होती है। इसीप्रकार भव्यत्व-अभव्यत्व भाव में कर्म की अपेक्षा नहीं होती है, इसलिए वह भी पारिणामिक भाव है।

अब यहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि आपने पहले शुद्ध पारिणामिकभाव में मार्गणा आदि नहीं है - ऐसा कहा था। तब फिर मार्गणा में पारिणामिक भाव में भव्यत्व-अभव्यत्व क्यों कहा?

उसका **समाधान**:- भव्यत्व-अभव्यत्व पारिणामिकभाव कहा है, वह अशुद्धनय से कहा है और पारिणामिकभाव में मार्गणा आदि नहीं है - ऐसा शुद्धनय से कहा है और नय से यह बात सुसंगत है। अशुद्धदृष्टि में भेद होते हैं और शुद्धदृष्टि में भेद नहीं होते, यह बात ठीक है। अब कदाचित् ऐसा कहो कि शुद्ध-अशुद्ध भेद से पारिणामिक भाव दो प्रकार के नहीं हैं, परन्तु पारिणामिकभाव शुद्ध ही हैं, तब यह बात योग्य नहीं है।

यहाँ शिष्य कहता है कि हमने तो एक ही भेद जाना है, क्योंकि सर्वजीव हैं सिद्धसम। इसमें पारिणामिक भाव में अमुक जीव, ऐसा भेद नहीं होता है। निगोद से सिद्ध तक सर्व ज्ञायकमूर्ति हैं। स्वभाव से शुद्धता कभी नष्ट नहीं हुई। निगोद के जीव तथा अज्ञानी जीव को स्वभाव का भान नहीं है, किन्तु शक्ति से तो सब सिद्धस्वरूप हैं और फिर औपशमिक, औदायिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक के भेद कहो तो यह ठीक है, किन्तु पारिणामिकभाव में हमको भेद नहीं दिखता है।

समाधान- तू कहता है, वह ठीक नहीं है। जैसे औदायिक आदि के भेद हैं, वैसे पारिणामिकभाव के भी भेद होते हैं, यद्यपि सामान्यरूप से उत्सर्ग व्याख्यान से पारिणामिकभाव शुद्ध है। मुख्यमार्ग से आत्मा शुद्ध चैतन्य त्रिकाली एकरूप है, फिर भी अपवाद व्याख्यान (कथन) से अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है। इसकारण से तत्त्वार्थसूत्र (अ. २, सूत्र ७) में जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व - ऐसे भेद से पारिणामिक भाव के

तीन भेद कहे हैं। अब इनमें चैतन्यरूप जीवत्व है। वह अविनाशी होने से शुद्धद्रव्य के आश्रय से है, इसकारण से उसको शुद्धद्रव्यार्थिक नाम का शुद्धपारिणामिकभाव कहते हैं।

शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व स्वयंसिद्ध है, नवीन प्रकट होता है - ऐसी बात नहीं है। शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व अविनाशी है, इसलिए वह शुद्धद्रव्य के आश्रय से है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव अविनाशी गुण है। किसी भी जीव के जीवत्वपने का कभी नाश नहीं होता है। अविनाशी होने से वह गुण शुद्धद्रव्य के आश्रय से है, इसलिए वह पारिणामिकभाव है। इसकारण से शुद्धद्रव्यार्थिक नामक शुद्धद्रव्य को लक्ष्य में लेनेवाला शुद्धनिश्चय है। यह सम्यग्दर्शन का ध्येय अथवा विषय है, इसको समझने में वीर्य (शक्ति) स्वयं के स्वभाव की ओर झुकती है। अज्ञानी बिना समझे व्रत-उपवासादि करता है, उसमें वीर्य (शक्ति) बलवान नहीं होता है। यहाँ अविनाशी जीवत्वभाव बतलाया है।

अब विनाशशील भाव कहते हैं। कर्म के निमित्त से उत्पन्न दश प्रकार के प्राणस्वरूप जीवत्व, जिसमें ज्ञान की खंड-खंड दशा, वीर्य की खंड-खंड दशा होती है - ऐसा जीवत्व; तथा भव्यत्व और अभव्यत्व - ये तीन प्रकार के भाव विनाशशील हैं, पर्याय के आश्रित हैं। इससे उनको पर्यायार्थिक संज्ञा अशुद्धपारिणामिकभाव से कहते हैं। सार यह है कि अशुद्ध पारिणामिकभाव आदर करने योग्य नहीं है; किन्तु एकरूप शुद्धपारिणामिक भाव आदर करने योग्य है, क्योंकि शुद्धद्रव्य के आश्रय से ही मुक्ति होती है।

जिस शास्त्र में दया-दान के भाव से जीव मुक्ति प्राप्त करता है - ऐसा कथन है और हाथी ने पैर ऊँचा रखकर खरगोश पर दया की, इससे उसने संसार पार कर लिया (मोक्ष हो गया) ऐसा कहते हैं; यह तो स्थूल भूल है; क्योंकि बिना सम्यक्त्व के संसार पार नहीं होता है। राग के आश्रय से तो मुक्ति नहीं है, किन्तु अशुद्धपारिणामिकभाव के जो भेद बताये हैं, उनके आश्रय से भी मुक्ति नहीं है।

यहाँ अशुद्धपारिणामिकभाव के तीन भेद करके बतलाते हैं:-

(१) दश प्राणरूप अशुद्धजीव के भाव आश्रय करने योग्य नहीं है।

(२) भव्य और अभव्य ऐसे भेद में अभव्य का तो प्रश्न नहीं है; लेकिन मैं भव्य हूँ - ऐसे विकल्प को भी स्थान नहीं है, ऐसा विकल्प शरणभूत नहीं है।

(३) जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व - ऐसे तीन भेद आश्रय करने योग्य नहीं हैं; तीन

भेद शरणरूप नहीं हैं। 'मैं भव्य हूँ', – ऐसे विकल्प को भी स्थान नहीं है। परमपारिणामिकभाव से एकरूप शुद्ध हूँ – ऐसे स्वभाव के आश्रय का विश्वास आया। यहाँ मैं भव्य हूँ – ऐसे प्रश्न को स्थान ही नहीं है।

देव–गुरु–शास्त्र की कृपा से संसार नष्ट होगा; दान देने से, शुभराग से, दया के भाव से, आहारदान से, भक्ति से संसार नष्ट होगा – ऐसा जो मानते हैं; और पर्याय से धर्म होता है – ऐसा जो मानते हैं, वे जीव वस्तुस्वरूप को नहीं समझते हैं। जिसमें संसार नहीं – ऐसे द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन से 'संसार नहीं' रूप परिणाम हों, किन्तु एक समय की क्षयोपशम की पर्याय के अवलम्बन से अथवा दानादि के अवलम्बन से भव का नाश नहीं होता। जो जीव दया–दानादि से मुक्ति मानते हैं, वे बहिरात्मा के अवलम्बन से परमात्मा होंगे – ऐसा मानते हैं।

त्रिकालीस्वभाव की अपेक्षा से दशप्राणादिरूप जीवत्व, भव्यत्व अथवा अभव्यत्व ऐसे भेद नहीं होते; लेकिन पर्याय–अपेक्षा से भेद होते हैं। पाँच भाव इन्द्रियाँ, तीन बल, प्राण वगैरह भावप्राणरूप खण्ड–खण्ड दशा विनाशीक है, पर्याय में है, एक रूप नहीं रहती। भव्यत्व और अभव्यत्व की योग्यता पर्याय में है, वह नई–नई उत्पन्न होती है और व्यय होती है, पर्यायापेक्षा से विनाशशील मानी गई है। इसलिए पर्यायाश्रित गुणभेद में गिनकर (मानकर) उसको अशुद्धपारिणामिकभाव कहा है।

समयसार बंध–अधिकार में कहा है कि अभव्यजीव अभव्य है, इसलिए उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता – ऐसा नहीं है। किन्तु वर्त्तमान पर्याय में 'मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ' – ऐसी श्रद्धा नहीं करता, प्रत्येक समय ऐसी भूल करता आया है, इसलिए मोक्ष प्राप्त नहीं करता।

सर्वज्ञभगवान की दिव्यध्वनि में से जो वाणी निकली और उसमें से जो शास्त्र रचे गये, यह एक धारा की बात है। गुरु–परम्परा अनुसार शास्त्र की रचना हुई है। यहाँ संधि की है, किन्तु परम्परा भंग नहीं हुई है – ऐसा बतलाते हैं। पारिणामिकभाव की चर्चा अन्यत्र कहीं नहीं है। जीव को वस्तु का स्वरूप समझना चाहिए। समझने के बाद सरल है, लेकिन जहाँ तक मार्ग की रीति अथवा पद्धति जानने में न आये, वहाँ तक वीर्य नहीं उछलता है। एकरूप शुद्धचैतन्यरूप जीवत्व अविनाशी कहा है और वह शुद्धद्रव्य के आश्रय से है, इससे वह पारिणामिक भाव है और शुद्धनिश्चय का विषय

है, उसके आश्रय से धर्म होता है।

पाँच भाव इन्द्रियों रूप खंड-खंडज्ञान, तीन बलरूप खंड-खंड प्राण वगैरह इस दश प्राणरूप जीव की योग्यता पर्यायाश्रित है और भव्यत्व और अभव्यत्व पर्याय में प्रतिसमय नया-नया उत्पन्न करता है, इससे वह पर्याय में जाता है। ये तीन अशुद्धपारिणामिकभाव संसारी जीव में अशुद्धनय से हैं; अध्यात्म में उक्त तीनभाव व्यवहार हैं, अभूतार्थ हैं। त्रिकाल एकरूप स्वभाव की अपेक्षा से खंड-खंड प्राणरूप जीवत्वपना और भव्यत्व, अभव्यत्वपना ऐसे भेद शुद्धस्वभाव में नहीं हैं, लेकिन संसारी जीवों में ये तीन भेद होते हैं। ये तीन भेद अशुद्ध पारिणामिकभाव से व्यवहार से संसारी जीवों में हैं। तब भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से स्वभाव में ऐसे भेद नहीं हैं और मुक्त जीवों में तो ऐसी अशुद्धता नहीं है। मुक्त जीवों में खंड-खंड जीवत्वपना अथवा भव्यत्व-अभव्यत्व - ऐसा भेद नहीं है।

संसारी जीव में पर्यायदृष्टि से ऐसे भेद किये हैं, इस कारण से उनको अशुद्ध कहा है।

इसप्रकार शुद्ध और अशुद्ध पारिणामिक भाव कहे। उनमें शुद्धपारिणामिकभाव ध्यान करने योग्य है और अशुद्ध ध्यान करने योग्य नहीं है।

अब इस शुद्ध और अशुद्ध - ऐसे दो भाव में कौन-सा भाव ध्यान करने जैसा है ? यह बात समझना है। सर्वज्ञ भगवान वगैरह पर-पदार्थ के ध्यान की बात तो नहीं है; क्योंकि पर की ओर का ध्यान राग का कारण है और दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति भी शुभभाव है, विकार है, वह संसार के खाते में (संसारवर्धक) जाता है, इसलिए वह ध्यान करने योग्य नहीं है। लेकिन अशुद्धपारिणामिकभाव भी आश्रय करने योग्य नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र के प्रति तो राग करना जैसा नहीं है, किन्तु भव्य-अभव्य वगैरह के भेदकर मार्गणा के भेदकर आश्रय करने योग्य नहीं है। अहो! सम्यग्दर्शन के लिए एक परमपारिणामिक ध्रुवस्वभाव आदर करने योग्य है। निमित्त नहीं, कर्म नहीं, हीनपर्याय नहीं, भव्य-अभव्य का विकल्प नहीं, एकरूप चैतन्य ध्रुवस्वभाव ध्येयरूप है, ध्यान करने योग्य है।

वह शुद्धपारिणामिकभाव ध्यान करने योग्य है, किन्तु स्वयं ध्यानरूप नहीं होता; कारण कि ध्यान, वह शुद्ध आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होती सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र

की वीतरागी पर्याय है और ध्येय तो एकरूप आत्मद्रव्य है। द्रव्य पर्यायरूप नहीं होता, एक समय की पर्याय में सम्पूर्ण त्रिकालीद्रव्य का समावेश नहीं होता। इसलिए शुद्धपारिणामिक भाव ध्यानरूप नहीं होता है - इसप्रकार कहा। कारण कि ध्यानपर्याय विनाशशील है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागी पर्याय का नाश होकर केवलज्ञानादि पर्याय प्रकट होती है, अतएव विनाशशील है और ध्येयरूप शुद्धपारिणामिकभाव तो अविनाशी है, कारण कि वह द्रव्य है।

अनन्तकाल से वस्तु क्या है? जीव को इसका पता नहीं है। तू केवलज्ञान प्रकट करना चाहता है, वह वर्तमान पर्याय में प्रकट नहीं है। तब वह कहाँ से प्राप्त करेगा? निमित्त से अथवा पुण्य से प्राप्त करेगा। पर्याय में से पर्याय आयेगी? केवलज्ञान का ध्येय अर्थात् लक्ष्य क्या है? तेरा हेतु क्या है? मोक्षमार्ग का ध्येय तो ज्ञायकस्वरूप है। रागादि परिणाम अथवा अशुद्ध पारिणामिक भावों के भेद आश्रय लेने जैसे तो नहीं हैं, किन्तु ध्यानपर्याय ध्येयरूप नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय विनाशशील है, इससे वह ध्येय नहीं है। किन्तु चैतन्य चिदानन्द अनन्तशक्ति का पिण्ड आत्मा ध्येयरूप है।

वह ध्येय स्वयं ध्यानरूप नहीं होता है। जैसे किसी वस्तु को आँखों से एकाग्र होकर देखें और घड़ी में कितने बजे हैं, उसका विचार करता है। उस समय पर्याय का लक्ष्य काँटे पर जाता है और उस समय अन्य कोई विचार व्यापार, धंधा आदि को छोड़ देता है और फिर काँटे वगैरह सामने के पदार्थ स्वयं की पर्याय में नहीं आ जाते हैं। फिर भी पर्याय का ध्येय तो काँटा है, पर्याय में वह वस्तु आती है? पर्याय का ध्येय मिट (नष्ट) जाता है? उस समय दूसरे विचार का लक्ष्य रहता है? पर्याय में काँटा नहीं आता, फिर भी पर्याय का ध्येय काँटा है, उस समय अन्य विचार नहीं होते। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन की पर्याय का ध्येय शुद्ध आत्मद्रव्य है। फिर भी द्रव्य, पर्याय में सम्पूर्णतया आ नहीं जाता। धर्मी कर्त्ता है, उसकी पर्याय ध्यान और उसका ध्येय शुद्धद्रव्य है और उस समय भव्य-अभव्य के विकल्प अथवा दूसरे कोई भी विकल्प नहीं होते; क्योंकि वे नाशवान होने से आश्रय लेने योग्य नहीं हैं।

राग-द्वेषपना और भव्य-अभव्यपना भी दूर कर दिया और शुद्धपर्याय भी विनाशशील है, इसलिए वह ध्यान करने योग्य नहीं है। परपदार्थ बदलते (परिणमनशील) हैं, इसलिए ध्यान करने योग्य नहीं हैं। राग-द्वेष बदलते हैं, व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम

बदलते हैं, इसलिए ध्यान करने योग्य नहीं है। प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व भेद हैं; पर्यायाश्रित हैं; इसलिए ध्यान करने योग्य नहीं है। ध्यान-पर्याय की शुद्धता बढ़ती जाती है, इससे वह बदलती है, अतएव ध्यान करने योग्य नहीं है। त्रिकाली एकरूप शुद्ध आत्मा अविनाशी है, बदलता है, इसलिए उस पर एकदृष्टि रखना योग्य है और ध्यान करने योग्य है।

कोई ऐसा कहे कि यह बात कठिन लगती है, किन्तु मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि कठिन वस्तु में विशेष उपयोग लगता है। द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप कठिन लगता है तो उसमें उपयोग लगाकर विचार करते-करते ज्ञानपर्याय निर्मल होती जाती है। जीव सामायिक करके धर्म चाहता है, तब सामायिक करनेवाला कौन है? उसकी जानकारी बिना धर्म कैसा? तू ध्यान रखेगा तो शांति प्रकट होने का उपाय हाथ लगेगा। तू शांति चाहता है तो वर्तमान पर्याय में शांति नहीं है, तब लायेगा कहाँ से? बाहर से लायेगा? अन्दर में एकरूप वस्तु है, उसको ध्येय नहीं बनायेगा, तब तक शांति नहीं होगी।

ध्यान भी शुद्धपर्याय है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही वीतरागी दशा है; वह विनाशशील है, वह नष्ट होकर सिद्धदशा प्रकट होती है। इसलिए ध्यानपर्याय विनाशशील है और ध्येयरूप वस्तु शुद्धद्रव्य है। ध्यान और ध्येय एक हो तो ध्यान का नाश होने पर ध्येय का अर्थात् द्रव्य का नाश हो जाये, लेकिन ऐसा होता नहीं है। पर्याय बदलने पर भी द्रव्य एकरूप रहता है, नाश नहीं होता।

समयसार में भी कहा है कि धर्मी और ध्यान (धर्मदशा) को एक कहें तो ध्यान पर्याय नाश होने से धर्मी नष्ट होता है। किन्तु इसप्रकार नहीं है, ध्यानपर्याय नष्ट होकर केवलज्ञान होता है और आत्मा ध्रुव रहता है। आत्मवस्तु अविनाशी है और ध्यान विनाशशील है। ध्यान में सम्पूर्ण (समूचा) द्रव्य का समावेश नहीं होता अर्थात् ध्यान का विषय द्रव्य तो होता है, लेकिन ध्यान एकसमय मात्र है; इससे सम्पूर्ण द्रव्य का अनुभव उसमें (ध्यान में) नहीं होता।

इसप्रकार वीतरागीदेव द्वारा कहे हुए सात तत्त्व, नौ पदार्थ जानना चाहिए। सत्य ज्ञान करना यह सुख का उपाय है और ज्ञान से काम नहीं लेना यह दु:ख का उपाय है। यहाँ भव्य-अभव्य दो प्रकार के भाव अशुद्धपारिणामिकभाव हैं और वे नाशवान हैं और

ध्यानपर्याय भी नाशवान है; इसलिए वे ध्यान करने योग्य नहीं हैं। शुद्धपारिणामिक भाव से द्रव्य अविनाशी है, इसलिए वह एक ध्यान करने योग्य है और वह सुख का उपाय है।

(११) सम्यक्त्वमार्गणा– औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्व – ऐसी तीन प्रकार से सम्यक्त्वमार्गणा है। आत्मा द्रव्य पदार्थ है, उसकी पर्याय में वास्तविक अथवा अवास्तविक श्रद्धा के पहलू (नय या दृष्टि) हैं। वह जीव की अवस्था है, लेकिन ये भेद शुद्धस्वभाव में नहीं है।

उपशमसम्यक्त्व– अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सत्यार्थ देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा करने के बाद आत्मा संबंधी स्वाभाविक विचार करने के बाद आत्मा की प्रतीति अथवा पहचान होती है, वह उपशमसम्यक्त्व है।

अनादि मिथ्यादृष्टि को प्रथम उपशमसम्यक्त्व होता है। किसी को भी पहले क्षयोपशम अथवा क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता। उपशम होने के बाद ही क्षयोपशम होता है, पश्चात् ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

इस उपशम सम्यक्त्व का काल अन्तर्मुहूर्त का है। देव, मनुष्य, नरक, तिर्यंच – ऐसी चार गति में उपशम सम्यक्त्व हो सकता है। सातवें नरक की ३३ सागर की स्थितिवाला जीव है। वहाँ की अपार, अमर्यादित ठंड में भी उस जीव ने पूर्व में सत्य बात सुनी हो और उसको स्मरण में लावे, तब विचारता है कि मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ – ऐसा पुरुषार्थ करे तो उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। जैसे पानी में नीचे कचरा बैठ जाता है और ऊपर से पानी निर्मल (साफ) दिखता है; वैसे ही सत्ता में कर्म स्थित हैं और उपशांत किये होने से स्वयं निर्मल आत्मा का अनुभव करता है, वह उपशमसम्यक्त्व है। वह पर्याय है, उसका विषय अखण्ड द्रव्य है। किन्तु उपशमसम्यक्त्व पर्याय होने से, द्रव्य से भेदरूप होने से अशुद्धनय का विषय है।

क्षयोपशमसम्यक्त्व– उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करनेवाला जीव क्षयोपशमसम्यक्त्व प्रकट करता है। उपशमसम्यक्त्व में उपशम का पुरुषार्थ है और क्षयोपशसम्यक्त्व में क्षय–उपशम ऐसे दो शब्द हैं, लेकिन उसमें उपशम का पुरुषार्थ नहीं है; क्योंकि उसको अनुदय रूप (सदवस्थारूप) उपशम है, उसमें पुरुषार्थ नहीं है। किन्तु दर्शनमोहनीय आदि की सर्वघाति प्रकृति का उदयाभावी क्षय होता है, क्योंकि इसमें उसका पुरुषार्थ

है। यह सब जीव को जानना चाहिए।

मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि वस्तु का उद्देश्य और लक्षण-निर्देश जानना चाहिए। उद्देश्य अर्थात् नाम और लक्षण शास्त्र-प्रमाण से जाने, किन्तु इसके बाद विचार तो स्वयं करना चाहिए। यहाँ सम्यग्दर्शन का लक्षण बतलाते हैं, उसका विचार स्वयं करना चाहिए।

क्षायिकसम्यक्त्व- प्रथम तो कोई उपशमसम्यक्त्व प्राप्त किये बिना धर्म प्राप्त कर ही नहीं सकता। उपशम में से सीधा क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता, किन्तु उपशम में से क्षयोपशमसम्यक्त्व होता है और क्षयोपशम में से क्षयिकसम्यक्त्व होता है। यह क्षायिकसम्यक्त्व केवली भगवान अथवा श्रुतकेवली के समीप में होता है और यह सादि अनंतकाल तक रहता है। श्रेणिक राजा ने अज्ञानता से नरक की आयु बाँधी, इसके बाद भगवान के निकट उपदेश सुना, अखंड आत्मा की प्रतीति हुई। उपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर फिर क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त किया और तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति का बंध किया। उनको बाह्यरूप से राजपाट रानियों वगैरह का त्याग नहीं था, लेकिन मिथ्यात्व का त्याग किया था।

यहाँ क्षायिक सम्यग्दृष्टि की बात चलती है। वह पर्याय है, द्रव्य से भेदरूप है, इसलिए अशुद्धनय का विषय है; लेकिन उसका विषय शुद्ध आत्मा है, इसलिए यह पर्याय ज्ञान करने के लिए है, आदरणीय नहीं है। त्रिकाली शुद्ध आत्मा आश्रय करने योग्य है।

तीन प्रकार के सम्यक्त्व की बात आ गई, वह आत्मा के पुरुषार्थ से होता है। उसके उपाय बिना मुक्ति नहीं होती। ज्ञान की तथा चारित्र की पर्याय के भेद आ गये हैं। अब सम्यक्त्व की बात कही, इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ गये हैं। उसके बिना जीव का कभी कल्याण नहीं होता है और उसको धारण करने से नियम से मोक्ष होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक (पृष्ठ ३१५) में तीन कारण बताये हैं:-

(१) कोई कारण तो ऐसे होते हैं, जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता और जिनके होने पर कार्य हो या न भी हो। जैसे - मुनिलिंग धारण किये बिना तो मोक्ष नहीं होता; परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता।

(२) कितने ही कारण ऐसे हैं कि मुख्यत: तो जिनके होने पर कार्य होता है, परन्तु

किसी के बिना हुए भी कार्यसिद्धि होती है। जैसे – अनशनादि बाह्यतप का साधन करने पर मुख्यत: मोक्ष प्राप्त करते हैं; परन्तु भरतादिक के बाह्यतप किये बिना ही मोक्ष की प्राप्ति हुई।

(३) कितने ही कारण ऐसे हैं, जिनके होने पर कार्यसिद्धि होती ही होती है और जिनके न होने पर सर्वथा कार्यसिद्धि नहीं होती। जैसे – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होने पर तो मोक्ष होता ही होता है और उसके न होने पर सर्वथा मोक्ष नहीं होता।

ऐसे यह कारण कहे, उनमें अतिशयपूर्वक नियम से मोक्ष का साधक जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एकीभाव, सो मोक्षमार्ग जानना। अब जिसको सम्यग्दर्शन नहीं है – ऐसे भाव तीन प्रकार से कहते हैं:-

(१) मिथ्यात्व- मिथ्यादृष्टि को नवतत्त्व की स्वतंत्रता की प्रतीति नहीं होती है। जीव को जीवपने, अजीव को अजीवपने, पुण्य-पाप आस्रव-बंध को जैसे हैं, वैसे जाने, संवर-निर्जरा को संवर-निर्जरारूप जाने और मोक्ष को मोक्ष जाने – इसप्रकार नवतत्त्व स्वतंत्र हैं। – ऐसे विपरीताभिनिवेशरहित जिसको श्रद्धा नहीं है, वह संसार में भटकता है।

(२) सासादन- आत्मा का ज्ञान होने के बाद सम्यग्दर्शन का वमन करता हुआ नीचे गिरने की अवस्था का यह गुणस्थान है। इसमें अनन्तानुबंधी का उदय है, लेकिन मिथ्यादशा हुई नहीं है। जैसे – फल टूटने से जमीन पर न गिरे, उसी तरह बीच की दशा दूसरे गुणस्थान की है।

(३) मिश्र- मिश्र परिणाम की दशा होती है। कोई सादिमिथ्यादृष्टि पहले गुणस्थान से तीसरे में आता है और कोई सम्यक्त्व से च्युत होकर, चौथे से तीसरे में आता है, यह भी एक दशा है।

(१३) संज्ञीमार्गणा- नारकी, मनुष्य, देव मन वाले (सैनी) हैं और तिर्यंच मन तथा मन बिना के हैं – ऐसे दो भेद से विलक्षण आत्मा का लक्षण है। यहाँ भावमन की बात है। द्रव्यमन की बात नहीं है। मति-श्रुतज्ञान के क्षयोपशम की बात है।

शिक्षा और उपदेश ग्रहण कर सके, इस क्षयोपशमवाले जीव को संज्ञी कहते हैं और शिक्षा उपदेश को ग्रहण न कर सके – ऐसे क्षयोपशमवाले जीव को असंज्ञी कहते हैं। संसारदशा में संज्ञीपना और असंज्ञीपना होता है, वह अवस्था का स्वभाव है, द्रव्यस्वभाव

में संज्ञी-असंज्ञीपना कुछ भी नहीं है। शुद्धस्वभाव तो ज्ञायक एकरूप है और वह सम्यग्दर्शन का ध्येय है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। ऐसी दृष्टि बिना भावमन कार्यकारी नहीं है। एकसमय की पर्याय में संज्ञीपना है और स्वभाव में वस्तुपना है। एकसमय में पर्याय से असंज्ञीपना है और स्वभाव में वस्तुपना है। कोई जीव मार्गणास्थान बिलकुल माने ही नहीं, उसको ये भेद समझाये जाते हैं और कोई मार्गणास्थान के आश्रय से धर्म माने, तब अस्वीकार करते हैं।

(१४) आहारमार्गणा- जीव एक देह छोड़कर दूसरी देह धारण करता है, तब मार्ग में जीव अनाहारक होता है। केवलीसमुद्घात आदि कोई समुद्घात तथा अयोगी (१४वाँ) गुणस्थान के समय अनाहारक होता है। बाकी के सभी संसारी जीव आहारक हैं। आहार लेने की ऐसी योग्यता और अनाहारक की योग्यता दोनों अशुद्धनय के विषय हैं। दृष्टि में आहार और अनाहार दोनों नहीं हैं, दोनों छोड़ने योग्य हैं, शुद्धस्वभाव ऐसे भेद से रहित हैं।

इसप्रकार चौदह मार्गणा का स्वरूप जानना चाहिए।

मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि 'सारे अवसर आये हैं। ऐसा सत् समझने का अवसर मिलना दुर्लभ है, इसलिए तेरे उपयोग को चैतन्य (अन्तर) में झुका।'

लेकिन अन्तर स्वभाव क्या, राग क्या, निमित्त क्या, इनके जाने बिना उपयोग किसप्रकार झुके? जीव की पर्याय में पराधीनता स्वयं के कारण से है - ऐसा निर्णय करे तो आत्मा त्रिकाली शुद्ध स्वयंसिद्ध तत्त्व है - ऐसा निर्णय करने का प्रसंग भाता है।

यहाँ चौदह मार्गणास्थान जीव के स्वयं के कारण से है - ऐसा निर्णय कराकर शुद्ध स्वभाव में ऐसे भेद नहीं हैं - इसप्रकार भी ज्ञान कराया है।

इस गाथा में जो कथन है, वह धवल आदि सिद्धान्तों के बीजपद की सूचनारूप से है। भगवान की दिव्यध्वनि में से षट्खंड आगम रचे गये हैं और उन पर धवल, महाधवल, जय-धवल टीकायें हैं। ये शास्त्र मूड़बद्री में दर्शन मात्र के लिए थे। अब ये प्रकाशित हो गये हैं।

उनमें कहा हुआ सार इस गाथा के तीन पदों में कहा है।

मग्गणगुणठाणेहिय चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी.............

इन तीन पदों में अशुद्धनय से मार्गणास्थान तथा गुणस्थानों के भेद बताये हैं। टीकाकार खुलासा करते हैं कि धवल, महाधवल और जयधवल में तथा गोम्मटसार में मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि का जो अधिकार है; उसके बीजपद की सूचना इन तीन पदों में की है। यहाँ यह भावमार्गणा का अधिकार है। इससे सिद्ध होता है कि धवल में भी भावमार्गणा के अधिकार का विस्तार है। इसप्रकार व्यवहार का बीज बताया।

अब निश्चय का बीज बतलाते हैं। निश्चय का अधिकार एक पद में बताते हैं कि '**सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया**' शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रकाशित करनेवाले पंचास्तिकाय, प्रवचनसार तथा समयसार नामक तीन प्राभृत हैं, उनमें विद्यमान अध्यात्म के बीज इस चौथे पद द्वारा सूचित किये हैं। प्रत्येक जीव भव्य हो अथवा अभव्य हो, साधक हो अथवा बाधक हो और कोई शताधिक गायों को काटनेवाला हो, तब भी उसके विकार एक समय की पर्याय में हैं और वे सब जीव (निगोद से लेकर सर्व संसारी जीव) शुद्धनय से शुद्ध ही हैं। ऐसे शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान जीव करे तो धर्म प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करता है अर्थात् इस तेरहवीं गाथा में व्यवहार और निश्चय का स्वरूप समझा दिया है।

यहाँ बीज कैसा है? बड़ का बीज फटकर बड़ वृक्ष बड़ा होता है। यहाँ बीज है, उसका विस्तार गोम्मटसार, धवल, महाधवल जयधवल में है।

व्यवहारशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र किसको कहना? वह भी यहाँ बताया। भगवान की वाणी अनुसार मूल शास्त्र षट्खण्डागम रचे गये। उसके अनुसार धवल, जयधवल, महाधवल, गोम्मटसार तथा दूसरे ग्रन्थ रचे गये। उनमें मुख्यतया व्यवहार का कथन है और आत्मा अखंड शुद्धनिश्चय है - ऐसी दृष्टि का कथन पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार - ऐसे तीन प्राभृत में आता है। इसप्रकार सर्वज्ञ द्वारा कथित निश्चय-व्यवहार के ग्रन्थों का स्वरूप बताया। इससे विरुद्ध हो तो वह भगवान की वाणी अनुसार नहीं है, किन्तु खोटे (असत्) शास्त्र हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि थोड़ी पूँजीवाला लकड़ी, कोयला इकट्ठा करे और सब पूँजी इसमें लगाये, तब खाने-पीने के पदार्थों के लिए पैसा न रहे तो भूखा रहता

है; उसीप्रकार जिसकी बुद्धि अल्प है, वह जीव अप्रयोजनभूत में बुद्धि लगाये और प्रयोजनभूत की याद न रखे, तब उसका संसार नष्ट नहीं होता। इसलिए जीवों को प्रयोजनभूत बात तो याद रखना ही चाहिए। इतिहास, गणित की बातें वगैरह अप्रयोजनभूत याद न रहें, तब भी मोक्षमार्ग में आपत्ति नहीं आती। अधिक बुद्धि हो तो सभीप्रकार का ज्ञान करना चाहिए।

अब टीकाकार विशेष स्पष्ट करते हैं। इन गुणस्थान, मार्गणास्थान में केवलज्ञान और केवलदर्शन तथा क्षायिकसम्यक्त्व और सिद्धपद साक्षात् उपादेय हैं। यहाँ पर्याय अपेक्षा से बात करते हैं। पूर्णपर्याय को उपादेय माने, वह अखंड द्रव्य को उपादेय माने बिना केवलज्ञान को उपादेय नहीं मान सकता है तथा शुद्धात्मा की सम्यक्प्रतीति, स्वसंवेदन ज्ञान तथा आचरणरूप लक्षणवाला कारण समयसार अर्थात् मोक्षमार्ग पूर्वोक्त केवलज्ञान आदि का एक देश शुद्धनय से साधक है। शरीर, संहनन, पुण्य-पाप साधक नहीं है; लेकिन मोक्षमार्ग केवलज्ञान का कारण है, इसलिए साधक कहा है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व और सिद्धपद यों ही नहीं आ जाते, इसलिए साक्षात् उपादेय कहा और मोक्षमार्ग को परम्परा उपादेय कहा, उसके बिना सब त्याज्य हैं। शरीर, मन, वाणी, राग-द्वेष, व्यवहार रत्नत्रय - ये सब त्याज्य हैं। तथा अध्यात्म ग्रन्थों में बीजभूतपद अर्थात् समयसार आदि ग्रन्थों में जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप बताया है, वही उपादेय है। शुद्धस्वभाव अंगीकार करने योग्य है।

इसप्रकार जीवाधिकार के सम्बन्ध में शुद्ध तथा अशुद्ध जीव के कथन की मुख्यता, जो सातवाँ स्थान है, उसमें तीन गाथायें समाप्त हुईं। अब इसके बाद की गाथा में पूर्वार्द्ध में सिद्धों के स्वरूप का, उत्तरार्ध में उनके ऊर्ध्वगमन स्वभाव का कथन करते हैं।

कुछ जीव कहते हैं, सिद्धदशा में जीव ज्ञान को भुला देता है (ज्ञान नहीं होता), कुछ कहते हैं कि मुक्ति के बाद जीव ज्यों का त्यों चला जाता है। कुछ कहते हैं कि सिद्ध फिर अवतार धारण करते हैं। यह सब विपरीतता मिटाने और अविपरीतपना बताने के लिए सिद्धपद की बात करते हैं।

❑❑❑

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-१४

अब, यहाँ गाथा के पूर्वार्ध से सिद्धों का स्वरूप और उत्तरार्ध से उनका उर्ध्वगमन स्वभाव कहते हैं:-

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता॥१४॥

निष्कर्म्माणः अष्टगुणाः किंचिदूनाः चरमदेहतः सिद्धाः।
लोकाग्रस्थिताः नित्याः उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः॥१४॥

उत्पादव्ययसंयुक्त अन्तिम देह से कुछ न्यून हैं।
लोकाग्रथित निष्कर्म शाश्वत अष्टगुणमय सिद्ध हैं॥१४॥

गाथार्थ :- सिद्ध भगवान कर्मों से रहित हैं, आठ गुणों के धारक हैं, अन्तिम शरीर से कुछ न्यून (कम) आकारवाले हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं और उत्पाद-व्यय से युक्त हैं।

टीका :- **सिद्धा** सिद्ध होते हैं। इस प्रकार यहाँ **भवन्ति** (होते हैं) क्रिया अध्याहार है। कैसे होते हैं? **णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो** कर्मों से रहित, आठ गुणों से सहित, अंतिम शरीर से कुछ न्यून - ऐसे सिद्ध हैं-होते हैं। इसप्रकार गाथा के पूर्वार्ध से सिद्धों का स्वरूप कहा। अब, उनका उर्ध्वगमन स्वभाव कहा जाता है - **लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता** वे सिद्ध भगवान लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं और उत्पाद-व्यय से संयुक्त हैं।

अब विस्तार कहा जाता है:- कर्मशत्रुओं के विध्वंसक स्वशुद्धात्मा की संवित्ति के (संवेदन के) बल से ज्ञानावरणादि मूल और उत्तर समस्त कर्मप्रकृतियों का विनाश करने के कारण सिद्ध भगवान आठ कर्म से रहित हैं। **सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं। अगुरुलहुअव्वबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं।।१।।** (सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध - ये सिद्धों के आठ गुण होते हैं।) इस गाथा में कथित क्रमपूर्वक, आठ कर्मरहित सिद्धों के आठ गुण कहे जाते हैं:-

केवलज्ञानादि गुणों के स्थानरूप निज शुद्धात्मा ही उपादेय है - ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व जो पहले तपश्चर्या की अवस्था में भावित किया था (भावना की थी,

अनुभव किया था) उसके फलभूत, समस्त जीवादि तत्त्वों के विषय में विपरीत-अभिनिवेशरहित परिणतिरूप परमक्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है ॥१ ॥

पहले छद्मस्थ अवस्था में भावित किया हुआ (भावना में आया हुआ, अनुभव किया हुआ) निर्विकार स्वसंवेदनज्ञान के फलभूत, युगपद् लोक और अलोक की समस्त वस्तुओं के विशेषों का ज्ञाता केवलज्ञान है ॥२ ॥ जो निर्विकल्प स्वशुद्धात्म-सत्ता के अवलोकन रूप दर्शन पहले भावित किया था; उसी के फलभूत, युगपद् लोकालोक की समस्त वस्तुओं के सामान्य को ग्रहण करनेवाला केवलदर्शन है ॥३ ॥ आत्मस्वरूप से चलित होने का कोई कारण उत्पन्न होने पर घोर परीषह अथवा उपसर्गादि में निजनिरंजन परमात्मा के ध्यान में पहले जो धैर्य का अवलंबन किया था; उसी के फलभूत, अनंत पदार्थों को जानने में खेद के अभावरूप अनंतवीर्य है ॥४ ॥ सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवलज्ञान का विषय होने के कारण सिद्धों के स्वरूप को सूक्ष्मत्व कहते हैं ॥५ ॥ जैसे एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, उसी प्रकार एक सिद्ध के क्षेत्र में संकर-व्यतिकर दोष बिना अनंत सिद्धों को अवकाश देने का सामर्थ्य, वह अवगाहन गुण कहलाता है ॥६ ॥ यदि सिद्ध सर्वथा गुरु हों तो लोहे के पिंड की भाँति नीचे गिरें, और यदि सर्वथा लघु हों तो पवन से प्रेरित आक की रुई की भाँति सदा उड़ते ही रहें, परन्तु ऐसा है नहीं। अत: उनके अगुरुलघु गुण कहा जाता है ॥७ ॥ सहज शुद्धस्वरूप-अनुभव से उत्पन्न, रागादि विभावरहित सुखामृत का एकदेश संवेदन जो पहले किया था, उसके ही फलभूत अव्याबाध अनन्तसुख कहा जाता है ॥८ ॥ इसप्रकार मध्यमरुचियुक्त शिष्य के लिए सम्यक्त्वादि आठ गुणों का कथन किया।

विस्ताररुचि शिष्य के लिए विशेष भेदनय से निर्गतित्व (गतिरहितपना), निरिन्द्रियत्व (इन्द्रियरहितपना), निष्कायत्व (शरीररहितपना), निर्योगत्व (योगरहितपना), निर्वेदत्व (वेदरहितपना), निष्कषायत्व (कषायरहितपना) , निर्नामत्व (नामरहितपना), निर्गोत्रत्व (गोत्ररहितपना), निरायुषत्व (आयुष्यरहितपना) इत्यादि विशेष गुण तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण स्व-आगम से अविरोधरूप से (जैनागम अनुसार) अनंत जानना।

संक्षेप रुचि शिष्य के लिए विवक्षित अभेदनय से (सिद्ध को) अनन्तज्ञान आदि चार गुण अथवा अनंतज्ञान, अनंतदर्शन और अनंतसुख – ये तीन गुण अथवा केवलज्ञान और

केवलदर्शन – ये दो गुण हैं, साक्षात् अभेदनय से शुद्धचैतन्य ही एक गुण है।

तथा वे सिद्ध कैसे हैं? चरम (अन्तिम) शरीर से कुछ न्यून हैं। वह किंचित् न्यूनपना, शरीर-उपांगजनित नासिकादि छिद्र अपूर्ण होने से जिस क्षण सयोगी गुणस्थान के चरम समय में तीस प्रकृतियों के उदय का नाश हुआ, उनमें शरीरोपांग नाम कर्म का भी नाश हुआ, उसी क्षण हो गया – ऐसा जानना। कोई शंका करता है कि जिस प्रकार दीपक को ढकनेवाले पात्र आदि दूर होने पर, दीपक के प्रकाश का विस्तार हो जाता है; उसी प्रकार शरीर का अभाव होने पर सिद्धों का आत्मा भी फैलकर लोकप्रमाण हो जाना चाहिए। उसका समाधान किया जाता है:– दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह पहले से स्वभाव से ही होता है, पश्चात् उस दीपक का आवरण दूर हुआ है; परन्तु जीव का तो लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशीपना स्वभाव है, प्रदेशों का विस्तार वह स्वभाव नहीं है। **प्रश्न:**– ऐसा किसलिए? जीव के लोक प्रमाण प्रदेश पहले विस्तीर्ण (लोक में फैले हुए), निरावरण होते हैं और पश्चात् दीपक की भाँति आवरण हुआ है। **उत्तर:**– इसप्रकार नहीं है; परन्तु जीव के प्रदेश तो पहले से ही अनादि संतान रूप से शरीर से आवृत्त रहे हैं; अत: (जीव के) प्रदेशों का संकोच (बाद में) नहीं होता है तथा विस्तार शरीरनामकर्म के आधीन ही है, स्वभाव नहीं है। इस कारण शरीर का अभाव होने पर प्रदेशों का विस्तार नहीं होता है। यहाँ अन्य उदाहरण दिया जाता है:– (१) जैसे चार हाथ लम्बा वस्त्र किसी मनुष्य ने मुट्ठी में रखा हो वह, (मुट्ठी खोलने के बाद में) पुरुष के अभाव में संकोच या विस्तार नहीं करता है अथवा (२) जैसे गीली मिट्टी का बर्तन बनते समय संकोच और विस्तार को प्राप्त होता है; परन्तु जब वह सूख जाता है, तब जल का अभाव होने से संकोच और विस्तार को प्राप्त नहीं होता, उसीप्रकार (मुक्त) जीव भी (१) पुरुषस्थानीय अथवा (२) जलस्थानीय शरीर का अभाव होने पर संकोच-विस्तार को प्राप्त नहीं होता।

कोई कहता है कि जीव जहाँ मुक्त होता है, वहाँ ही रहता है; उसका निषेध करने के लिए, पूर्व के प्रयोग से, असंग होने से, बंध का छेद होने से तथा गति परिणाम से – इन चार हेतुओं द्वारा तथा कुम्हार के घूमते हुए चाक की भाँति, जिसका मिट्टी का लेप दूर हुआ है – ऐसी तूंबी की भाँति, एरंड के बीज की भाँति और अग्नि की शिखा की भाँति – इन चार दृष्टांतों द्वारा, जीव को स्वभाव से ही उर्ध्वगमन जानना और वह

(उर्ध्वगमन) लोक के अग्रभाग तक ही होता है, उससे आगे नहीं होता; क्योंकि धर्मास्तिकाय का (आगे) अभाव है।

सिद्ध भगवान नित्य हैं - ऐसा जो नित्य विशेषण है, वह सदाशिववादी कहता है कि कल्पप्रमाण समय बीतने पर जब जगत शून्य हो जाता है, तब मुक्त जीवों का संसार में पुनरागमन होता है, उसका निषेध करने के लिए है - ऐसा जानना।

सिद्ध भगवान का एक विशेषण उत्पाद-व्यय संयुक्तपना है, वह सर्वथा अपरिणामीपने का निषेध करने के लिए है।

तथा यहाँ विशेष समझाया जाता है कि - निश्चल अविनश्वर शुद्धात्मस्वरूप से भिन्न नारकादि गतियों में सिद्धों का भ्रमण नहीं होता तो सिद्धों में उत्पाद-व्यय किसप्रकार होता है? उसका समाधान:- (१) आगम में कहे अनुसार अगुरुलघुगुण की षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप जो अर्थपर्यायें हैं, उनकी अपेक्षा से (सिद्ध भगवान को उत्पाद-व्यय घटित होता है) अथवा (२) ज्ञेय पदार्थ अपने जिस-जिस उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से प्रति समय परिणमित होते हैं, उनकी ज्ञप्ति के आकार से अनीहितवृत्ति से (बिना इच्छा) सिद्ध का ज्ञान भी परिणमित होता है, इस कारण सिद्धभगवान को उत्पाद-व्यय घटित होता है अथवा (३) व्यंजन पर्याय की अपेक्षा से सिद्धों के संसार पर्याय का विनाश, सिद्धपर्याय का उत्पाद और शुद्ध जीवद्रव्यरूप से ध्रौव्य है।

इसप्रकार नय विभाग से नौ अधिकारों द्वारा जीवद्रव्य जानना।

अथवा वही (जीव) बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार का है। वह इसप्रकार - स्वशुद्धात्मसंवित्ति से उत्पन्न वास्तविक सुख से प्रतिपक्षभूत इन्द्रियसुख में आसक्त (जीव) बहिरात्मा है और उससे विलक्षण जीव अंतरात्मा है अथवा देहरहित निज शुद्धात्मद्रव्य की भावना जिसका लक्षण है - ऐसे भेदज्ञान से रहित होने से देहादि परद्रव्यों में एकत्व भावनारूप परिणमित जीव बहिरात्मा है, उससे प्रतिपक्षभूत अंतरात्मा है। अथवा हेय और उपादेय का विचार करनेवाला 'चित्त', निर्दोष परमात्मा से भिन्न रागादि 'दोष' और शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मा - इन तीनों का तथा वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत अन्य पदार्थों का जिसे परस्पर सापेक्ष नयविभाग से श्रद्धान और ज्ञान नहीं है, वह बहिरात्मा है; उससे विरुद्ध अंतरात्मा है - इसप्रकार बहिरात्मा और अंतरात्मा का लक्षण जानना।

(अब) परमात्मा का लक्षण कहा जाता है:- सकलविमल केवलज्ञान द्वारा समस्त लोकालोक को जानता है, व्याप्त होता है; अत: विष्णु कहलाता है। परमब्रह्म नामक निजशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत द्वारा तृप्त होने से उर्वशी, रंभा, तिलोत्तमा आदि देवकन्याओं द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्यव्रत खंडित नहीं होता, वह परमब्रह्म कहलाता है। केवलज्ञान शब्द से वाच्य, सु अर्थात् उत्तम, गत अर्थात् ज्ञान जिसको है, वह सुगत है अथवा जिसने शोभायमान अविनश्वर मुक्तिपद को प्राप्त किया है, वह सुगत है। **शिवं परमकल्याणं निर्वाणं ज्ञानमक्षयम्। प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिव: परिकीर्तित: ।।१ ।।** (शिव अर्थात् परमकल्याण, निर्वाण और अक्षयज्ञानरूप मुक्तिपद को जिसने प्राप्त किया है, वह शिव कहलाता है।)-इस श्लोक में कथित लक्षणयुक्त शिव हैं। काम-क्रोधादि दोष का जय करने से अनन्तज्ञानादि गुणसहित, वह जिन हैं - इत्यादि परमागम में कहे हुए एक हजार और आठ नामों से वाच्य परमात्मा जानना।

इसप्रकार इन त्रिविध आत्माओं में, मिथ्यादृष्टि भव्यजीव में बहिरात्मा व्यक्त रूप से रहता है, अंतरात्मा और परमात्मा - ये दो शक्तिरूप से रहते हैं और भावीनैगमनय की अपेक्षा से व्यक्तिरूप से भी रहते हैं। अभव्यजीव में बहिरात्मा व्यक्तरूप से तथा अंतरात्मा और परमात्मा - ये दो शक्तिरूप से ही रहते हैं, भावीनैगमनय की अपेक्षा से भी उसमें अंतरात्मा और परमात्मा व्यक्तिरूप से नहीं रहते हैं। **प्रश्न-** यदि अभव्यजीव में परमात्मा शक्ति रूप से रहता है तो उसमें अभव्यत्व किस प्रकार है? **उत्तरे-** अभव्यजीव में परमात्म शक्ति की व्यक्तता केवलज्ञानादिरूप से नहीं होती है; अत: उसमें अभव्यत्व है और शक्ति तो (परमात्म शक्ति तो) शुद्धनय की अपेक्षा अभव्य और भव्य दोनों में समान है तथा यदि अभव्यजीव में शक्तिरूप से भी केवलज्ञान नहीं हो तो उसे केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं होता है। भव्यत्व और अभव्यत्व - ये दोनों अशुद्धनय की अपेक्षा से हैं - ऐसा भावार्थ है।

इसप्रकार जैसे मिथ्यादृष्टि संज्ञक बहिरात्मा में नय विभाग से तीनों आत्मा दिखलाये हैं, वैसे ही शेष गुणस्थानों में भी समझना। वह इसप्रकार बहिरात्म-अवस्था में अंतरात्मा और परमात्मा - ये दोनों शक्तिरूप से और भावीनैगमनय से व्यक्ति रूप से भी रहते हैं - ऐसा जानना। अंतरात्म-अवस्था में बहिरात्मा भूतपूर्वनय से तथा घी के घड़े की भाँति और परमात्मस्वरूप शक्तिरूप से तथा भावीनैगमनय से व्यक्तिरूप से भी रहता

है। परमात्म-अवस्था में अंतरात्मा और बहिरात्मा दोनों भूतपूर्वनय से रहते हैं।

अब तीन प्रकार के आत्माओं को गुणस्थानों में घटित करते हैं। मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र - इन तीन गुणस्थानों में तारतम्यरूप न्यूनाधिक भेद से बहिरात्मा जानना। अविरत गुणस्थान में उसके योग्य अशुभ लेश्यारूप से परिणमित (जीव) जघन्य अंतरात्मा है और क्षीणकषाय गुणस्थान में उत्कृष्ट अंतरात्मा है, अविरत और क्षीणकषाय गुणस्थान के बीच के गुणस्थानों में मध्यम अंतरात्मा है; सयोगी और अयोगी गुणस्थान में विवक्षित एकदेश शुद्धनय की अपेक्षा से सिद्ध सदृश परमात्मा है और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा हैं।

यहाँ बहिरात्मा हेय है, उपादेयभूत अनन्तसुख का साधक होने से अंतरात्मा उपादेय है और परमात्मा तो साक्षात् उपादेय है - ऐसा अभिप्राय है।

इसप्रकार षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय के प्रतिपादक प्रथम अधिकार में नमस्कार गाथादि चौदह गाथाओं द्वारा नौ अंतरस्थलों द्वारा जीवद्रव्य के कथन रूप से प्रथम अंतराधिकार पूर्ण हुआ॥१४॥

गाथा १४ पर प्रवचन

जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्वादि आठ गुणों के धारक हैं तथा अंतिम शरीर से किचिंत् न्यून हैं, वे सिद्ध हैं तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय इन दोनों से सहित हैं।

कैसे हैं सिद्ध भगवान? ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित हैं, उनको कर्म का निमित्तपना नहीं है - यह सिद्धदशा का कारण समझाया। अब कार्यरूप सिद्धदशा प्रकट हुई - यह समझाते हैं। और फिर सम्यक्त्वादि आठ गुणों के धारक हैं और ये अन्तिम शरीर से कुछ न्यून हैं तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में विराजते हैं। द्रव्य-गुण त्रिकाल रहते हैं और पूर्वपर्याय का अनुभव का व्यय होता है और नवीन पर्याय के अनुभव का उत्पाद होता है। इसप्रकार सिद्ध भगवान के उत्पाद-व्यय होता है और नवीन पर्याय के अनुभव का उत्पाद होता है। इसप्रकार सिद्ध भगवान उत्पाद-व्यय-ध्रुव सहित हैं। अनेक अज्ञानी कहते हैं कि सिद्ध में घोड़ा-गाड़ी (ताँगा-बग्घी), विमान (वायुयान), उद्यान (बाग) नहीं हैं; तब वहाँ क्या सुख होगा? और वहाँ क्या क्रिया करते होंगे?

भाई! यहाँ संसार में जीव पर की क्रिया नहीं करता है, राग-द्वेष और अज्ञान की अथवा अल्पज्ञता की क्रिया करता है, वह संसारी है। और जो वीतरागी-विज्ञान का और पूर्ण आनन्द का अनुभव करता है, वह सिद्ध है। मोक्षमार्ग का व्यय होकर पूर्ण सिद्धदशा प्रकट होती है और वहाँ शुद्धचैतन्य का अनुभव करता है। जो चींटियों के झुण्ड की तरह (सामूहिक रूप से एकसाथ चलना) चला जाता हो, उसे कौन रोक सकता है? इसप्रकार अज्ञान से विपरीत हुए जीव संसार में चले जा रहे हैं, (भ्रमण करते हैं) उन्हें कौन रोक सकता है? इसलिए स्वयं को स्वयं का करने योग्य है।

तेरहवीं गाथा में संसारी जीव का स्वरूप कहा था। यहाँ गाथा १४ में सिद्धदशा का वर्णन करते हैं। सिद्ध कैसे होते हैं और किस कारण से होते हैं? संसार अनादि से है और सिद्धदशा नवीन प्रकट होती है। उसका स्वरूप कैसा है? वह बतलाते हैं।

सिद्ध कैसे होते हैं? आठ कर्मों से रहित हैं और आठ गुणों से सहित हैं। संसारी जीव कर्मों से सहित हैं अर्थात् कर्म निमित्त हैं और आठ कर्मों का नाश होने से आठ प्रकार की शुद्धदशा प्रकट होती है। और ज्ञानघन (ज्ञान का पिण्ड) सिद्ध की अवगाहना के अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून होता है।

अनेक जीव कर्म को नहीं मानते हैं और अनेक जीव सिद्ध में कर्मरहितपना नहीं मानते हैं। इस बात का इससे निषेध हुआ।

और फिर कोई सिद्ध की अवगाहना में भूल करते हैं। शरीर के दो तृतीयांश भाग (२/३) जितना कद सिद्ध में रहता है - ऐसा कहते हैं। जैसे कि अन्तिम शरीर का प्रमाण ५०० धनुष हो तो उसका २/३ भाग प्रमाण रहता है। लेकिन यह बात असत्य है। देह का पोलापन वगैरह पोलाभाग प्रमाण कद में (ऊँचाई में) कम होता है, यह बात सत्य है; किन्तु ऊँचाई में १/३ भाग कम होता है - यह बात असत्य है। सिद्ध की अवगाहना अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून होती है।

सिद्धजीव लोक के अग्रभाग में रहते हैं। कोई कहते हैं कि पक्षी के पंख टूट जाने से पक्षी वहीं का वहीं पड़ा रहता है, इसीप्रकार आत्मा मुक्त होने से वहीं का वहीं पड़ा रहता है - यह बात भी असत्य है।

कोई कहते हैं, पंच महाभूत में समा जाता है अथवा अनन्त में मिल जाता है -

यह बात असत्य है। पंच महाभूत पुद्गल से भिन्न वस्तु नहीं है – पृथ्वी, जल वगैरह पुद्गल की अवस्था है तथा आकाश अरूपी है, आत्मा उसको स्पर्श नहीं करता है। सिद्धजीव ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में रहते हैं। भक्त के संकट आये, इसलिए सिद्ध फिर अवतार लेते हैं – ऐसा नहीं होता है। जैसे चने का बीज नष्ट होने से वृक्ष नहीं उगेगा, उसीप्रकार राग का बीज नष्ट होने से सिद्ध का अवतार (पुनर्जन्म) नहीं होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि सिद्ध रागादिरूप नहीं परिणमते हैं और संसार की इच्छा नहीं करते हैं, यह सम्यग्दर्शन की शक्ति है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का व्यय होकर सिद्ध अवस्था प्रकट होती है; तब फिर जिसका व्यय हुआ, वह सम्यग्दर्शन सिद्ध में कैसे रहे?

समाधान- वृक्ष की मूल डाल (शाखा) में छोटी-छोटी डालियाँ बहुत होती हैं और बहुत शाखायें होने पर भी मूल का नाश नहीं होता, बहुत शाखाओं सहित डाल रहती है। उसीप्रकार भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यमूर्त्ति, अखंड ज्ञायकमूर्ति है, उसका ज्ञान करने से सम्यग्दर्शनरूपी शाखा प्रकट होकर फिर केवलज्ञान, केवलदर्शन और वीतरागतारूपी शाखायें प्रकट होती हैं। इससे सम्यग्दर्शन सिद्ध में नष्ट नहीं होता।

और फिर भगवान के अनन्त गुण शाश्वत रहने की अपेक्षा नित्य हैं और प्रत्येक समय में नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पूर्व पर्याय का नाश होता है, इस अपेक्षा से उत्पाद-व्यय सहित हैं। अब उसको विस्तार से कहते हैं।

स्वयं का शुद्ध आत्मा आठ कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने में समर्थ है। शास्त्र में कथन आता है कि स्वद्रव्य यह इष्ट और परद्रव्य – यह अनिष्ट – ऐसा मानना, यह भ्रम है। परद्रव्य में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है। स्वयं में इष्ट-अनिष्ट के दो भाग होते हैं। त्रिकालीस्वभाव इष्ट है और रागादि परिणाम अनिष्ट हैं – इसप्रकार समझकर राग-द्वेषादि में कर्म निमित्त है, इसलिए कर्म में अनिष्ट का अथवा शत्रु का आरोप किया है। आठ कर्मों का नाश स्वयं की आत्मा के ज्ञान के बल से होता है – ऐसा कहा है। इसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है।

किसी क्रिया अथवा उपवास के बल से आठ कर्मों का नाश होता है – ऐसा नहीं कहा है, आत्मज्ञान बल से कहा है। इसमें मोक्षमार्ग और शुक्लध्यान भी आ गया। आत्मा की प्रतीति, स्वसंवेदनज्ञान और लीनता – तीनों मिलकर एक ही मार्ग है। और शुद्ध आत्मबल प्रकट हुआ, उसको सत्यार्थ देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची श्रद्धा होती ही है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में सम्यग्दर्शन होने के पहले का अनुक्रम बताते हैं:- (१) सच्चे देव, निर्ग्रन्थ गुरु और सच्चे शास्त्र की श्रद्धा निःशंकरूप से होना चाहिए और कुदेवादि की श्रद्धा छोड़ना चाहिए। नवतत्त्वों के कहनेवाले कौन हैं ? यह जाने बिना तत्त्व-विचार नहीं हो सकता है। (२) नवतत्त्व जैसे हैं, वैसे जानना चाहिए। यह जाने बिना स्व-पर भेद-विज्ञान नहीं होता है। (३) स्व-पर का भेद-विज्ञान करना चाहिए; स्व-पर के भेद-विज्ञान बिना आत्मा का विचार हो ही नहीं सकता है। (४) आत्मा का विचार-इसके बल से सम्यग्दर्शन होता है – ऐसे क्रम बिना, सच्चे देव-गुरु की श्रद्धा बिना, मात्र आत्मा की बातें करना, यह तो चतुराई की बात है।

यहाँ शुद्ध आत्मज्ञान के बल से आठों कर्मों का नाश होता है, इसमें अघातिकर्म भी आ गये। जिस शुद्ध आत्मा के बल से वीतरागता प्रकट होती है, तब अघातिकर्म नष्ट हुए बिना नहीं रहते। इसलिए सब कर्म शुद्ध आत्मा के बल से नष्ट होते हैं – ऐसा कहा है। कोई जीव आठ वर्ष की आयु में केवलज्ञान प्राप्त करके तुरन्त सिद्ध होता है और कोई केवलज्ञान के बाद देश न्यून (८ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम) एक कोटि पूर्व वर्ष तक शरीर में रहता है। वह स्वयं की योग्यता के कारण से रहता है। यहाँ तो सबके लिए एक ही सिद्धान्त है कि शुद्ध आत्मा के बल से कर्म नष्ट होते हैं। कर्म जड़ हैं, उनका आत्मा व्यय करता है, यह निमित्त से कथन है। इसप्रकार ज्ञानावरणादि समस्त मूल प्रकृति और उत्तरकर्मप्रकृति का नाश होने से सिद्ध आठ कर्मों से रहित होते हैं, यह नास्ति से कहा है।

अब अस्ति से बात करते हैं। सिद्ध के आठ गुण प्रकट होते हैं। मोहनीय कर्म के अभाव से सम्यक्त्व, ज्ञानावरणी के अभाव से केवलज्ञान, दर्शनावरणी के अभाव से केवलदर्शन, अन्तराय के अभाव से वीर्य, नाम के अभाव से सूक्ष्मत्व, आयु के अभाव से अवगाहनत्व, गोत्र के अभाव से अगुरुलघुत्व, वेदनीय के अभाव से अव्याबाधत्व – इसप्रकार आठ गुण प्रकट होते हैं। ये आठों पर्याय हैं, तब भी पर्याय के गुण कहे

जाते हैं। अब उन गुणों का विस्तार करते हैं।

(१) सम्यक्त्व- सिद्ध भगवान पहले संसारदशा में थे और तब कर्म का निमित्त था। सम्यग्दर्शन प्रकट कर सिद्धदशा प्रकट की, वह सम्यग्दर्शन पहले कहाँ से हुआ? और अब क्यों रहता है? उसकी बात करते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है, उसका व्यय होकर सिद्धदशा होती है। फिर सम्यग्दर्शन सिद्धदशा में कैसे रहता होगा? - ऐसा कोई प्रश्न करे।

उसका **समाधान**- वृक्ष की बड़ी शाखा में से अनेक शाखायें होने पर भी बड़ी शाखा नष्ट नहीं हो जाती। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन के निमित्त से वीतरागता और केवलज्ञानादि प्रकट होने पर भी सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता है।

अब कैसे प्रकट होता है? शुद्ध आत्मा की रुचि से प्रकट होता है। आत्मा कैसा है? केवलज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रभुत्व, स्वच्छत्व, कर्त्ता, करण वगैरह अनन्त गुणों का धाम आत्मा है। उसको आदरणीय मानकर उसकी अन्तर (चैतन्य) में रुचि करना - इसका नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है। ऐसा कहनेवाले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करना - यह व्यवहार सम्यग्दर्शन है - राग है। फिर रागरहित आत्मा की श्रद्धा करना, यह अरागीतत्त्व की प्रतीति है। कुटुम्ब शरीर आदि पर हैं, अल्पज्ञदशा विकारदशा पर्याय में है, उसको हेय मानकर आत्मा की अंतररुचि करना - यह निर्विकारी सम्यग्दर्शनदशा है। यह नवीन पर्याय प्रकट होती है, वह गुण नहीं है; लेकिन यहाँ पर्याय को उपचार से गुण कहा है।

आत्मा में श्रद्धागुण अनादि से है और उसकी मिथ्या अवस्था अनादि से है, किन्तु सच्चा मानकर सम्यक्श्रद्धा नवीन उत्पन्न करता है। तपश्चरणरूप अवस्था, मुनि-अवस्था है। बाह्य उपवास तप नहीं है। मेरे स्वभाव में इच्छा नहीं है - ऐसी दृष्टि और रुचि बिना, चारित्र और तप नहीं होता। पुण्य से स्वर्ग मिलता है, लेकिन धर्म नहीं होता है। शुद्ध आत्मा के आश्रय से धर्म होता है - ऐसे भानपूर्वक गृहस्थाश्रम छोड़कर बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थदशा प्रकट करता है, वह मुनिदशा है।

ऐसे मुनिपने में जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न किया था, उसके परिणामस्वरूप समस्त जीवादि तत्त्वों के विषयों में विपरीताभिनिवेशरहित परिणामरूप परम क्षायिकसम्यक्त्व

नामक प्रथम गुण सिद्ध में होता है। विपरीताभिनिवेशरहित अर्थात् नवतत्त्व जैसे हैं, वैसा श्रद्धान करता है, राग को राग मानता है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को छूता नहीं, इसप्रकार प्रत्येक तत्त्व एक दूसरे के अभाव में वर्तता अर्थात् एक तत्त्व दूसरे तत्त्वरूप नहीं होता। आत्मा पर-वस्तु को छूता (स्पर्श करता) है - ऐसा कहना, यह समीपता बतानेवाला कथन है। नवतत्त्व जैसे स्वतन्त्र हैं, वैसा श्रद्धान करना - इसका नाम विपरीताभिनिवेश-रहितपना है। सम्यग्दर्शन होने से जो विपरीताभिनिवेशरहितपना भाव है, वह सिद्ध में विपरीताभिनिवेशपने क्षायिकसम्यक्त्व रहता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में भी इन शब्दों का प्रयोग किया गया है।

(२) केवलज्ञान- केवलज्ञान किसप्रकार प्रकट किया - यह बतलाते हैं। पहले छद्मस्थ अवस्था में विकाररहित स्वानुभवरूप ज्ञान के परिणामस्वरूप (फलरूप से) केवलज्ञान प्रकट हुआ है। छद्मस्थ (छद्म में रुका या अटका हुआ) ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी कर्मों को छद्म कहते हैं। उनमें झुकावरूप दशा थी, इससे उसमें रुका हुआ रहता है, इसलिए उसे छद्मस्थ कहते हैं। वे कर्म जड़ हैं, ज्ञान-दर्शन को रोकते नहीं हैं। एक तत्त्व दूसरे को हानि पहुँचाये - ऐसा नहीं होता है तथा एक तत्त्व दूसरे तत्त्व से हानि उठाता है - ऐसा भी नहीं होता, किन्तु जीव में स्वयं के कारण से ज्ञान-दर्शन अल्प होते हैं, तब उसका (कर्म का) उदय निमित्त कहा जाता है।

यहाँ जीवों का ज्ञानस्वभाव कहा है कि विकाररहित ज्ञानस्वभाव है। ऐसे ज्ञानस्वभाव का अनुसरण कर सम्यग्ज्ञान प्रकट किया है। पर का अनुसरण कर, शास्त्र का अथवा राग का अनुसरण कर ज्ञान प्रकट होता है - यह बात निकाल देना चाहिए। पहले शास्त्रज्ञान का विकल्प होता है, लेकिन उसके आश्रय से स्वानुभव नहीं होता। स्वयं के शुद्धात्मा के आश्रय से स्वानुभव होता है और स्वसंवेदनज्ञान प्रकटता है और नवीन-नवीन ज्ञानदशा प्रकट होती है।

ज्यादा शास्त्र पढ़े हों अर्थात् नौ पूर्ववाले को जल्दी आत्मज्ञान होता है और कम पढ़नेवाले को देर से होता है - ऐसा है ही नहीं। स्वयं के आत्मा के अनुभव से होता है। पहले जीव को यथार्थ श्रवण कर ग्रहण करना चाहिए और ग्रहण कर बारम्बार चिन्तवन करना चाहिए। आत्मा के स्वानुभव का फल केवलज्ञान है, तप अथवा कष्ट करने से केवलज्ञान नहीं होता। वस्तु स्वभाववान है, गुण-पर्याय का पिण्ड है, उसके

अनुभवरूप ज्ञान को साधन कहा है। उसके फलस्वरूप केवलज्ञान प्रकटता है और एक समय में लोक तथा अलोक के सम्पूर्ण पदार्थों को भिन्न-भिन्न जानता है, विशेषों को जानता है। अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद-सहित जानता है, उसको केवलज्ञान गुण कहते हैं। ऐसे स्व-संवेदन ज्ञानरूप साधन से केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रकटती है, दूसरे से नहीं।

(३) **केवलदर्शन-** केवलदर्शन कैसे प्राप्त होता है, उसकी बात करते हैं। सम्पूर्ण विकल्पों से शून्य निज शुद्ध आत्मा की सत्ता अवलोकनरूप जो दर्शन पहले भावित (भावनारूप) था, उसके परिणामस्वरूप केवलदर्शन होता है। सिद्धात्मा पहले संसारी था। संसारदशा में रागरहित भेदरहित एकरूप पदार्थ जो स्वयं का आत्मा है, उसके अवलोकन की भावना करने से केवलदर्शन होता है।

पहले कहा कि जैसे शुद्ध आत्मा की प्रतीति की थी, उसके फलस्वरूप क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न हुआ और ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता की थी, उसके फलस्वरूप केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उसीप्रकार साधक दशा में शुद्ध आत्मा के सत्तावलोकन का प्रयत्न किया था, उसके फलस्वरूप केवलदर्शन उत्पन्न होता है। इसप्रकार आत्मा त्रिकाली शुद्धवस्तु है, दर्शन उसका त्रिकाली गुण है और आत्मा का सामान्य सत्ता की ओर का झुकाव - यह उसकी पर्याय है। उसमें यह दर्शनगुण है और यह ज्ञानगुण है - ऐसा भेद नहीं है। उसीप्रकार यह आत्मा है और यह ज्ञान है - ऐसा भेद नहीं है - ऐसा दर्शनगुण है। इसप्रकार समझकर आत्मा के सत्तावलोकन का प्रयत्न पहले किया था, उसके फलस्वरूप केवलदर्शन उपजता है, जो लोकालोक के सम्पूर्ण पदार्थों में भेद बिना, अनेकता बिना अभेद दृष्टि से देखता है।

(४) **अनन्तवीर्य-** सिद्ध में अनन्तवीर्य होता है, वह कहाँ से प्रकट हुआ? पहले मुनि अवस्था में आत्मा के भानपूर्वक घोर परीषह आने पर भी तथा सिंह, व्याघ्र, बिच्छू, देवकृत उपसर्ग क्षुधा, तृषा तथा स्त्री, पशु, अचेतनकृत उपसर्ग आने पर भी अनन्त गुणों को रचनेवाले वीर्य (शक्ति) से स्वयं के निरंजन परमात्मा के ध्यान में अचलित (अविचल) रहकर धीरज का अवलंबन लिया था, उस धैर्य के फलस्वरूप अनन्तवीर्य प्रकट होता है।

पाण्डवों पर घोर उपसर्ग हुआ, आग से सन्तप्त लोहे के कड़े पहनाये, गजकुमार को

अग्नि का (उपसर्ग) परीषह हुआ, तब भी बहुत उपसर्ग करनेवाले के प्रति क्रोध भी नहीं आया, उपसर्ग करनेवाले के प्रति द्वेष भी नहीं हुआ। उन्होंने निमित्त तथा पुण्य-पाप के आश्रय से रहित – ऐसे त्रिकाली स्वभाव की एकाग्रता करके धैर्य का सहारा लिया था। शास्त्र कहते हैं, इसलिए सहारा नहीं लिया था। पूर्व में कर्म बाँधे थे, इसलिए उदय आया – ऐसा विकल्प भी नहीं। धैर्य न रखें, तब नवीन कर्म बँधेंगे – ऐसा विकल्प नहीं है; किन्तु शुद्ध चैतन्यमूर्ति का अवलोकन वर्तता है, उस वीर्य की एकाग्रता पूर्णवीर्य प्रकट होने का कारण है।

जैसे दर्शन की एकाग्रता पूर्ण दर्शन का कारण है, ज्ञान की एकाग्रता पूर्ण ज्ञान का कारण है; उसीप्रकार परीषहों में वीर्य की एकाग्रता अनन्तवीर्य प्रकट होने का कारण है। 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसे ध्यान में अवलम्बन लिया था, उसके फलस्वरूप अनन्तवीर्य प्रकट हुआ था। केवलज्ञान लोकालोक को जानता है, तब भी खेद नहीं होता। यहाँ तो कोई जीव थोड़ा पढ़े तो सिर दुखने लगता है और सिद्ध लोकालोक को जानते हैं; अनंत पदार्थ, उनके द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानते हैं, अनन्त निगोद को, अनंत सिद्धों को, अनंत पुद्गल पदार्थों को जानते हैं; फिर भी वहाँ खेद का अभाव है – ऐसे वीर्यगुण को प्रकट किया है। केवलज्ञान की रचना को रचे – ऐसी अनन्त सामर्थ्य सिद्धदशा में प्रकटती है। इसप्रकार ज्ञानावरणी के अभाव से केवलज्ञान, दर्शनवारणी के अभाव से केवलदर्शन, मोहनीय के अभाव से सम्यक्त्व और अन्तराय के अभाव से अनन्तवीर्य, चार गुणों की बात की।

अब अघाति कर्म के अभाव से प्रकट होनेवाले चार गुणों की बात करते हैं।

(५) **सूक्ष्मत्व-** सिद्ध का अतीन्द्रिय स्वरूप केवलज्ञान गोचर है, इसलिए सिद्ध सूक्ष्म है। ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष अनन्त गुणों की दशा सहित केवलज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। राग द्वारा, निमित्त द्वारा नहीं जाना जा सकता, चार ज्ञान द्वारा भी परिपूर्ण नहीं जाना जा सकता; किन्तु केवलज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। निचली दशा में ऐसी प्रतीति हो सकती है। राग और पुण्य से आत्मा को जाना जाये – ऐसा नहीं है, किन्तु स्वसंवेदन अतीन्द्रिय ज्ञान से जाना जाता है – ऐसा है।

(६) **अवगाहनत्व-** जैसे एक दीपक में दूसरे दीपक का प्रकाश समा जाता है, उसी

प्रकार एक सिद्ध क्षेत्र में अनन्त सिद्ध संकर और व्यतिकर दोष के बिना रह सकें - ऐसा अवकाश देने का सामर्थ्य प्रकट हुआ - यह अवगाहना गुण है।

निचली दशा में एक जीव है, वहाँ उस स्थान में कर्म तथा दूसरे जीवों को अवगाहन देने की शक्ति है; फिर भी इससे कर्म वगैरह स्वयं को बाधा पहुँचायें - ऐसा है ही नहीं; उसीप्रकार स्वयं दूसरे के साथ मिश्रित नहीं होता। इसीप्रकार स्वयं स्वभाव के ध्यान की एकाग्रता करे, तब दूसरों को अवगाहन नहीं देता - ऐसा भी नहीं है और फिर राग-द्वेष, मन-वाणी होने पर भी उनके साथ एक नहीं हुआ है, स्वयं का स्वरूप भूला नहीं है। ऐसे स्वयं के अवगाहन गुणवाली आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक लीनता की और सिद्धदशा प्रकट की, वहाँ अवगाहन गुण प्रकट हुआ। उसके कारण से अनन्त सिद्ध एकक्षेत्र में रहने पर भी वे सिद्ध मिल नहीं जाते - यह संकरदोष रहितपना है और प्रत्येक सिद्ध साथ रहने पर भी स्वयं के स्वरूप से च्युत होकर दूसरे सिद्धरूप नहीं हो जाते, यह व्यतिकरदोष रहितपना है। ऐसा अवगाहना गुण सिद्ध में प्रकट हुआ है।

(७) **अगुरुलघुत्व-** यदि सिद्ध का स्वरूप सर्वथा भारी हो तो लोहे के पिण्ड की तरह सदा नीचे पड़ा रहे और जो सर्वथा हलका हो तो अकौआ के तूल की तरह (रुई के रेशे की तरह) उड़ता रहे अर्थात् निरन्तर घूमता रहे, लेकिन इसप्रकार नहीं है। सिद्ध लोकाग्र में जहाँ हैं, वहाँ स्थिर हैं। नीचे की दशा में भी जीवों का स्वभाव तो ऐसा ही है, किन्तु पर्याय में विपरीतता है; लेकिन स्वभाव में परिवर्तन (फेर) नहीं है। सिद्ध को पर्याय में अगुरुलघुत्व गुण प्रकट हो गया है।

(८) **अव्याबाध-** अव्याबाध किसप्रकार प्रकट हुआ? आत्मा स्वाभाविक वस्तु है; राग, द्वेष, खेद, पुण्य, पाप आदि भावों से रहित है। ऐसे सहजानंद स्वभाव की रुचि की, उसमें वीर्य-सामर्थ्य मिलाकर, जिस सुखरूपी अमृत का एकदेश अनुभव हुआ, उसके परिणामस्वरूप अव्याबाध अनंतसुख नाम का सिद्ध में आठवाँ गुण प्रकट होता है।

सिद्ध भी पहिले संसारी थे, उनको भी आकुलता थी। उस आकुलता की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि कर मुनिपना अंगीकार किया था। उस मुनिपने में खेद नहीं था, परीषह आये, पेट में शूल की बीमारी हुई - आदि अनेक कष्ट हुए, तब भी उन पर लक्ष्य नहीं था। सिद्ध का अर्थी शुद्धस्वभाव का आश्रय करता है, उसको खेद नहीं होता; किन्तु आनन्द मानता है। इसप्रकार आत्मा के आनन्द का एक अंश अनुभव किया

था, उसके फलस्वरूप साता-असाता की कल्पना से रहित अनाकुल आनन्द के फलस्वरूप अव्याबाध सुख प्राप्त करते हैं।

कोई मुनि आठ वर्ष की आयु में दीक्षा लेकर सिद्ध होते हैं और कोई करोड़ों वर्ष मुनि-अवस्था में रहकर सिद्ध होते हैं, तब भी उन मुनि को खेद नहीं होता। मुनि में ऐसा आनन्द धैर्यसहित होता है - ऐसी सहजदशा है।

जो चारित्र को कष्टदायक मानता है और कहता है कि मुनि ने कितने दु:ख सहन किये, वह देव-गुरु-शास्त्र की आशातना (अविनय) करता है, नव पदार्थों को नहीं समझता। शुद्ध आत्मा के अवलंबन से संवर-निर्जरा होती है और वह शांतिदायक है - ऐसा नहीं समझता। भोजन न करे, उसको लोग तप कहते हैं; वह तप नहीं है, इच्छा का निरोध यही तप है। मुनि सुखरूपी अमृत का स्वाद लेते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा - यह आह्लाद दशा है, पवित्र दशा है। उस रूप विशेष एकाग्रता होने से अव्याबाध गुण प्रकट होता है।

सिद्ध की व्याख्या करने से साधकपना तथा धर्म कैसा होता है? यह भी बताते हैं। धर्म शांतिदायक और आनन्ददायक होता है, लेकिन कष्टदायक नहीं हो सकता। सिद्ध में अनंत गुण हैं; लेकिन आठ कर्मों के अभाव से आठ गुण मध्यम रुचि के धारक शिष्यों के लिए बताये हैं।

अब विस्तार से मध्यम रुचि के धारक शिष्यों के लिए विशेष भेदनय के अवलम्बन से दूसरे गुण बताते हैं:-

गतिरहितत्व- मेरा स्वभाव गतिरहित है - ऐसी आत्मा के भानपूर्वक लीनता करने पर सिद्ध दशा प्रकटती है, उनको गति रहितत्वपना प्राप्त होता है। पश्चात् उनको गति में जन्म नहीं लेना पड़ता।

इन्द्रियरहितत्व- अतीन्द्रिय मेरा स्वभाव है - ऐसी दृष्टि की लीनतापूर्वक इन्द्रिय रहितत्वपना सिद्ध में प्रकट होता है।

शरीर रहितत्व- मेरा आत्मा त्रिकाल शरीररहित है - ऐसी श्रद्धा ज्ञान की लीनता करने से शरीररहितत्वपना सिद्ध में प्रकट होता है।

योगरहितत्व- मन-वचन-काय तो जड़ है, लेकिन उनके निमित्त से आत्मा के प्रदेश का कम्पन होना, यह भी मेरा स्वभाव नहीं - ऐसे भानपूर्वक लीनता से योग रहितत्वपना प्रकट होता है।

वेदरहितत्व- वर्तमान पर्याय में वेद परिणाम होने पर भी मेरा स्वभाव अवेदी है। मैं पुरुष, स्त्री, नपुंसक नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ - ऐसे भान और लीनता से वेद रहितत्वपना प्रकटता है।

कषायरहितत्व- मेरा स्वभाव कषायरहित है, मैं परिपूर्ण शुद्ध हूँ - ऐसे भान और लीनता से कषायरहितत्वपना प्रकटता है। भक्तों पर कष्ट पड़े और भगवान जन्म लें - ऐसा नहीं होता; क्योंकि उनको कषाय का अभाव है, केवलज्ञान में जानते हैं कि भक्त लोग भी शक्ति से परिपूर्ण हैं।

नामरहितत्व- जसाणी, संघवी, कोठारी, दोशी, पटेल आदि नाम आत्मा के नहीं होते। मिथ्यादृष्टि विपरीत मानता है। स्वभाव नामरहित है - ऐसे भान-लीनता द्वारा नाम रहितत्वपना प्रकटता हैं।

गोत्ररहितत्व- ऊँच-नीचपना मेरे स्वभाव में नहीं है - ऐसी दृष्टि और लीनता द्वारा गोत्र रहितत्वपना प्रकटता है।

आयुरहितत्व- मेरा आत्मा बगैर आयु का है - ऐसे भान और लीनतापूर्वक आयुरहितत्वपना प्रकटता है। सिद्ध को आयु नहीं होती। सादि और अनन्तकाल सिद्धदशा रहती है।

इसप्रकार सिद्धों के विशेष गुण कहे। वे संसारी जीवों में अथवा दूसरे द्रव्यों में नहीं होते।

अब छह द्रव्यों से सामान्यगुण होते हैं, वे सिद्ध में भी होते हैं; उसकी बात करते हैं:-

अस्तित्व- प्रत्येक द्रव्य इस गुण से सदा विद्यमान रहता है। जीव, परमाणु, आकाश, निगोद के जीव तथा सिद्ध जीवों में अर्थात् सब के अस्तित्व गुण है, इसलिए उसको सामान्य गुण कहते है।

वस्तुत्व- इस गुण से प्रत्येक द्रव्य स्वयं-स्वयं का प्रयोजनभूत कार्य करता है।

परमाणु-परमाणु का कार्य करता है, ज्ञानानंद स्वभाव स्वयं का कार्य करता है।

प्रमेयत्व- इस गुण के कारण से प्रत्येक द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय होता है। सिद्ध में प्रमेयत्व गुण है, इसलिए हमारे ज्ञान का विषय हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व वगैरह सामान्य गुण हैं। तीर्थंकर भगवान की देशनानुसार वीतरागी-शास्त्र रचे गये हैं, उन्हें उस अनुसार जानना।

अब संक्षेप रुचिवाले शिष्य को सिद्धों के गुण जानना हो तो विवक्षित अभेदनय से अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्य - ऐसे चार गुण सिद्ध में संक्षेप से जानना। मुद्दे की बात यह है कि ये चार गुण कहाँ से प्रकट हुए? आत्मा अनंत शक्ति का पिण्ड है, उसके अवलंबन से - ये चार गुण प्रकटते हैं - ऐसी श्रद्धा, ज्ञान करना चाहिए।

वह जीवात्मा- बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा - ऐसे तीन भेदों से तीन प्रकार हैं। ये तीन जीव की अवस्थायें हैं।

निज शुद्ध आत्मा के ज्ञान से प्रादुर्भूत जो पारमार्थिक सुख है, उससे विरुद्ध जो इन्द्रिय सुख है, उसमें जो आसक्त है; वह मिथ्यादृष्टि है। शुद्ध आत्मा का श्रद्धान नहीं करता और केवल इन्द्रियों का भरोसा करता है, वह मूढ़ है। इससे भिन्न पारमार्थिक सुख बहिरात्मा की श्रद्धा में नहीं बैठता है। स्वर्ग में, सेठाई में, पुण्य-पाप में सुख माने; वह बहिरात्मा है। धर्मीजीव इन्द्रपद तथा इन्द्रियों के सुख को तृण-समान मानता है। इन्द्रियाँ और उनके सुख के कारणभूत मैं नहीं हूँ, मैं चिदानन्द हूँ - ऐसी आत्मा की प्रतीति मिथ्यादृष्टि को नहीं होती। शब्दों में, इज्जत-आबरू में तथा विषयों में सुख है, इसप्रकार माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। जो जीव दया-दानादिक में और वर्त्तमान शुभ में लाभ मानता है, उसको भोग की तथा विषयों की इच्छा बनी रहती है। अन्तर (चैतन्य) शक्तिरूप स्वभाव है, उसमें हित नहीं मानता। पुण्य-पाप को अच्छा मानने में अनुकूल संयोगों को हितरूप तथा प्रतिकूल संयोगों को अहितरूप मानता है। उसको आत्मा का विश्वास नहीं होता। वह संसार में भ्रमण करता है।

मैं कौन हूँ? अथवा अशरीरी सिद्ध हुए, वे कहाँ से हुए? तीर्थंकर, जो कि चैतन्य की इतनी प्रशंसा करते हैं, वह ख्याल में नहीं आती, इसका कारण क्या? इसप्रकार

यथार्थ विचार कर शुद्ध आत्मा की रुचि करे, वह धर्मी है और रुचि न करे, वह बहिरात्मा अधर्मी है।

आत्मा देह से रहित है। देह पुद्गल-अजीव है। शरीर और विकाररहित आत्मा शुद्धद्रव्य है। उस आत्मद्रव्य की भावनारूप एकाग्रता जिसको नहीं, उसको शरीर और बाहर के पदार्थों में एकाग्रता हुए बिना नहीं रहती। शरीर, मन, वाणी वगैरह बाहर के संयोग ठीक हों तो ही ठीक रहता है। इसप्रकार अज्ञानी देह की भावना में एकरूप रहता है। बहिरात्मा कहता है:-

पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख हो घर में माया।
तीजा सुख कुलवंती नारी, चौथा सुख सुत आज्ञाकारी॥

इसप्रकार माननेवाले मूढ़ हैं। सुख आत्मा में होगा कि शरीर की निरोगता, स्त्री, पुत्र, धन में होगा? स्वयं की आत्मा के अतिरिक्त पर में सुख माननेवाले मूढ़ हैं और फिर धर्म के नाम पर अज्ञानी जीव कहते हैं कि वज्रवृषभनाराच संहनन, शरीर की हड्डियाँ मजबूत मिलें तो केवलज्ञान होता है, यह भी अज्ञानभाव है। अनंतकाल से आत्मा की परवाह नहीं की, अन्तर में शक्ति भरी हुई है, यह बात नहीं जमती। पर से भेद-विज्ञान करने के बदले राग के साथ एकत्वबुद्धि करता है, वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है।

स्वयं का आत्मा पर से भिन्न है। विकार मेरे स्वरूप में से निकल जाता है, इसलिए वह मेरा स्वरूप नहीं। मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ। ऐसी अन्तर में श्रद्धा-ज्ञान करे, उसको अन्तरात्मा कहते हैं।

आत्मा तो ज्ञानस्वभाव है, वह उपादेय है और राग-द्वेष के परिणाम - यह दोष है। दोष और आत्मा के बीच विवेक करनेवाला ज्ञान है। आत्मा का ज्ञान पर से विवेक करने की शक्तिवाला है, इसके बदले राग को और ज्ञान को एक माने, वह नयविभाग को नहीं जानता है। दया-दानादि के भाव ये व्यवहारनय से पर्याय में हैं, लेकिन निश्चय से स्वभाव में नहीं हैं। निश्चय से आत्मा शुद्धस्वभावी है। इसप्रकार दो नय से जिसे ज्ञान नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

सम्यग्ज्ञान की निर्मलपर्याय शुद्ध आत्मा उपादेय है और विकारी परिणाम हेय है। इसप्रकार जो ज्ञानपर्याय विवेक करती है, वह वर्त्तमान निर्मलपर्याय है, किन्तु त्रिकालीस्वरूप नहीं है।

वर्त्तमान पर्याय में हो रहे राग-द्वेष के परिणाम, वे क्षणिक हैं; लेकिन स्वभाव में नहीं हैं। इसप्रकार दोष को दोष जानना।

आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप है, वह त्रिकाली है। इसप्रकार त्रिकाली शुद्ध आत्मा का, वर्त्तमान भेद-ज्ञानरूप पर्याय का व वर्त्तमान दोषवाली पर्याय का - इन तीन का जिसको भेद-विज्ञान नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

इसप्रकार दोष अथवा विकार को जानना, दया-दानादि भक्ति के परिणामों को जानना - यह व्यवहार है, अशुद्धनय का विषय है। वर्त्तमान ज्ञान-पर्याय जितना आत्मा नहीं है, किन्तु आत्मा तो शुद्ध द्रव्य है - ऐसा जिसको भेद-ज्ञान नहीं वह मूढ़ है।

यहाँ अधर्म कैसे होता है? उसकी व्याख्या चलती है। अधर्म का स्वरूप जानकर द्रव्य के आश्रय से धर्म प्रकट कर सकता है। इसप्रकार श्रद्धा करना, वह धर्म है।

यहाँ तो कर्म की बात नहीं की। अज्ञानी जीव कहते हैं कि "जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि संसारी जीव आठ कर्मों से भ्रमण करते हैं।" भाई! कर्म तो जड़ है, जड़कर्म से आत्मा भ्रमण नहीं करता। जो जगत की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि नहीं करता, वह भ्रमण करता है। पुण्य-पाप के परिणाम दोष हैं और दोषरहित आत्मा शुद्ध है और उसका भेद-ज्ञान एक समय की पर्याय है, त्रिकालस्वरूप नहीं है - ऐसा तीन का भेद-ज्ञान जिसको नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

जैसे व्यापारी बहियाँ तपासता है, उसीप्रकार स्वयं की आत्मा को तपासना चाहिए। अनादि से जीव अधर्म का आचरण कैसे करता है? हे आत्मन्! तूने क्यों भ्रमण किया? तेरे में भेद-ज्ञान दशा प्रकट करने की सामर्थ्य है। वह ज्ञान कैसे प्रकट हो, उसकी खबर नहीं है, वही बहिरात्मा है। वर्त्तमान में दोष है, वह विकार है, अशुद्ध निश्चयनय का विषय है। दोष तथा त्रिकाली स्वभाव का भेद-ज्ञान कर जाननेवाली ज्ञानपर्याय, वह एकदेश शुद्ध निश्चयनय का विषय है और दोषरहित शुद्ध आत्मा वह परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है। इसप्रकार भेद करके नहीं जानता, वह मिथ्यादृष्टि है।

तुझे पर से भेद-ज्ञान नहीं है, इसलिए पर से एकत्व-ज्ञान है, इसकारण भ्रमण करता है। आत्मा निर्दोष त्रिकाल है। पुण्य-पाप यह दोष है और उसका भेद-ज्ञान वह 'चित्त' है। यह जैसा है, वैसी प्रतीति में नहीं आती, इसलिए भ्रमण करता है। वर्त्तमान में जो

दोष होता है, वह पर से होता है – इसप्रकार जो मानता है, उसको दोष का (अपराध) ज्ञान नहीं है। और मैं भेद-ज्ञान नहीं करता, इसलिए मुझको ज्ञान नहीं होता – इसप्रकार नहीं मानता, कर्म मन्द पड़ने से ज्ञान होता है – ऐसा माननेवाले को चित् का ज्ञान नहीं है। इस रीति से जिसको त्रिकालीस्वरूप 'चित्' और दोष का ज्ञान नहीं है, वह भ्रमण करता है।

अथवा वीतराग भगवान द्वारा कहे हुए नव पदार्थों (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष) के स्वरूप का परस्पर अपेक्षा सहित नय के विभाग से जिसको श्रद्धा-ज्ञान नहीं, वह बहिरात्मा है। पुण्य पाप होता है, वह आस्रव है, संवर नहीं है। निर्दोष स्वभाव के आश्रय से संवर-निर्जरा होती है। वस्तु त्रिकाल है, निमित्त पर है, राग स्वयं से होता है, साधक दशा में व्यवहार आता है; किन्तु राग से कल्याण नहीं होता, इस अपेक्षावाला ज्ञान जिसको नहीं, उसका कल्याण नहीं होता।

जीवों ने प्रेमपूर्वक तत्त्व सुना नहीं, पैसे में रुचि होती है, तत्त्व में रुचि नहीं होती। पैसा, हीरा, माणिक वगैरह को जानता है। स्वयं, स्वयं को नहीं जानता, स्वयं को जाननेवाला आत्मा है। उसको (जीव को) आत्मा का माहात्म्य नहीं आता, पर तथा पैसे वगैरह का माहात्म्य आता है। ''तू (पैसा) ठीक है, किन्तु तेरे को जाननेवाला मैं नहीं हूँ।'' इसप्रकार अज्ञानी जीव पर को माहात्म्य देता है। पैसा ज्ञान से जाना जाता है, इसलिए ज्ञान की कीमत करना चाहिए। इसके बदले में पैसे की कीमत करे, वह मिथ्यादृष्टि है। यथार्थ में ज्ञान की महिमा है, ज्ञान के बिना सब शून्य है। जगत में अनन्त द्रव्य हैं, वे स्वयं के ज्ञान से भिन्न हैं, वे स्वयं आत्मा नहीं हैं; स्वयं (आत्मा) के कारण नहीं हैं, उनके कारण से ज्ञान नहीं होता; स्वयं के ज्ञानस्वभाव के कारण से ज्ञान होता है – यह बात उसको नहीं जमती।

'चित' – विवेक, ज्ञान यह पर्याय है और मैं आत्मा हूँ। यह विकार है और मैं निर्दोष आत्मा हूँ। ज्ञानपर्याय एक समय की है और मैं त्रिकाली हूँ। इसप्रकार विवेक किये बिना जीव मिथ्यादृष्टि रहता है। यहाँ निश्चय और व्यवहार से जिसको पदार्थों का ज्ञान नहीं है, उसको बहिरात्मा कहते हैं।

बहिरात्मा से भिन्न लक्षणवाला अन्तरात्मा है, उसे तीनों का ज्ञान विद्यमान है। (१) त्रिकाली स्वभाव (२) चित्-वर्त्तमान भेद-ज्ञान की पर्याय (३) वर्त्तमान दोष।

इसप्रकार तीनों का ज्ञान वर्तता है। वह जानता है कि जड़ की पर्याय जड़ के कारण से होती है, आत्मा जड़ का कर्त्ता नहीं है, राग घटता है, उसको जानता है, अन्य कुछ करता नहीं है। बाह्य के जड़ पदार्थों की अवस्था स्वकाल में होती है; उसे कौन करे, कौन रोके? मंदिरादि जड़पदार्थों के संयोग स्वकाल में होते हैं।

अज्ञानी जीव को मैं पर से भिन्न हूँ - यह बात नहीं जमती। वह मानता है कि जड़ पदार्थ की मंदिरादि की अवस्था हमारे से होती है। और हम न करना चाहें तो नहीं होती, यह सब मिथ्यामान्यता है। जड़ पदार्थों की अवस्था पुद्गल परावर्तन के नियमानुसार स्वतन्त्र होती है, ऐसी जिसको खबर नहीं है और राग को धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और जिसको जड़, चेतन के बीच विवेक वर्तता है और पुण्य यह स्वभाव नहीं; किन्तु विकार है, ऐसे विवेक का भान है, वह अन्तरात्मा है। इस रीति से बहिरात्मा और अन्तरात्मा के लक्षण जानना चाहिए।

अब परमात्मा का लक्षण कहते हैं। परमात्मा कोई दूसरा नहीं है, लेकिन यह आत्मा स्वयं (अपना) भान करके परमात्मा होता है। परमात्मदशा का लक्षण सम्पूर्ण तथा निर्मल केवलज्ञान द्वारा समस्त लोकालोक को जानना होता है, इसलिए उसे व्यापक कहा जाता है। अतएव परमात्मा को विष्णु कहते हैं। विष्णु कोई जगत को रचनेवाला अथवा व्यापक नहीं है, किन्तु स्वयं परमात्मदशा को प्राप्त होने से विष्णु कहा जाता है। कर्म गये, इसलिए परमात्मा कहेंगे - ऐसा नहीं है, किन्तु स्वयं परमात्मा हुआ है, तब कर्म गये - ऐसा है।

इसप्रकार बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा - ऐसी तीन प्रकार से बात की। इसे संक्षिप्त में इसप्रकार से समझा जा सकता है।

(१) **बहिरात्मा-** आत्मा निर्दोष ज्ञानस्वभावी है। उसकी दृष्टि छोड़कर शरीर, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब को अपना मानता है तथा पुण्य-पाप को अपना मानता है, वह बहिरात्मा है। जिसको इन्द्रियों के विषयों में प्रेम है तथा पुण्य-पाप में रुचि है, उसको आत्मा की रुचि नहीं है, वह अज्ञानी है। इस जगत में छह द्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, जीव की वर्त्तमान दशा भी स्वतंत्र है, वह कर्म के कारण से नहीं है। पुण्य-पाप जितना ही अपने को मानता है और त्रिकालीस्वभाव को स्वीकार नहीं करता है - ऐसा जीव

बहिरात्मा है।

(२) **अन्तरात्मा**- आत्मा में विकार होता है, वह क्षणिक है, त्रिकाली स्वभाव में वह नहीं है। स्वभाव तो नित्य है और वही आदरणीय है। इसप्रकार जिसको स्वभाव का आदर वर्तता है और राग का ज्ञान वर्तता है, वह अन्तरात्मा है।

(३) **परमात्मा**- शुद्धस्वभाव का भान करके परिपूर्ण ज्ञान और आनन्ददशा प्रकट करता है, वह परमात्मा है।

बहिरात्मपना अधर्मदशा है, अन्तरात्मपना धर्मदशा है और परमात्मपना वह धर्म की फलदशा है।

यह द्रव्यसंग्रह नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने बनाया है, वे कहते हैं कि आत्मा तीन प्रकार का है। उसमें मिथ्यादृष्टि अथवा बहिरात्मा संख्या की दृष्टि से अनंत हैं। मनुष्य में संख्यात और स्वर्ग-नरक में और तिर्यंचों में अन्तरात्मा असंख्यात हैं, इसप्रकार कु ल असंख्यात अन्तरात्मायें हैं और सिद्ध परमात्मा की संख्या अनन्त है।

अब मिथ्यादृष्टि भव्यजीव की बात करते हैं। ऐसे जीव में बहिरात्मपना व्यक्तरूप से है। शरीर वगैरह बाहर के पदार्थों को मैं त्याग करता हूँ, ग्रहण करता हूँ, मैं हूँ, तब बाहर की व्यवस्था चलती है और वह मुझे ठीक लगती है - ऐसा अभिमान प्रकटरूप से विद्यमान है। फिर भी शक्तिरूप से तो उसको अन्तरात्मपना और परमात्मपना वर्तता है। आत्मा शुद्धचैतन्यमूर्ति है - ऐसा ज्ञान करके अन्तरात्मपना प्रकट करने की शक्ति तथा वैसे भानसहित स्थिरता करके पूर्ण परमात्मा होने की शक्ति भव्य मिथ्यादृष्टि में होती है। जिसप्रकार दियासलाई की तीली में अग्नि प्रकट होने की शक्ति है, उसीप्रकार आत्मा में केवलज्ञान की शक्ति भरी हुई है, वह अन्तर में (चैतन्य में) एकाग्र होने से प्रकट होती है।

कुछ लोग केवलज्ञान को सत्तारूप कहते हैं, लेकिन यह बात सत्य नहीं है। केवलज्ञान प्रकट है, लेकिन उस पर कर्म के बादल ढके हुए हैं - यह बात असत्य है। संसारी छद्मस्थ के केवलज्ञान प्रकटरूप से नहीं है, किन्तु शक्तिरूप से हैं। छोटी पीपल में चरपरेपन की शक्ति भरी हुई है, वह पीपल सीधी मात्र देखने से चरपरी नहीं लगती, लेकिन चरपरापन अन्दर है, उसमें से वह व्यक्त होता है। पत्थर के कारण

चरपरापन नहीं आता, पत्थर और पीपल एक-दूसरे को छूते नहीं हैं, दोनों वस्तुयें भिन्न हैं। पत्थर की क्रिया पत्थर में होती है; छोटी पीपल, छोटी पीपल में रहकर काम करती है। दोनों के बीच अन्योन्याभाव है, इसलिए दोनों भिन्न रहकर काम करते हैं। आत्मा में केवलज्ञान शक्ति भरी हुई है। अन्तर में एकाग्र होता है, तब धर्म होता है और पूर्णदशा प्रकट करता है, तब परमात्मा होता है। आत्मा का 'ज्ञ' और आनन्दस्वभाव है – उसमें से परमात्मदशा प्रकट होती है, वह बाहर से नहीं होती है।

तथा भव्य मिथ्यादृष्टि जीव भावी नैगमनय की अपेक्षा से अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्तरूप से भी है। जैसे राजा का पुत्र भविष्य में राजा होगा, उसका आरोप वर्तमान में उसके लिए राजा की हैसियत से करते हैं। उसीप्रकार भव्यजीव को स्वयं में शक्तिस्वभाव मौजूद है, उसके आश्रय से अन्तरात्मपना और परमात्मपना प्रकट करेगा, उसका आरोप वर्त्तमान में करते हैं, वह भावी नैगमनय से है। आत्मा नित्य होने पर भी नई-नई अवस्था धारण करता है, सर्वथा कूटस्थ नहीं है। यदि आत्मा बदलता ही न हो, तब वर्त्तमान में नया-नया कार्य (पर्याय) नहीं होता और यदि आत्मा मात्र बदलता ही रहे, तब दु:ख-सुख भोगनेवाला नहीं रहेगा, इसलिए आत्मा नित्य और अनित्य है। इसप्रकार जो विश्वास करते हैं, वे भविष्य में अन्तरात्मा और परमात्मा होते हैं, उसका आरोप वर्तमान में करते हैं।

देखो! आत्मा में केवलज्ञान शक्तिरूप से है, लेकिन सत्तारूप से नहीं है – यह बात सिद्ध करते हैं। कमल की छोटी कली सूर्य के निमित्त से खिलती है, वह सूर्य के कारण नहीं खिलती है। यदि सूर्य के कारण खिलती हो तो लकड़ी का बना हुआ कमल भी खिलना चाहिए, किन्तु उसमें खिलने की शक्ति नहीं है, इसलिए नहीं खिलता। कमल की कली में अन्तर्शक्ति है, इसलिए वह पूर्णकमलरूप में खिल उठती है, उसीप्रकार आत्मा में अन्तरात्मा और परमात्मा होने की शक्ति है, वह खिल उठती है; किन्तु वह बाहर की क्रिया से अथवा पुण्य की क्रिया से नहीं खिलती है।

इस पर से निम्नलिखित बातें सिद्ध होती हैं। (१) आत्मा द्रव्य है, अवस्था में बदलता होने पर भी अन्तर में शक्तियाँ नित्य रहती हैं। (२) स्वयं की शक्तियों का भान नहीं होने से और बहिर्मुख दृष्टि होने से जीव की वर्तमान पर्याय में दु:ख है। (३) वह दु:ख वर्तमान में होने पर भी अन्तर्मुखशक्ति का भरोसा करता है, तब दु:ख दूर होकर

सुख उत्पन्न होता है। अधर्मदशा बदल कर धर्मदशा प्रकटती है और स्वयं नित्य रहता है। (४) वह धर्मदशा उसके अवलंबन से होती है। स्वयं की शक्ति के अन्तर अवलंबन से धर्मदशा प्रकटती है, किन्तु देह की क्रिया से अथवा पुण्य-पाप की क्रिया से प्रकट नहीं होती है।

इसप्रकार द्रव्य सिद्ध किया, वर्त्तमान दु:ख बताया, वह बदल सकता है और धर्म तथा सुखदशा हो सकती है और वह अन्तर के आधार से होती है, किन्तु बाहर से नहीं होती है – इसप्रकार बताया।

इन बातों की यथार्थ जानकारी के बिना वीर्य कहाँ से स्फुरण हो? इस जगत में छह वस्तुयें हैं। उनमें जीववस्तु है और वह स्वतंत्ररूप से कायम (स्थिर) रहती है। सोनेवाला (स्वर्ण) पत्थर आता है, उसमें से प्रयोग द्वारा सोना पृथक् हो सकता है। उसीप्रकार भव्यजीव स्वयं के आत्मा में स्थिरता के प्रयोग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। अन्तर-उपादान के आधार से काम होता है। उप – समीप, आदान – ग्रहण करना। भव्य मिथ्यादृष्टि को वर्त्तमान में स्वयं की शक्ति का विश्वास नहीं है, किन्तु भविष्य में स्वयं की शक्ति का विश्वास करके अन्तरात्मा और परमात्मा होगा – ऐसा ज्ञानी जानता है। वर्त्तमान में मिथ्यादृष्टि को प्रकट बहिरात्मपना होने पर भी भविष्य में वह अन्तरात्मपना और परमात्मपना प्रकट करेगा। इस अपेक्षा से वर्त्तमान में उसको अन्तरात्मा और परमात्मा आरोप से कह देना, वह भावी नैगमनय से है – इसप्रकार ज्ञानी जानता है।

अब अभव्य की बात करते हैं, मिथ्यादृष्टि अभव्यजीव व्यक्तिरूप से बहिरात्मा है। अन्तर शुद्धस्वरूप है, उसको नहीं मानता है; पुण्य-पाप जितना ही आत्मा को मानता है। शक्ति से तो वह भी अन्तरात्मा और परमात्मा है, लेकिन उसकी व्यक्ति नहीं होती है। जैसे अंध पाषाण में से सोना पृथक् नहीं होता है, बंध्या को पुत्र नहीं होता; उसीप्रकार अभव्य कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं करता है। भव्य और अभव्य अनादि से हैं, यह सर्वज्ञ ने देखा है, किसी ने उनको किया नहीं है; जो है उसको कोई करता नहीं है और जो नहीं होता, वह नया नहीं होता है।

किसी लकड़ी को पानी में तैरने का प्रसंग न आया हो और बाहर में रहकर वह जल जाती है, फिर भी उसका तैरने का स्वभाव जाता नहीं है। उसीप्रकार अभव्य कभी तिरता नहीं है, संसार से पार नहीं होता, फिर भी तिरने का स्वभाव तो उसमें शक्तिरूप

से है, किन्तु प्रकटरूप में धर्म अथवा मोक्षदशा वह प्रकट करे – ऐसा नहीं होता है। बठर मूँग लाखमन पानी से भी नहीं सीझती (पकती) है; उसीप्रकार तीर्थंकरों के उपदेश की बहुलता मिले, तब भी अभव्यजीव मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं करता है। क्रियाकाण्ड बहुत करता है और मर जाता है, किन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करता है, इसलिए भावी नैगमनय से भी अभव्यजीव को अन्तरात्मा और परमात्मा नहीं कहा जा सकता। इसप्रकार भव्य-अभव्य का ज्ञान कराया।

यह जीव द्रव्य का अधिकार है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा – इसप्रकार जीव की तीन अवस्थायें हैं। जो जीव पर को अपना मानता है, पुण्य-पाप को अपना मानता है, वह बहिरात्मा है। भव्य मिथ्यादृष्टि है, उसको बहिरात्मपना है; किन्तु शक्ति तो अन्तरात्मा और परमात्मारूप से होने की है। वह जीव स्वयं की शक्ति का भरोसा करके भविष्य में अन्तरात्मा और परमात्मा होगा। इसलिए भावी नैगमनय से वर्त्तमान में अन्तरात्मा और परमात्मा का आरोप किया जा सकता है। एक समय में एक जीव की तीनों अवस्थायें साथ में नहीं होती है।

(१) जो जीव केवलज्ञान शक्तिरूप से मानता है, उसकी दृष्टि स्वभाव-सन्मुख होती है, वह अन्तर की ओर झुकता है। उसको मोक्षमार्ग की शुरूआत हुई है।

(२) जो जीव केवलज्ञान को सत्तारूप से मानता है, उसकी दृष्टि आवरण दूर करने पर रहेगी। कारण कि वह मानता है कि कर्म का आवरण दूर करने से केवलज्ञान प्रकट होगा। ऐसी मान्यता से उसकी दृष्टि व्यवहार पर रहेगी। इसलिए ऐसी मान्यतावाले को कभी धर्म नहीं होता है।

(३) लेकिन जो जीव केवलज्ञान को शक्तिरूप से मानता है, वह विचारता है कि वर्तमानदशा पूर्ण नहीं है, किन्तु पूर्ण होने का कारण तो अन्तर में है। इससे उसका झुकाव अन्तर की ओर जायेगा और इसप्रकार अन्तर की ओर झुकने के लिए कहनेवाले सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को वह मानता है तथा इससे विपरीत कहनेवाले को वह नहीं मानता है।

प्रत्येक जीव में केवलज्ञान की शक्ति है, ऐसी शक्तिवाले अनन्त प्रभु हैं। मैं स्वयं भी भगवान हूँ। मेरा भगवान भी मेरे आश्रय से प्रकट होता है, किन्तु पर ओर के झुकाव से वह प्रकट नहीं होता है। देव, गुरु, शास्त्र ऐसा कहते हैं और वह वैसा मानता है।

इसप्रकार भव्य जीव में योग्यता होने से भावी नैगमनय से वर्तमान में उसे अन्तरात्मा और परमात्मा कह सकते हैं।

अब अभव्य की बात करते हैं। अभव्य मिथ्यादृष्टि वर्त्तमान में बहिरात्मा है। शक्ति से वह भी अन्तरात्मा और परमात्मारूप से है, लेकिन वह कभी व्यक्त करने का नहीं है। इसलिए भावी नैगमनय से उसको अन्तरात्मा अथवा परमात्मा नहीं कह सकते हैं। अभव्य क्रियाकांड करता है, अन्तर शुद्धस्वभाव की बात उसको नहीं रुचती – ऐसी अभव्य की जाति है। इसप्रकार उसकी केवल पहचान करायी है।

जैन अर्थात् जीतनेवाला– वस्तु–शक्ति की परिपूर्णता की प्रतीति और स्थिरता करता है, वह जैन है। वस्तु की शक्ति अर्थात् आत्मा में केवलज्ञान शक्ति भरी है, जो उसका भरोसा करता है, वह जैन है।

समयसार में ४७ शक्तियों का वर्णन है, उनमें एक सर्वज्ञशक्ति कही है। वह आत्मद्रव्य में त्रिकाल विद्यमान है, उसके भरोसे मोक्षमार्ग प्रकटता है। इसप्रकार माननेवाले की दृष्टि अन्तर झुकती है। और रागवाली अवस्था में ऐसी शक्ति माननेवाले को सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति राग होता है और कुदेवादि के प्रति राग दूर हो जाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय केवलज्ञान सत्तारूप से मानता है – यह महान भूल है। केवलज्ञान प्रकटरूप है, किन्तु कर्म के बादलों में ढका हुआ मानते हैं और आवरण दूर करना चाहते हैं, इसलिए उसका वजन कर्म दूर करने पर और व्यवहार पर जाता है। यशोविजयजी कहते हैं कि जो व्यवहारी है, वह सम्यग्दृष्टि है – यह महान भूल है।

कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि निश्चयनयाश्रित मुनिवर निर्वाण की प्राप्ति करते हैं, जिनको निश्चयशक्ति का आश्रय है, वे मुक्ति प्राप्त करते हैं। स्वभाव के आश्रय से वीतरागता प्रकटती है। इसप्रकार दोनों के शास्त्रों में महान अन्तर है। इसलिए जीव को निर्णय करना चाहिए।

अब **शंकाकार** कहते हैं कि अभव्यजीव में परमात्मदशा शक्तिरूप से रहती है, तब अभव्य कैसे हो? सर्व जीव सिद्धसमान हैं, तब फिर उनको अभव्य क्यों कहा जाये?

उत्तर – अभव्य जीव को भी उसके आत्मा में तो परमात्मा होने की शक्ति है, किन्तु उसको उसका विश्वास नहीं होता है, उसका ज्ञान राग में अटकता है; अतएव उसको

अनंतज्ञान-दर्शन-आनंद-वीर्य प्रकट नहीं होते हैं। जैसे अंध पाषाण में से सोना पृथक् नहीं होता, उसीप्रकार अभव्य को कभी धर्म नहीं होता है। उसकी शक्ति केवलज्ञानादि की है, वह नहीं जाती है।

शुद्ध नय से परमात्मारूप शक्ति तो भव्य-अभव्य दोनों में समान है। यदि अभव्य जीव में केवलज्ञानरूप शक्ति मानने में नहीं आये तो केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं होता। स्थानकवासी सम्प्रदाय में एक साधु के साथ बातचीत होने से उनने कहा कि "अभव्य को ज्ञानावरणीय की तीन प्रकृतियाँ होती हैं। उसको मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान कभी प्रकट नहीं होता है। इसलिए उसको मन:पर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय प्रकृति नहीं हो सकती - ऐसा उन्होंने तर्क दिया।" लेकिन यह बात असत्य है।

भव्य अथवा अभव्य सभी को ज्ञानावरणीय की पाँच प्रकृतियाँ होती हैं और फिर वह साधु ऐसा कहते हैं कि अभव्य को अनादि से मोहनीय की २६ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। कारण कि अभव्य को सम्यग्दर्शन कभी होता नहीं है और भव्य को सम्यग्दर्शन होता है, इसलिए सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय मिलकर २८ प्रकृतियाँ होती हैं। कारण कि वे प्रकृतियाँ होवें तो उनका नाश कर सम्यक्त्व प्रकट करता है। इसी के अनुसार पुस्तक भी प्रकाशित हुई, किन्तु यह बात असत्य है। भव्य अथवा अभव्य दोनों को २६ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं और भव्य सादि मिथ्यादृष्टि की २८ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं; क्योंकि एकबार सम्यग्दर्शन हुआ हो, उस दर्शन से तीन (अविद्धमिथ्यात्वप्रकृति के) टुकड़े हो जाने से २८ प्रकृतियाँ होती हैं - इसप्रकार समझना चाहिए। इसप्रकार भव्य-अभव्य दोनों के केवलज्ञान शक्तिरूप से है। भव्य-अभव्य के भेद अशुद्धनय से हैं।

जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि में तीन प्रकार आत्मा का नयविभाग से वर्णन किया, उसीप्रकार बाकी के तेरह गुणस्थानों में विचार करना। बहिरात्मा की अवस्था के समय अन्तरात्मा तथा परमात्मा शक्तिरूप से रहता है तथा भावी नैगमनय से व्यक्तिरूप समझना चाहिए।

अब अन्तरात्मा का कथन करते हैं। "मैं आत्मा शुद्ध हूँ, ज्ञाता हूँ, कर्म-शरीर जड़ है और दया-दानादि के भाव विकार हैं, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है"- इसप्रकार भान हुआ, वह अन्तरात्मा है। "मेरा स्वरूप मेरे में है, परज्ञेय पर में हैं। पर्याय में होता हुआ राग भी व्यवहारज्ञेय है, निश्चयज्ञेय स्वयं है"-ऐसी निर्विकल्प प्रतीति हुई,

उसको अन्तरात्मा कहते हैं। वह अन्तरात्मा भूतपूर्वन्याय से बहिरात्मा है। जैसे घी का घड़ा- पहले घी भरा हुआ था, वर्तमान में घी नहीं होने पर भी घी से पहिचाना जाता है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि पहिले बहिरात्मा था, इसलिए भूतपूर्वन्याय से बहिरात्मा कहा जाता है।

अब परमात्मा की बात करते हैं। परमात्मा को अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा कहना - ये दोनों भूतपूर्वनय से कहे जाते हैं। जिसको परमात्मपना प्रकट हुआ है, वह भविष्य में भी परमात्मा रहेगा, इससे शक्ति खाली हो गई है - ऐसा नहीं है। ऐसी की ऐसी दशा अथवा इसीप्रकार की दशा भविष्य में रहेगी। इसप्रकार त्रिकालद्रव्य के साथ संधि करके बात कही है।

और परमात्मस्वरूप शक्तिरूप से है तथा भावी नैगमनय से सिद्धसमान वर्तमानदशा में कह सकते हैं। जैसे लींडी पीपल में तीखापन (चरपरापन) शक्ति से भरा हुआ है, उसमें से वह व्यक्त होता है। जिसको अन्तरशक्ति का विश्वास आया है, उसको परमात्मपना प्रकट होगा, उसको वर्त्तमान में आरोप से सिद्ध कह दिया जाता है।

उसका सार निम्न प्रकार है। जीव की पर्याय में तीन भेद हैं - इनमें एक समय में एक पर्याय प्रकटरूप से होती है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उनमें भव्य और अभव्य - ऐसे दो भेद बताये। भव्य मिथ्यादृष्टि को वर्तमान में प्रकटरूप से बहिरात्मपना है और अन्तरात्मपना तथा परमात्मपना शक्तिरूप से है और भावी नैगमनय से अन्तरात्मपना तथा परमात्मपना कह सकते हैं। अभव्य मिथ्यादृष्टि को वर्त्तमान में प्रकटपने बहिरात्मपना है और अन्तरात्मपना तथा परमात्मपना शक्तिरूप से है; किन्तु भविष्य में प्रकट नहीं करेगा, इसलिए भावी नैगमनय से अन्तरात्मा तथा परमात्मा नहीं कह सकते हैं।

अन्तरात्मा को वर्त्तमान में आत्मा का भान है, इससे प्रकट अन्तरात्मा है, शक्तिरूप से परमात्मा है। भूतपूर्वन्याय से बहिरात्मा कह सकते हैं और भावी नैगमनय से परमात्मा कह सकते हैं। परमात्मा है, वह शक्ति और व्यक्तरूप से परमात्मा है और भूतपूर्वन्याय से बहिरात्मा और अन्तरात्मा कह सकते हैं, भविष्य का आरोप नहीं है। इसप्रकार त्रिकालीद्रव्य सिद्ध किया, पर्याय में परिवर्तन बताया, शक्तिस्वभाव बताया, मिथ्यादृष्टि

को वर्तमान में बहिरात्मपना बताया, वह परिवर्तन कर अन्तरात्मपना प्रकट कर सकता है, यह बताया और कितना प्रकट करना शेष है – ऐसा भी ज्ञान कराया।

उपर्युक्त कथन से निम्न बातों का निर्णय होता है:–

(१) अनेक लोग देव-गुरु-शास्त्र से तथा उनके प्रति राग से धर्म मानते हैं, यह बात झूठी ठहरती है। व्यवहार से निश्चय प्रकटता है – यह बात असत्य ठहरती है।

(२) प्रथम व्यवहार होता है और बाद में निश्चय प्रकटता है – ऐसा कुछ लोग मानते हैं, यह बात असत्य है। शक्ति की प्रतीति करे, तब धर्म प्रकटता है। उससमय जो राग-द्वेष होता है, उसको व्यवहार कहते हैं।

(३) अध्यात्मदृष्टि में मुख्य वह निश्चय है और गौण वह व्यवहार है, यह बात सिद्ध होती है।

(४) आत्मा में अंतरज्ञानशक्ति भरी है – ऐसा स्वीकार करने से आत्मा में केवलज्ञान सत्तारूप है – इस बात का निषेध होता है। इसप्रकार आत्मा में शक्ति भरी हुई है, जीव ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करता है, तब अन्तरात्मा होकर पूर्ण परमात्मा होता है।

अब तीन भेदों को गुणस्थान में नियोजित करते हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र – इन तीन गुणस्थान में तारतम्य न्यूनाधिकभाव से बहिरात्मपना जानना चाहिए। अविरत नाम के चौथे गुणस्थानों से अन्तरात्मा जानना। आत्मा शुद्धचिदानंद है – ऐसे भानवाले चौथे गुणस्थान में असंख्य प्रकार हैं। इस भूमिका में किसी को लड़ाई का परिणाम होता है, विषयों में रत दिखता है, फिर भी स्वभाव की रुचि हटती नहीं है, उसे जघन्य अन्तरात्मा जानना और बारहवें गुणस्थानवाले जीव को उत्कृष्ट अन्तरात्मा जानना। बीचवाले मध्यम अन्तरात्मा हैं। तेरहवें गुणस्थान की सयोगीदशा और चौदहवें गुणस्थान की अयोगीदशा, वे विवक्षित एकदेश शुद्धनय से सिद्धसमान हैं।

अब हेय-उपादेय की बात करते हैं। शरीर और पुण्य से धर्म मानता है, ऐसा बहिरात्मपना छोड़ने जैसा है। और सिद्ध के अनन्त सुख का साधन अन्तरात्मा है, इसलिए अन्तरात्मा उपादेय है और पूर्णपरमात्मा साक्षात् उपादेय है।

❑❑❑

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-१५

इसके पश्चात्, यद्यपि शुद्ध-बुद्ध-एक स्वभाव जिसका है, वैसा परमात्मद्रव्य उपादेय है तो भी हेयरूप अजीव द्रव्य का आठ गाथाओं द्वारा व्याख्यान करते हैं। किसलिए? प्रथम हेयतत्त्व का परिज्ञान होने पर फिर उपादेय तत्त्व का स्वीकार होता है, इसकारण से। वह व्याख्यान इसप्रकार है:-

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु (हु)॥१५॥

अजीवः पुनः ज्ञेयः पुद्गलः धर्मः अधर्मः आकाशम्।
कालः पुद्गलः मूर्त्तः रूपादिगुणः अमूर्त्ताः शेषाः तु॥१५॥

मूर्त पुद्गल किन्तु धर्माधर्म नभ अर काल भी।
मूर्तिक नहीं हैं तथापि ये सभी द्रव्य अजीव हैं॥१५॥

गाथार्थ :- पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल - ये अजीव द्रव्य जानना, रूपादि गुण का धारक पुद्गल मूर्त द्रव्य है और शेष (चार) अमूर्त हैं।

टीका :- **अज्जीवो पुण णेयो** तथा अजीव जानने योग्य है। सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन - ये दोनों शुद्ध उपयोग हैं, मतिज्ञानादिरूप विकल-अशुद्ध उपयोग है - इसप्रकार उपयोग दो प्रकार है। अव्यक्त सुख-दु:ख के अनुभव रूप कर्मफल चेतना है और मतिज्ञान से मन:पर्ययज्ञान पर्यंत अशुद्धोपयोगरूप ऐसी, स्व ईहापूर्वक इष्ट-अनिष्ट विकल्परूप से विशेष राग-द्वेष के परिणमन रूप कर्मचेतना है, केवलज्ञान रूप शुद्धचेतना है। इसप्रकार उपर्युक्त प्रकार उपयोग और चेतना जिसमें नहीं है, वह अजीव है - ऐसा जानना; **पुण** पश्चात् अर्थात् जीव अधिकार के पश्चात् **पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं कालो** और वह (अजीव) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य के भेद से पाँच प्रकार का है।

पूरण और गलन का स्वभाव होने से पुद्गल कहलाता है। गति, स्थिति, अवगाह और वर्तना (हेतुरूप) लक्षणयुक्त (क्रमपूर्वक) धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य हैं। **पुग्गल मुत्तो** पुद्गल मूर्त है। किसलिए? **रूवादिगुणो** रूपादि गुणयुक्त है, इसलिए। **अमुत्ति सेसा दु** पुद्गल के अतिरिक्त शेष चार द्रव्य रूपादि गुण रहित होने से अमूर्त

हैं। वह इसप्रकार–

जैसे अनंतज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य – ये चारों गुण सर्व जीवों में सामान्य हैं; वैसे ही रूप, रस, गंध और स्पर्श – ये चारों गुण सर्व पुद्गलों में सामान्य हैं और जिसप्रकार शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावयुक्त सिद्ध जीव में अनंतचतुष्टय अतीन्द्रिय है; उसीप्रकार शुद्ध पुद्गल परमाणु द्रव्य में रूपादि चतुष्टय अतीन्द्रिय है। जिसप्रकार रागादि स्नेहगुण से कर्मबंध की अवस्था में ज्ञानादि चतुष्टय का अशुद्धपना है, उसीप्रकार स्निग्ध-रूक्षत्वगुण से द्वि-अणुकादि बंध-अवस्था में रूपादि चतुष्टय का अशुद्धपना है। जिसप्रकार स्नेहरहित निज परमात्मभावना के बल से रागादि स्निग्धत्व का विनाश होने पर अनंतचतुष्टय शुद्ध होता है, उसीप्रकार जघन्य गुणों का बंध नहीं होता – इस वचन के अनुसार परमाणुद्रव्य में स्निग्ध-रूक्षत्व गुण की जघन्यता होने पर रूपादि चतुष्टय का शुद्धपना होता है – ऐसा जानना। ऐसा अभिप्राय है॥१५॥

गाथा १५ पर प्रवचन

अब अजीव अधिकार का वर्णन करते हैं:-

भगवान आत्मा शुद्ध है, ज्ञान का पिण्ड है – चिदानन्द एक स्वभाव का धारक परमात्मा ही उपादेय है; तथापि हेयरूप जो अजीव द्रव्य है, उसका निरूपण आठ गाथाओं द्वारा करते हैं। प्रथम हेयतत्त्व का ज्ञान होने पर फिर उपादेय पदार्थ का स्वीकार होता है – यह व्यवहार का कथन है। वस्तुतः तो शुद्ध आत्मा उपादेय है – ऐसा ज्ञान होने पर हेयतत्त्व का आदर छूट जाता है।

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये पाँचों अजीव द्रव्य जानना चाहिए। इनमें से पुद्गल तो मूर्तिमान दृश्य पदार्थ है; क्योंकि वह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणों का धारक है। दाल, भात, पैसा, रोटी इत्यादि पुद्गल हैं, रूपी हैं और शेष चार – धर्म, अधर्म, आकाश व काल अरूपी हैं। जीव से अजीव का स्वरूप भिन्न है – ऐसा बताकर जीव आदरणीय है और अजीव हेय है – ऐसा कहेंगे। अजीव में जीवपना नहीं है – ऐसा यहाँ बताते हैं।

पुद्गलादि पाँचों द्रव्य अजीव हैं। जीव में ज्ञान-दर्शनादि हैं, वे अजीव में नहीं हैं।

कैसा है जीव?

१. जीव उपयोग लक्षणवाला है। जिसमें उपयोग नहीं है, वह अजीव है।

सम्पूर्णरूप से विमल अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय का प्रकाशक केवलज्ञान है, जो सबको देखता है, वह केवलदर्शन है। जीव अपना भान करके परिपूर्ण दशा प्रकट करे, उस जानने-देखने की पर्याय को शुद्ध उपयोग कहते हैं, वह अजीव में नहीं है।

जीव के छद्मस्थ अवस्था में मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान होते हैं, वे अपूर्ण हैं; इसलिए उनको अशुद्ध कहा है। इसप्रकार शुद्ध उपयोग और अशुद्ध उपयोग अजीव में नहीं है। अजीव को कुछ पता नहीं है। ज्ञानी को स्व-परप्रकाशक ज्ञान प्रकट हुआ है, वह जानता है कि जगत में उपयोग रहित जड़ पदार्थ हैं।

(२) आत्मा में सुख-दु:ख, रति-अरति के अनुभव को कर्मफल चेतना कहते हैं। विकारी फल का अनुभव करना कर्मफल चेतना है। पैसा आने पर हर्ष होना, निरोगता में प्रसन्नता, रोग में शोक इत्यादि हास्य, रति, अरति के परिणाम होना कर्मफल चेतना है। ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा का हर्ष-शोक के फल में एकाग्र होना कर्मफल चेतना है। वे हर्ष-शोकरूप भाव जड़ में नहीं होते। शरीर को सुख-दु:ख नहीं है। अज्ञानी मानता है कि शरीर का दु:ख शरीर भोगता है; परन्तु यह बात मिथ्या है। न तो शरीर को ज्ञान है और न सुख-दु:ख ही है। यहाँ जगत के सुख-दु:ख की बात चलती है। 'यह ठीक हुआ' और 'यह ठीक नहीं हुआ' – इत्यादि प्रकार की कल्पना को जीव भोगता है। वह जीव की पर्याय में है; जीव के द्रव्य-गुण में नहीं तथा अजीव में नहीं।

प्रश्न- शरीर में चोट लगने पर चिल्लाता तो है न?

समाधान- नहीं, शरीर में वेदन नहीं है, न शरीर के कारण वेदन है। वेदन (दु:ख) अपने अज्ञान के कारण अर्थात् शरीर की ममता के कारण है। मैं शरीर हूँ और जड़ हूँ – ऐसा शरीर को पता नहीं है। कर्म, शरीर, वाणी, धन, लड्डू, दाल, भात को पता नहीं है कि हम कौन हैं और कौन हमारे प्रति राग करता है? जीव सब जानता है। जीव पद में (ज्ञान में) शरीर की रोग अथवा निरोग अवस्था ज्ञात होती है। अज्ञानी जीव शरीर, वस्त्र, गहने इत्यादि जड़ पदार्थों को अपना मानकर हर्ष-शोक का वेदन करता है। वह वेदन जीव में है, जड़ में नहीं। अजीव में कर्मफल चेतना नहीं होती है।

अजीव में कर्मचेतना (भी) नहीं है। मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय – ये चारों

ज्ञान अपूर्ण होने से चारों को अशुद्ध उपयोग कहते हैं। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। वह इन चार अपूर्ण अवस्थाओं में रुकता है, जो कि अशुद्ध कार्य है, शुद्ध कार्य नहीं, वह कर्मचेतना है तथा निज चेष्टापूर्वक इष्ट तथा अनिष्टरूप से राग-द्वेषरूप जो परिणाम होते हैं, वह भी कर्मचेतना है। आत्मा राग में चेत गया है। आत्मा जड़ का कार्य तो करता ही नहीं है। अपूर्ण ज्ञान अथवा राग-द्वेषरूप कार्य को कर्मचेतना कहते हैं। वह अजीव में नहीं है। केवलज्ञान को शुद्धज्ञान चेतना कहते हैं। आत्मा शुद्ध स्वभाव में परिपूर्ण चेत गया है, वह शुद्धचेतना है। आत्मा के भान के पश्चात् केवलज्ञान प्रकट होता है, वह शुद्धचेतना है।

ऊपर कहे गये लक्षणवाले उपयोग तथा चेतना जिसमें नहीं है, वह अजीव है। यहाँ उपयोग माने ज्ञान का व्यापार और चेतना माने, जिसमें एकाग्र हो; उसे चेतना कहते हैं। कर्म शरीर, मन, वाणी आदि पुद्गलों में तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल आदि किसी को ज्ञान का उपयोग नहीं है तथा उनको किसी वस्तु में एकाग्र होना भी नहीं है। इसप्रकार प्रतिपादित करके जीव और अजीव में भेदज्ञान कराते हैं। आत्मा आत्मा में है; शरीर शरीर में है; कर्म कर्म में है। आत्मा शरीर अथवा कर्म का स्पर्श नहीं करता और न शरीर अथवा कर्म आत्मा का स्पर्श करते हैं। जीव उपयोग स्वरूप है। वह या तो अपूर्ण ज्ञान करे या पूर्णज्ञान करे अथवा राग-द्वेष करके हर्ष-शोक को भोगे, वह जीव का कार्य है। यह कार्य जड़ का नहीं है, जड़ में नहीं है और जड़ के कारण नहीं है - इसप्रकार भेदज्ञान कराते हैं।

अब अजीव के भेद बताते हैं -

(१) पुद्गलद्रव्य- जो पूरण-गलन स्वभाववाला है, वह पुद्गल है, रूपी है, अनन्तानन्त है।

(२) धर्मद्रव्य- जीव और पुद्गल स्वयं गति करते हैं, उसमें निमित्त होता है। वह अरूपी, अखण्ड, लोकाकाश प्रमाण है।

(३) अधर्मद्रव्य- जीव और पुद्गल गतिपूर्वक स्थिति को प्राप्त होते हैं, उसमें निमित्त है। वह अरूपी, अखण्ड, लोकाकाश प्रमाण है।

(४) आकाशद्रव्य- समस्त द्रव्यों को अवगाहन में निमित्त है। वह लोकालोक में

व्याप्त है।

(५) कालद्रव्य- समस्त द्रव्यों के परिणमन में निमित्त है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में है। रत्नराशि की तरह स्थित असंख्य है।

ये सभी द्रव्य सर्वज्ञ ने प्रत्यक्ष देखे हैं तथा आगम और युक्ति से सिद्ध हो सकते हैं। इसप्रकार ये पाँचों अजीवद्रव्य हैं।

जिसमें पूरण-गलन स्वभाव है, वह पुद्गल है। पृथ्वी आदि पुद्गल की पर्याय है। शरीर युवा हो तो पुष्ट लगता है, वृद्ध हो तो निर्बल लगता है; पैसा आता और जाता है; कर्म आते और जाते हैं। इसप्रकार पूरण और गलन (खण्डरूप) होना पुद्गल का कार्य है। शरीर, मन, वाणी, कर्म आदि को पुद्गल की अवस्था जानना चाहिए। जीव पुद्गल का जाननेवाला है, उसका कर्त्ता-हर्त्ता नहीं। इसप्रकार मानने से पर का अभिमान मिट जाता है। व्यापारी अभिमान करता है कि मैं दुकान पर नहीं बैठूँ तो दुकान कैसे चलेगी? दुकान और उसमें विद्यमान पदार्थ पुद्गल हैं, वे उनके कारण आते-जाते हैं। अज्ञानी व्यर्थ ही अभिमान करता है। पानी से बर्फ और बर्फ से पानी होता है, दाल-भात-सब्जी आदि होते हैं - यह सब पुद्गल का स्वभाव है, जीव का नहीं। इसप्रकार जानकर पर का अभिमान छोड़ना और स्वयं ज्ञानस्वरूप में रहना चाहिए।

तथा धर्म, अधर्मद्रव्य जीव-पुद्गल की गति और स्थिति में निमित्त हैं। आकाश समस्त द्रव्यों को अवगाहन में निमित्त लक्षणवाला है और काल सबके परिणमन में निमित्त है - ऐसा जानना चहिये।

इनमें पुद्गल द्रव्य मूर्त्त अर्थात् स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाला है। शरीर, मन, वाणी, दाल, भात आदि रूपी हैं - मूर्त्त हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्त्त अथवा अरूपी हैं तथा आत्मा भी अमूर्त्त है। पाँच अजीवों में एक रूपी और चार अरूपी हैं - ऐसा जानना चाहिए।

जिसप्रकार समस्त जीवों में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य साधारण हैं, वे भव्य अथवा अभव्य सबमें शक्तिरूप से हैं। इसीप्रकार स्पर्श, रस, गंध और वर्ण - ये चार गुण सभी पुद्गलों में साधारण हैं। अग्नि में रस भी है, पानी में गंध भी है। कोई पुद्गल ऐसा नहीं है कि जिसमें ये चारों गुण नहीं हैं। प्रत्येक पुद्गल

में ये चारों गुण हैं। पुद्गल को पता नहीं है कि मेरे में चारों गुण हैं। इन सबको आत्मा जानता है। मेरे में ज्ञानादिगुण हैं और पुद्गल में स्पर्शादि गुण हैं – इसप्रकार यहाँ जीव-पुद्गल का भेदविज्ञान कराते हैं तथा जिसप्रकार शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव धारक सिद्धजीव में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख – ऐसे चार अनन्तचतुष्टय अतीन्द्रिय हैं; वे इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं हैं; इसीप्रकार शुद्ध परमाणु में रूप, गंध, रस और स्पर्श इन्द्रियों से दिखने योग्य नहीं हैं।

प्रश्न– परमाणु मूर्त्त है तो दिखना चाहिए?

उत्तर– नहीं, ऐसा नियम नहीं है। परमाणुद्रव्य भी अतीन्द्रिय है।

प्रश्न– इसमें धर्म क्या आया?

उत्तर– छहों पदार्थ (द्रव्य) अतीन्द्रिय हैं। जो-जो इन्द्रियों से ज्ञात होते हैं, वे स्थूल हैं व मेरी निजवस्तु नहीं है और सूक्ष्म परमाणु भी मेरी वस्तु नहीं है। मैं तो अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ – ऐसा भेदज्ञान करना ही धर्म है।

अब स्थूल पुद्गलों की बात करते हैं – जिसप्रकार संसारदशा में राग-द्वेष के कारण कर्म बंधते हैं और ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य – इन चारों में अशुद्धता आती है। अशुद्धता कर्म के कारण नहीं, स्वयं के कारण आती है। इसीप्रकार स्निग्ध-रूक्षत्व के कारण दो अणु के स्कंध से लेकर अनन्त परमाणु तक के स्कन्ध में रूप, रस, गंध, स्पर्श में अशुद्धता होती है।

यहाँ स्कंध को अशुद्ध कहा है। शरीर, कर्म, हीरा, माणिक, शुद्ध आहार, भगवान का समवसरण, परम औदारिक शरीर आदि सभी स्कंध अशुद्ध हैं; क्योंकि वे अनन्त परमाणुओं से मिलकर बने हैं। अकेला परमाणु सिद्ध की तरह शुद्ध कहलाता है; परन्तु सिद्ध फिर से अशुद्ध नहीं होते; जबकि परमाणु फिर से अशुद्ध हो जाता है – इतना अन्तर है।

यहाँ अशुद्धता में भी जीव और पुद्गल की स्वतंत्रता बताते हैं। अपनी स्वतंत्रता माननेवाला पर की स्वतंत्रता मानता है। वह समझता है कि मेरी अशुद्धदशा कर्म के कारण नहीं; अपितु मेरे ही कारण है। तब वह पर से दृष्टि हटाता है और विकार क्षणिक है तथा आत्मा शुद्धचैतन्य नित्य पदार्थ हैं – ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-आचरण करके मोक्षदशा

को प्राप्त करता है।

अब परमाणु की जीव के साथ शुद्धता में समानता कहते हैं।

यह आत्मा पर के प्रति ममता रहित है – ऐसी शुद्ध परमात्मा की भावना से अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बल से राग-द्वेषादि का नाश होता है। राग का नाश किसी क्रियाकाण्ड से अथवा शुभराग से नहीं होता। निज परमात्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता की एकता के बल से रागादि चिकनाहट का नाश होता है और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय शुद्धरूप प्रकट होते हैं। इसीप्रकार परमाणु में स्निग्ध-रूक्षत्व जघन्य होने से वह अन्य के साथ नहीं बँधता है। जिसप्रकार आत्मा में राग-द्वेष का अन्तिम (जघन्य) अंश बंध का कारण नहीं है; इसीप्रकार परमाणु में स्निग्ध-रूक्ष के अन्तिम अंश बंध का कारण नहीं है। इसलिए परमाणु में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण – यह चतुष्टय शुद्ध समझना चाहिए।

इसप्रकार पुद्गल का स्वरूप बताया और जीव के साथ समानता करके कहते हैं कि जीव राग-द्वेष करता है तो अशुद्ध होता है और राग-द्वेष का अभाव करे तो शुद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि वीतरागता आदरणीय है और राग-द्वेष आदरणीय नहीं है।

❑❑❑

वह कहीं अग्नि की अवस्था नहीं है...

जैसे दर्पण की स्वच्छता दर्पण को बतलाती है और अग्नि की ज्वाला आदि को भी दर्शाती है, तथापि दर्पण में दिखनेवाला स्व-पर के आकार का प्रतिभास-प्रतिबिम्ब वह दर्पण की स्वच्छता की ही अवस्था है; वह कहीं अग्नि की अवस्था नहीं है, प्रतिबिम्बित वस्तु की अवस्था नहीं है तथा जैसे पदार्थ के सन्मुख हों वैसा प्रतिबिम्ब बतलाना वह दर्पण की स्वच्छता का स्वभाव होने से प्रतिबिम्बित पदार्थ के कारण प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता; परन्तु दर्पण की स्वच्छता के कारण पड़ता है। उसीप्रकार ज्ञातृत्व वह आत्मा का ही है अर्थात् आत्मा स्व-पर का ज्ञाता ज्ञानस्वरूप है और भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म पुद्गल के परिणाम हैं। ज्ञानस्वरूपी ज्ञायक को ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बनाकर, उसका ज्ञान करना तथा परज्ञेयों को ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बनाकर तत्सम्बन्धी ज्ञान करना वह ज्ञान का स्वतःसिद्ध स्वभाव ही है। परद्रव्य हैं, इसलिए उनका ज्ञान हुआ – ऐसा पराश्रित स्वभाव है ही नहीं।

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-५३

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-१६

अब पुद्गल द्रव्य की विभावव्यंजनपर्यायों का प्रतिपादन करते हैं:-

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥१६॥

शब्दः बन्धः सूक्ष्मः स्थूलः संस्थानभेदतमश्छायाः।
उद्योतातपसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः॥१६॥

थूल सूक्ष्म बंध तम संस्थान आतप भेद अर।
उद्योत छाया शब्द पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं॥१६॥

गाथार्थ :- शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

टीका :- शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

अब विस्तार करते हैं:- भाषात्मक और अभाषात्मक के भेद से शब्द दो प्रकार के हैं। वहाँ अक्षर रूप और अनक्षर रूप भेद से भाषात्मक शब्द के दो भेद हैं। उनमें भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पिशाची आदि भाषा के भेद से, आर्य अथवा म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार के कारण अक्षरात्मक भाषा अनेक प्रकार की है। अनक्षरात्मक भाषा दो इन्द्रियादि तिर्यंच जीवों में और सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि में होती है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से दो प्रकार हैं। **ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकम्। घनं तु कांस्यतालादि सुषिरं वंशादिकं विदुः॥** (वीणा आदि के शब्द को तत, ढोल आदि के शब्द को वितत मंजीरा आदि की ध्वनि को घन और बंशी आदि के शब्द को सुषिर कहते हैं।) इस श्लोक में कथित क्रमानुसार प्रयोग से हुए प्रायोगिक शब्द चार प्रकार के हैं। विस्रसा अर्थात् स्वभाव से हुए ऐसे वैस्रसिक शब्द बादलों आदि द्वारा होते हैं, वे अनेक प्रकार के हैं।

विशेष- शब्दातीत निज परमात्मा की भावना से च्युत हुए, शब्दादि मनोज्ञ और अमनोज्ञ पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीवों ने जो सुस्वर और दुःस्वर नामक नामकर्म उपार्जित किया था, उसके उदय से यद्यपि जीव में शब्द दिखलायी देता है तो

भी उस जीव के संयोग से उत्पन्न हुआ होने से व्यवहार से जीव का शब्द कहलाता है, परन्तु निश्चय से तो वह शब्द पुद्गल स्वरूप ही है।

अब बंध का कथन किया जाता है, मिट्टी के पिंडादिरूप जो यह अनेकप्रकार का बंध है, वह तो केवल पुद्गलबंध ही है और जो कर्म-नोकर्मरूप बंध है, वह जीव और पुद्गल के संयोगरूप बंध है। तथा विशेष:- कर्मबंध से पृथग्भूत स्वशुद्धात्मा की भावना से रहित जीव को अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से द्रव्यबंध कहलाता है, उसीप्रकार अशुद्धनिश्चयनय से जो यह रागादिरूप भावबंध कहलाता है, वह भी शुद्ध निश्चयनय से पुद्गलबंध ही है।

बिल्वफल आदि की अपेक्षा से वैर आदि का सूक्ष्मपना है और परमाणु को साक्षात् सूक्ष्मपना है। वैर आदि की अपेक्षा से बिल्व आदि का स्थूलपना है और तीनों लोक में व्याप्त महास्कन्ध में सबसे अधिक स्थूलता है।

समचतुरस्र, न्यग्रोध, सातिक, कुब्जक, वामन और हुंडक के भेद से छह प्रकार का संस्थान यद्यपि जीव को व्यवहारनय से है तो भी संस्थानरहित चैतन्यचमत्कार की परिणति से भिन्न होने से निश्चयनय से वह संस्थान पुद्गल का ही है। जीव से भिन्न जो गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि व्यक्त-अव्यक्तरूप अनेक प्रकार के संस्थान हैं, वे भी पुद्गल ही हैं। गेहूँ आदि के चूर्णरूप तथा घी, शक्कर आदि रूप अनेक प्रकार के (संस्थान) भेद जानना।

दृष्टि को रोकनेवाले अंधकार को तम कहा जाता है।

वृक्षादि के आश्रय से होनेवाले तथा मनुष्यादि की प्रतिच्छायारूप जो है, उसे छाया जानना।

चन्द्र के विमान में तथा जुगनू आदि तिर्यंच जीवों में उद्योत होता है।

सूर्य के विमान में और अन्य भी सूर्यकान्तमणि आदि विशेष प्रकार के पृथ्वीकाय में आतप जानना।

सारांश यह है कि जिसप्रकार जीव को शुद्धनिश्चयनय से स्वात्मोपलब्धि जिसका लक्षण है - ऐसी सिद्धस्वरूप स्वभाव व्यंजनपर्याय विद्यमान होने पर भी, अनादि

कर्मबंध के वश से स्निग्धरूक्षस्थानीय (जिसप्रकार पुद्गल और पुद्गल के बंध में स्निग्धरूक्षत्व निमित्तभूत होता है, उसीप्रकार जीव-पुद्गलों के बंध में जो निमित्तभूत होते हैं – ऐसे) राग-द्वेष परिणाम होने पर स्वाभाविक परमानंद जिसका एक लक्षण है – ऐसे स्वास्थ्य भाव से भ्रष्ट नर-नारकादि विभावव्यंजनपर्यायें होती हैं, उसीप्रकार पुद्गल को भी निश्चयनय से शुद्धपरमाणुरूप अवस्था जिसका लक्षण है – ऐसी स्वभावव्यंजनपर्याय होने पर भी, स्निग्ध-रूक्षत्व से बंध होता है। इस वचन से राग-द्वेष स्थानीय बंध योग्य स्निग्ध-रूक्षत्वपरिणाम होने पर ऊपर कहे हुए शब्दादिक से अन्य भी, आगमोक्त लक्षण संकोच-विस्तार, दही-दूध आदि विभाव व्यंजनपर्यायें जानना।

इसप्रकार अजीव अधिकार में पूर्व सूत्र में कहे हुए रूपादि चार गुणयुक्त और इस सूत्र में कही हुई शब्दादि पर्याय सहित, अणु और स्कन्धरूप भेदवाले पुद्गलद्रव्य के संक्षेप व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं॥१६॥

गाथा १६ पर प्रवचन

अब पुद्गलद्रव्य की व्यंजनपर्याय का प्रतिपादन करते हैं।

आत्मा ज्ञानस्वरूपी है – ऐसा जानकर उसके स्व-परप्रकाशक स्वभाव में, जड़ पदार्थ जड़ के कारण परिणम रहे हैं, जीव के कारण नहीं – ऐसा ज्ञात होता है।

यहाँ अजीव पदार्थ में पुद्गलद्रव्य की व्यंजनपर्याय की बात करते हैं। यहाँ व्यंजनपर्याय अर्थात् अकेले प्रदेशत्वगुण की पर्याय – यह अर्थ नहीं कहना है, परन्तु पुद्गलद्रव्य में जो विकार तथा आकृति होती है, उस सम्पूर्ण द्रव्य की पर्याय को यहाँ व्यंजनपर्याय कहना है।

शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप – इसप्रकार सब पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं।

अब इस विषय को विस्तार से कहते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है। वह पुद्गल की पर्याय का जाननेवाला है, लेकिन पुद्गल की पर्याय को करनेवाला नहीं है। तथा जीव का अस्तित्व है, इसलिए पुद्गल की पर्याय का अस्तित्व है – इसप्रकार भी नहीं है। पुद्गल की पर्याय का अस्तित्व स्वतन्त्र, आत्मा उसका ज्ञायक है – ऐसी यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान करना, वह धर्म है। यहाँ तो राग-द्वेष को भाव-बंध गिनकर पुद्गलद्रव्य की

व्यंजनपर्याय कहेंगे। निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिगण प्रत्येक ग्रंथ में विविध पद्धति से द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

(१) जगत में भिन्न-भिन्न जीव दिखते हैं - ऐसे अनन्त जीव हैं। ऐसा निर्णय करने से जगत में एक ही जीव है - ऐसी मान्यता का निषेध होता है।

(२) जीव कहने से उसके प्रतिपक्षी पुद्‌गलादि हैं - ऐसा निर्णय होता है। इसलिए जगत में पुद्‌गलादि नहीं हैं - इस मान्यता का निषेध होता है।

(३) जीव का अस्तित्व है, इसलिए पुद्‌गल की अवस्था होती है - यह मान्यता झूठी ठहरती है।

जड़ की पर्याय भिन्न-भिन्न दिखती है, वह पर्याय स्वयं के द्रव्य में होती है। जीव का उसमें अधिकार नहीं है। जीव जाननेवाला है - ऐसा निर्णय करे, तब सम्यग्ज्ञान होता है।

अब अवस्था के दश भेद बतलाये हैं, उसमें पहले शब्द की बात करते हैं।

(१) शब्द- दो प्रकार के हैं। (१) भाषात्मक (२) अभाषात्मक। इसमें भी भाषात्मक में अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दो भेद हैं।

(अ) अक्षरात्मक भाषा - संस्कृत, गुजराती, प्राकृत, अंग्रेजी, हिन्दी, अपभ्रंश आदि भाषा आर्य तथा म्लेच्छ मनुष्य के व्यवहार का कारण होने से अक्षरात्मक भेद से अनेक प्रकार की है। चाहे जो भाषा हो, लेकिन वह जीव (आत्मा) से नहीं बोली जाती है। भाषापुद्‌गलों के स्कंध की व्यंजनपर्याय है, वह पुद्‌गलद्रव्य के कारण से है, जीव के कारण से नहीं है।

फिर कोई पूछता है कि आत्मा निमित्त है, इसलिए (आत्मा से) भाषा बोली जाती है न?

''नहीं'' शब्द का अस्तित्व पुद्‌गलद्रव्य के कारण है, जीव के अस्तित्व के कारण से नहीं है। आत्मा भाषारूप नहीं होता, किन्तु एक-दूसरे के समझने में भाषा निमित्त मात्र है, इसलिए व्यवहार से कहा जाता है।

फिर कोई कहता है कि संसार में भाषा की क्या कमी है? इसलिए अपने को अच्छी भाषा बोलना?

तब इसका समाधान (खुलासा) यह है कि आत्मा भाषा नहीं बोल सकता है, अत: अच्छी भाषा अथवा बुरी (खराब) भाषा बोलना यह बात नहीं रहती है। यहाँ तो जीव को बोलने में सभ्यता का भाव रखना इतना ही बताना है। पुद्गलद्रव्य जगत के तत्त्व हैं, उनमें भाषावर्गणा में से शब्द होने के योग्य परमाणु शब्दरूप से परिणमित होते हैं।

प्रश्न – तब फिर लकड़ी में से ध्वनि क्यों नहीं निकलती?

समाधान – भाषा का काल (समय) नहीं है, इसलिए परमाणु उस रूप परिणमित नहीं होते हैं। यहाँ भी जीव की इच्छा से भाषा नहीं होती, इच्छा का अस्तित्व जीवद्रव्य में और भाषा का अस्तित्व पुद्गलद्रव्य में है, पुद्गलद्रव्य में से यह पर्याय होती है। जगत में पुद्गलद्रव्य है, तब उसका वर्तमान परिणमन भी है। उसका परिणमन भाषारूप होने योग्य हो तब भाषारूप से होता है।

यहाँ विदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवान की 'ॐ' ध्वनि में ऐसा ही आया है। सन्तों महामुनियों ने भी ऐसा ही कहा है कि तू भाषा के कर्त्तृत्व का अभिमान उड़ा दे। ''हम ऐसा उपदेश दें तो श्रोता पर असर होता है और धर्म के लिए पैसा (चंदा) इकट्ठा कर सकते हैं'' – यह सब अभिमान है। उपदेश रूप भाषा जड़ की है, आत्मा उसका ज्ञाता है – इसप्रकार समझा कर जगत का अभिमान दूर करते हैं।

(ब) अनक्षरात्मक भाषा– दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यंचों की भाषा को अनक्षरात्मक भाषा कहते हैं। मच्छर अथवा मक्खी भिनभिनाहट करती है, वह आवाज पुद्गल की है; मच्छर का जीव है, इसलिए वह बोलता है – ऐसा नहीं है। यदि जीव की उपस्थिति से बोला जाता हो तो बहुत समय बोलना चाहिए। व्यवस्थित धारावाही बोलने का भाव होने पर भी तोतला (हकला) बुल जाता है। यह बतलाता है कि भाषा स्वतन्त्र है, जीव की इच्छा के आधीन नहीं है। बोलना चाहे, तब कुछ का कुछ बोला जाता है, ऐसा अनेकबार बनता है। सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान की 'ॐ' ध्वनि अनक्षरात्मक है, वह पुद्गल की अवस्था है। तीर्थंकर का आत्मा उसका कर्त्ता–हर्त्ता नहीं है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के एक बड़े आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान भी भाषा ग्रहण करते हैं और छोड़ते हैं; लेकिन यह बात मिथ्या है। भाषा परद्रव्य है, आत्मा परद्रव्य

को ग्रहण करे और छोड़े – यह बात नहीं है। अज्ञानी राग-द्वेष को ग्रहण करता है, ज्ञानी राग-द्वेष को छोड़ता है।

फिर कोई कहते हैं कि गौतमस्वामी आये, इसलिए महावीर की वाणी खिरी – यह भी ठीक नहीं। वाणी खिरने के समय वाणी खिरी है, तीर्थंकर के कारण नहीं; उनके शरीर के कारण नहीं। आत्मा के कारण वाणी खिरी – ऐसा माननेवाले अधर्मी हैं।

प्रश्न – इसमें धर्म क्या हुआ?

समाधान – भाषा को भाषा में रहने दे, तू तेरे में रह। पुद्गल की पर्याय पुद्गल में है, तू तेरे से है। भाषा पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है। इसप्रकार जीव और पुद्गल के बीच भेद-ज्ञान करना, वह धर्म है।

प्रश्न – आत्मा निमित्त तो है न?

समाधान – वह भाषा उसके समय में हुई, तब निमित्त कही जाती है।

प्रश्न – सर्वज्ञ भगवान से इन्द्र वगैरह पूछते हैं, तब उत्तर मिलता है न? अज्ञानी पूछता है, तब उत्तर क्यों नहीं मिलता?

समाधान – दिव्यध्वनि तो उसके समय में खिरती है, वह पुद्गल की अवस्था है। इन्द्रों ने पूछा, इसलिए वाणी खिरी – ऐसा नहीं है। वाणी का वाणीरूप से परिणमित होने का स्वभाव है। उसमें इन्द्रों के पुण्य का निमित्त है – ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अज्ञानी तो निमित्त-नैमित्तिक के बहाने बड़ा गड़बड़ घोटाला करता है।

अब **अभाषात्मक शब्द** के भेद कहते हैं। वे **प्रायोगिक** तथा **वैस्रसिक** दो प्रकार के हैं। उनमें प्रायोगिक **तत, वितत, घन, सुषिर** – चार प्रकार के हैं।

तत – वीणा वगैरह से जो शब्द उत्पन्न होते हैं, उसको तत कहते हैं। वह वीणा का स्वर वीणा के तार से अथवा अँगुलियों से अथवा जीव की इच्छा से नहीं होता है।

प्रश्न – तब फिर दार्शनिक प्रमाण असत्य ठहरता है?

समाधान – अज्ञानी के सभी प्रमाण असत्य हैं। पुद्गलद्रव्य स्वयं के कारण ततरूप परिणमता है – ऐसा नहीं मानकर पर से हुआ मानते हैं, वह भ्रम है। पीलिया के रोगी

को सभी वस्तुयें पीली दिखती हैं। वैसे ही अज्ञानी संयोग से मानता है, उसकी बात असत्य है।

वितत - ढोल वगैरह से जो शब्द होते हैं, वह वितत है। वे शब्द ढोल, डंडी (बजाने की लकड़ी), हाथ अथवा आत्मा से भिन्न हैं।

प्रश्न - डंडी नहीं लगे, तब आवाज नहीं होती है न?

समाधान - विततरूप परिणमन पुद्‌गल का है, ऐसी निमित्त-नैमित्तिक अवस्था प्रकटती है, तब डंडी को निमित्त कहते हैं। निमित्त है, इसलिए आवाज निकलती है - ऐसा नहीं है।

घन - मंजीरा तथा ताल से जो शब्द उत्पन्न होता है, उसे घन कहते हैं। शब्दवर्गणा स्वयं अभाषात्मक घनरूप परिणमती है, मंजीरा से नहीं।

सुषिर - बंसी, सीटी, आदि के निमित्त से अभाषात्मक शब्द निकलते हैं, उसको सुषिर कहते हैं।

इस अनुसार चार प्रकार के शब्दों में जीव का निमित्त है, इसलिए उसको प्रायोगिक कहते हैं। जीव के प्रयोग से शब्द नहीं निकलते हैं। यदि ऐसा हो तो जीव और पुद्‌गल स्वतंत्र नहीं रहते।

वैस्रसिक - स्वाभाविक उत्पन्न होनेवाले शब्दों को वैस्रसिक कहते हैं। मेघ-गर्जना का कर्त्ता ईश्वर नहीं, किन्तु पुद्‌गलद्रव्य की वह अवस्था है।

अब विशेष बात बतलाते हैं। आत्मा शब्द से रहित है - ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान को भूलता है, उसको कर्म बँधते हैं। स्वयं में सुख नहीं मानने से जो मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति करता है, वह जीव सुस्वर तथा दुस्वर नाम कर्म का उपार्जन करता है, यानी बाँधता है। वे कर्म सत्ता में से उनके काल में उदय आते हैं।

जीव के शब्द दिखता है, इसलिए व्यवहारनय से जीव के शब्द ऐसा कहा जाता है। निश्चय से शब्द पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय है, वह आत्मा के कारण नहीं है।

प्रश्न - व्यवहार का क्या अर्थ?

समाधान - शब्द की पर्याय पुद्गल से हुई है, वह निश्चय है और उससमय दूसरी वस्तु की उपस्थिति है - ऐसा ज्ञान करना व्यवहार है। पर से शब्द उत्पन्न होता है - इसप्रकार मानने में आये तो निश्चय-व्यवहार एक हो जाते हैं। अज्ञानी को यह बात बैठती नहीं है।

प्रश्न - हम निमित्त हैं, तब भाषा उत्पन्न होती है न?

उत्तर - नहीं, भाषा का अस्तित्व भाषा में है, जीव में नहीं; जीव के अस्तित्व के कारण नहीं। भाषा होती है, तब दूसरी वस्तु निमित्त कही जाती है। निमित्त ज्ञान करने के लिए ठीक है (सही है), किन्तु निमित्त है, इसलिए भाषापर्याय होती है - ऐसा नहीं है।

इसप्रकार शब्द के भेद बताकर पर का अहंकार छोड़ने को कहते हैं। शब्द अपने कारण परिणमन करते हैं और आत्मा ज्ञानस्वरूप है; इसप्रकार भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

(२) बंध- अब बंध का निरूपण करते हैं। मिट्टी में से घड़ा होता है, वह पुद्गल द्रव्य की व्यंजनपर्याय है, वह कुम्हार के कारण नहीं है, जीव उसको जाननेवाला है। अज्ञानी जीव मेरे से हुआ ऐसा मानकर अभिमान करता है। मिट्टी स्वयं घड़ारूप हुई है। ज्ञान से अथवा इच्छा से वह नहीं हुई है।

कोई **प्रश्न** करता है कि चक्के को घुमावे, तब घड़ा होता है न? निमित्त न हो, तब कहाँ से हो?

समाधान - निमित्त न होता तब, यह प्रश्न ही कहाँ उठता है? निमित्त है सही, किन्तु निमित्त है, इसलिए घड़ा होता है, बनता है - यह बड़ा भ्रम है। घड़ारूपी नैमित्तिकदशा और कुम्हार चक्का इत्यादि निमित्त में कालभेद नहीं है।

यदि निमित्त आने के बाद नैमित्तिक दशा मानने में आये तो दोनों के बीच कालभेद हो जाता है, लेकिन ऐसा है ही नहीं, दोनों एक समय में हैं। निमित्त से नैमित्तिक अवस्था मानने में आये तो द्रव्य की पर्यायें पराधीन होने से द्रव्य को भी पराधीन माना, वह बहुत बड़ा दोष हैं। बंध की पर्याय वह पुद्गलद्रव्य की है, पर के अस्तित्व के कारण नहीं; आत्मा उसका जानने वाला देखनेवाला है - ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

यह गाथा पुद्गलद्रव्य की व्यंजनपर्याय का प्रतिपादन करती है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, इसप्रकार स्वयं को जानने से अजीव को यथार्थ जानता है। जड़ की पर्याय का अस्तित्व जड़ से है, आत्मा से नहीं है। भाषा पुद्गलद्रव्य की अवस्था है, आत्मा से नहीं होती – यह बात कह चुके हैं, यहाँ बंध की व्याख्या चलती है। मिट्टी आदि का पिण्डरूप होना, वह पुद्गल की विभावव्यंजनपर्याय है, उसको आत्मा नहीं कर सकता है। लकड़ी लाख से नहीं जुड़ती है। मकान, लाख, लकड़ी, लड्डू आदि की स्कन्धरूप अवस्था होना, वह पुद्गल की व्यंजनपर्याय है, वह जीव के कारण नहीं है।

अज्ञानी को भ्रमणा होती है कि यदि जीव न होता तो ये मकानादि किस तरह बनते? मकान जीव के कारण से नहीं होता, किन्तु जीव निमित्त है, इसलिए होता है – यह बात भी यहाँ नहीं कही है। यदि आत्मा के निमित्तपने से मकान, रोटी, लड्डू वगैरह बनते हों तो आत्मा का निमित्त निकल जाने के बाद भी वे पदार्थ लम्बे समय तक बंधरूप अवस्थापने क्यों देखने में आते हैं? वे बंधरूप नहीं रहने चाहिए, कारीगर के चले जाने के बाद मकान वर्षों तक रहता है। रसोइन के उपस्थित न रहने पर लड्डू वगैरह बंधरूप अवस्थापने से देखने में आते हैं। यदि निमित्त के अस्तित्व से नैमित्तिक का अस्तित्व हो तो निमित्त चले जाने के बाद नैमित्तिक मकान, लड्डू आदि का अस्तित्व नहीं रहना चाहिए, लेकिन ऐसा तो दिखता नहीं है।

कारीगर आदि निमित्त थोड़े समय के लिए शुरू में दिखते हैं। अज्ञानी की अल्पकालीन दृष्टि होने के कारण निमित्त पर उसकी नजर जाती है, वह भ्रांति है। पुद्गल स्वयंसिद्ध बंधरूप अवस्था को प्राप्त करता है, ऐसा कहा है। यहाँ निमित्तपना बताया नहीं है। कारण कि निमित्त कुछ समय रह कर छूट (चला) जाता है, इसलिए उसको नहीं गिना है, पुद्गल को बंध कह दिया है। पुस्तक, सुवर्ण की डली (लगड़ी), रोटी आदि स्वतंत्र पुद्गल की व्यंजनपर्याय है, आत्मा उसका कर्ता-हर्ता नहीं है – ऐसी व्यवस्था कैसे हुई? ऐसे प्रश्न को अवकाश नहीं है। उसकी पर्याय उससे होती है, मैं उसका जाननेवाला हूँ, उस संबंधी मेरा ज्ञान भी मेरे से होता है, इसप्रकार समझकर भेदज्ञान करना वह धर्म है।

अब कर्म तथा नोकर्म (शरीर) रूप बंध है, वह जीव तथा पुद्गल के संयोग से है, उसकी बात करते हैं। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आठ कर्म तथा शरीर वह पुद्गलद्रव्य

की अवस्था है। आत्मा ने कर्म बाँधे नहीं हैं, आत्मा शरीर का कुछ कर नहीं सकता है। कर्म और नोकर्मरूपबंध पुद्‌गल की विभावव्यंजनपर्याय है। आत्मा उसको जाननेवाला, देखनेवाला है, लेकिन कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। घट वगैरह के बंध से कर्म-शरीर वगैरह के बंध को पृथक् बताने का कारण यह है कि घड़ा मकानादि में निमित्त कुम्हार कारीगर वगैरह हैं, कुछ समय तक उपस्थित दिखते हैं; किन्तु मकान जबतक रहता है, तबतक उसका निमित्त हमेशा उपस्थित नहीं दिखता है। जड़कर्म का नोकर्मरूपी अवस्था में निमित्तपना उपस्थित दिखता है, इसलिए कर्म और नोकर्म के बंध को पृथक् किया है। पहले गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के सभी जीवों को शरीर और कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध रहा है। कर्म और शरीर की बंधरूप अवस्था पुद्‌गलद्रव्य के कारण होती है।

उस नैमित्तिक में जीव की संयोग सहायक हाजिरी है। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बना रहे, किन्तु आत्मा कर्म की तथा शरीर की अवस्था को कर सकता है - ऐसा इसका अर्थ है ही नहीं। आत्मा ध्यान रखे तो शरीर निरोग रहे - ऐसा नहीं होता है। शरीर को जैसा रहना हो, वैसा रहता है। आत्मा उसका जाननेवाला, देखनेवाला है। और फिर खास बात यह है कि कर्मबंधन से भिन्न स्वयं आत्मा शुद्ध है - ऐसी भावना से जो रहित है, उसको अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहारनय से द्रव्यबंध है। यहाँ अज्ञानी को ही द्रव्यबंध है - ऐसा कहते हैं।

मैं दान करूँ, अमुक व्रत करूँ तो कल्याण हो - ऐसी मान्यतावाले मिथ्यादृष्टि जीव को कर्म बंध है। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूपी है, चिदानंद ज्ञायक है, द्रव्य स्वयं मुक्तस्वरूप है - ऐसी जिसको खबर नहीं है और जो वर्त्तमान पर्यायबुद्धि में और राग में लगा हुआ है, वह जीव कर्म से बँधता है। अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहारनय से बंध है। कर्म का आत्मा के प्रदेशों से नजदीक का सम्बन्ध है, मकानादि बाह्य पदार्थों के जैसे वह दूर नहीं, इसलिए अनुपचरित। कर्म आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिए असद्‌भूत। और कर्म निमित्त है, इसलिए व्यवहार है। इसप्रकार अज्ञानी को अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहारनय से द्रव्यबंध है।

यहाँ अज्ञानी को द्रव्यबंध कहा है, ज्ञानी को द्रव्यबंध नहीं है। समयसार गाथा १०० में कहा है कि ज्ञानी नवीन कर्म में निमित्त नहीं है, अज्ञानी नवीन कर्म में निमित्त है।

ज्ञानी जीव स्वभाव की अधिकतारूप परिणमता होने से अबंध है, कारण कि उसको भेद-ज्ञान वर्तता है। कर्म की पर्याय कर्म में है, मेरी पर्याय मेरे में है, इसप्रकार ज्ञानी समझता है, इससे वह अबंध है। वह अबद्धस्पष्टपने उपरिम राग और शरीर की एकता को छिन्न-भिन्न करनेवाला होने से उसे बंध नहीं है। कर्म नहीं, विकार नहीं, मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ – ऐसी दृष्टि में अन्तर्मुख होने से वह बँधता नहीं है। जिसको आत्मस्वभाव का भान वरतता है, उसको भावबंध नहीं है तथा द्रव्यबंध नहीं है। जिसको आत्म-स्वभाव का भान नहीं है, उसको भावबंध और द्रव्यबंध दोनों हैं।

अशुद्ध निश्चयनय से रागादिरूप परिणमन को भावबंध कहते हैं, फिर भी शुद्ध निश्चयनय से वह भी पुद्गल का बंध है। रागादि परिणमन जीव की अवस्था में स्वयं के कारण होता है, इसलिए निश्चय; परन्तु वह विकारी परिणाम है, अतएव अशुद्ध कहा है। इसप्रकार अशुद्ध निश्चयनय से देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग भी भावबंध है। धर्मीजीव को अबंध स्वभाव की मुख्यता होने से भावबंध नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम पर्याय में भूतार्थ होने पर भी, ज्ञानी को पर्याय पर दृष्टि नहीं होने के कारण और स्वभाव की दृष्टि होने के कारण व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम को अभूतार्थ कहा है। मूल वस्तुस्वभाव में वह नहीं है – ऐसा कहने में आया है। अज्ञानी मानता है कि व्यवहाररत्नत्रय जितना ही मैं हूँ और उससे मेरा कल्याण होगा। ऐसी दृष्टि से वह राग में अटका होने से उसको भावबंध होता है। उसको अंश के अस्तित्व की रुचि होने से वह अंशीस्वभाव के अस्तित्व को भूल जाता है। कर्म के कारण राग होता है – ऐसा माननेवाला तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है। जो शुद्ध स्वभाव को अधिक नहीं मानता, दया-दानादि में अटकता है; उसको अशुद्ध निश्चयनय से भावबंध कहा है।

जिस परिणाम से भावबंध होता है, वह परिणाम सम्यग्दर्शन का अथवा अबंध दशा का कारण नहीं होता। ज्ञानी समझता है कि राग और कर्म की मेरे त्रिकाली स्वभाव में नास्ति है और मेरे त्रिकाली स्वभाव की राग और कर्म में नास्ति है। एक के अस्तित्व में दूसरे का अस्तित्व नहीं रहता। इसप्रकार यथार्थ ज्ञानस्वभाव का ज्ञान होने से ज्ञानी को भावबंध और द्रव्यबंध का भी ज्ञान होता है। कर्म-कर्म में है, आत्मा में नहीं है, ऐसा भेदज्ञान होने से स्व-पर प्रकाशक ज्ञान प्रकटता है। देव-गुरु -शास्त्र की श्रद्धा का अथवा व्यवहाररत्नत्रय का राग पर्याय में होने पर भी ज्ञानी को पर्याय बुद्धि नहीं होने

से और स्वभाव की बुद्धि होने से वह परिणाम त्रिकाली स्वभाव में नहीं है, इसलिए उसको व्यवहार कह कर अभूतार्थ कहा है, तथा राग और कर्म को एक गिनकर उसको शुद्ध निश्चयनय से पुद्गल का बंध कहा है।

कोई **प्रश्न** करता है कि विकार द्रव्य और गुण में नहीं है, तब फिर विकार कर्म के कारण से होता होगा?

उत्तर - 'नहीं', विकार कर्म के कारण से नहीं है, वह आत्मा की पर्याय में होता है; किन्तु विकार जितना ही मैं हूँ - ऐसा स्वीकार करनेवालों की दृष्टि कहाँ जायेगी? 'मैं ज्ञायक हूँ' - ऐसी अन्तर्दृष्टि के अभाव के कारण और विकार के अंश को स्वीकार करनेवाला होने से वह जीव स्वभाव को नहीं मानेगा, किन्तु संयोग को मानेगा। "इतना करना चाहिए, हमने इतना पुण्य किया, इतने कर्म बाँधे और उसका यह फल मिला"- इसप्रकार अज्ञानी की रुचि विकार, कर्म और संयोग पर जाती है, इससे वह संसार में घूमता है। व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम को ही देखनेवाला पुद्गल को मानता है, किन्तु स्वभाव को नहीं मानता है। दया-दान की बात आये, उपवास करने की बात आये तो अज्ञानी को इसमें आनन्द आता है और मिथ्यात्व का सेवन कर निर्जरा हुई ऐसा मानता है, किन्तु आत्मा ज्ञायक है, कर्म के विकार से रहित है - ऐसी समझ करने में अपूर्व पुरुषार्थ है, वह उसको सूझता नहीं है। जो स्वयं के ज्ञान में वीर्य का महत्त्व नहीं लाता, वह आत्मा की समझ किसप्रकार कर सकता है? और निश्चय आत्मा के भान बिना देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का रागरूप व्यवहार व्यर्थ है। जिसको गृहीत मिथ्यादर्शन है, उसके निश्चय और व्यवहार दोनों खोटे हैं, उसकी तो बात नहीं है, किन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु सनातन जैन मार्ग में कहे है, उसप्रकार माने, उनके प्रति राग की मुख्यता किसको होती है? जिसका स्वभाव गौण वर्तता है, उसको, और उस प्रकार के जीव को भावबंध होता है और वह पुद्गलद्रव्य बंध की एकता करता है, किन्तु उसको शुद्धस्वभाव के साथ एकता नहीं होती है। इस गाथा में समयसार की गाथा ११ का न्याय दिया है।

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। भूतार्थ के आश्रित जीव सम्यग्दृष्टि होता है, इसमें यह सार है। यहाँ बंध का अधिकार है। बंध को जाननेवाला बंधरूप नहीं है। बंध और आत्मा की एकताबुद्धिवाला बंध के स्वरूप को नहीं जान सकता। विकार और कर्म मेरे में नहीं हैं, मैं तो ज्ञायक हूँ - ऐसी स्वभावबुद्धिवाला स्वयं को

जानने से बंध को यथार्थ जान सकता है। धर्मी जीव समझता है कि विकार, विकार का फल, कर्म और पैसा तथा संयोग वगैरह हैं, मैं उनका जाननेवाला हूँ, उनका मैं करनेवाला नहीं हूँ। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि की दृष्टि वर्तमान पुण्य के भाव पर नहीं थी। तब फिर पूर्व में पुण्य किये थे और उनके फल में ये संयोग मिले – ऐसा मानकर उनके स्वामी वे नहीं होते हैं।

जो जीव रुपया वगैरह को अपना मानते हैं, वे आत्मा के अस्तित्व को पृथक् नहीं मानते हैं। रुपया वगैरह पुद्गलद्रव्य की व्यंजनपर्याय है, यदि वह तेरे से हो तो तेरे चले जाने से उनको भी चला जाना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता। स्वयं के कारण पैसा आदि का होना मानना, वह तो बड़ी भूल है, किन्तु विकार स्वयं के कारण है – ऐसा भी धर्मीजीव नहीं मानता है। कमजोरी से होनेवाले विकार का तेरे स्वभाव में अभाव है, तब लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र तो बहुत दूर हैं। एक समय के संयोग के अस्तित्व को, कर्म के अस्तित्व को स्वयं का माने, उसको त्रिकालज्ञायक की रुचि नहीं है, उसको धर्म नहीं होता है।

जिसको ज्ञायक की रुचि है, उसको कमजोरी से होनेवाले विकार को अभूतार्थ गिनकर उस भावबंध को पुद्गल में डाल दिया है (पुद्गल कह दिया है)। बंध की व्याख्या में अबंध भगवान को सिद्ध किया है। भावबंध तथा द्रव्यबंध से आत्मा को पृथक् किये बिना भावबंध अथवा द्रव्यबंध का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। शुद्धचैतन्य की दृष्टि में भावबंध और पुद्गलबंध आत्मा में से नहीं आया है – ऐसा ज्ञान करे, उसको मुक्ति की झनकार बजे बिना नहीं रहती।

पुद्गलद्रव्य की जो वर्त्तमान पर्याय है, उसमें जीव का अधिकार नहीं है। आत्मा देखने जाननेवाला है। आत्मा है, इसलिए पुद्गल में अवस्था होती है – ऐसा नहीं है। इसप्रकार निर्णय करे, तब पर से उपेक्षा होकर अपने में एकाग्र होता है और धर्म होता है।

यहाँ पुद्गलद्रव्य की विभावव्यंजनपर्याय की बात चलती है, शब्द और बंध की बात आ गई। अब आगे की बात करते हैं।

(३) **सूक्ष्मत्व** – सूक्ष्मत्व समझने के लिए उदाहरण देते हैं – बेल फल की अपेक्षा बेर आदि फल में सूक्ष्मत्व है। बेर और बेल फल में जीव ने बेर या बेल के शरीर को

किया नहीं है, वह अपनी योग्यता के कारण सूक्ष्म है।

यहाँ बेल की अपेक्षा आँवला, बेर आदि को सूक्ष्म कहा है। अन्दर एकेन्द्रिय जीव तो जानने–देखनेवाला है, किन्तु उस जीव को अपने ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है, इससे भ्रांति का सेवन करता है; किन्तु भ्रांति के कारण सूक्ष्म अथवा बादर (स्थूल) शरीर नहीं हुआ है। श्रीफलरूपी (नारियलरूपी) शरीर उसके अन्दर के जीव ने नहीं बनाया है, कारण पुद्गल की अवस्था स्वतन्त्र है। जीव अरूपी, किन्तु स्वतन्त्र है; दोनों के बीच अत्यन्ताभाव है। जीव जड़ का कुछ करता नहीं है।

प्रश्न – नारियल बोनेवाले ने तो श्रीफल (नारियल) बताया है न?

उत्तर – नहीं! जो पदार्थ स्कंधरूप होने के हों, वे अपने काल में होते हैं। जीव के कारण से नहीं होते हैं।

प्रश्न – कोई पुद्गल जायफलरूप होता है तब अन्दर जीव आया और पहले ऐसा कर्म उपार्जन किया था इसलिए यह अवस्था हुई न?

उत्तर – नहीं, जीव तथा कर्म के कारण यह अवस्था नहीं हुई। अज्ञानी जीव अभिमान करता है कि मैं इसकी अवस्था का कर्त्ता हूँ या मेरे पूर्वोपार्जित कर्म से यह अवस्था हुई है। कर्म भी नोकर्मरूप बेल, आँवला या बेर आदि रूप शरीर की रचना में निमित्त मात्र है। वास्तव में आहारवर्गणा के परमाणु स्वयं अपनी योग्यता से बेल, आँवला या बेर के शरीररूप परिणमे हैं, यह तो उनकी विभावव्यंजनपर्याय ही है, जिसके कर्त्ता पुद्गल परमाणु स्वयं हैं, जीव या कर्म नहीं।

बेर की सूक्ष्मता पुद्गल के कारण है। परमाणु में साक्षात् सूक्ष्मता है। उसमें किसी की अपेक्षा नहीं है, उसको जीव नहीं बनाता है।

(४) स्थूलत्व – बेर आदि फलों की अपेक्षा से बेल आदि फलों में स्थूलत्व (बड़ापन) है। तीन लोक में व्याप्त अचेतन महास्कंध है, वह सब से स्थूल है, बड़ा है। यहाँ स्थूल का अर्थ बड़ापन है। स्थूलपना होना वह पुद्गल की विभावव्यंजनपर्याय है। वह जीव के कारण नहीं है। जीव जाननेवाला–देखनेवाला है।

(५) संस्थान – ये छह प्रकार के होते हैं:–

जिसके उदय से शरीर का आकार ऊपर, नीचे तथा बीच में समान हो अर्थात् जिसके अंगोपङ्गों की लम्बाई, चौड़ाई सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार ठीक-ठीक बनी हो, वह समचतुरस्र संस्थान है।

जिसके उदय से शरीर का आकार न्यग्रोध (बड़) के वृक्ष सरीखा-नाभि के ऊपर मोटा और नाभि के नीचे पतला हो, वह न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है।

जिसके उदय से स्वाति नक्षत्र के अथवा सर्प की बाँबी के समान शरीर का आकार हो अर्थात् ऊपर से पतला और नाभि के नीचे मोटा हो, उसे स्वाति संस्थान कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से कुबड़ा शरीर हो, उसे कुब्जक संस्थान कहते हैं।

जिसके उदय से बोना शरीर हो, वह वामन संस्थान है।

जिस कर्म के उदय से शरीर के अंगोपांग किसी खास शक्ल के न हों और भयानक बुरे आकार के बनें, उसे हुंडक संस्थान कहते हैं।

छह प्रकार के संस्थान के भेद व्यवहारनय से जीव के कहे जाते हैं। फिर भी आत्मा तो संस्थान से शून्य है, चैतन्य-चमत्कार परिणामवाला है। उस संस्थान से आत्मा भिन्न है।

इसलिए निश्चयनय से वे सभी आकार पुद्गल की पर्याय के भेद हैं। भिन्न-भिन्न शरीर के आकार ब्रह्मा ने तो बनाये नहीं, किन्तु साथ में रहे हुए आत्मा ने भी नहीं बनाये हैं। पुद्गल की सृष्टि पुद्गल से होती हैं।

प्रश्न - जीव के बिना ऐसे आकार कैसे होंगे?

उत्तर - जीव निमित्तमात्र है, इसलिए व्यवहार से उसे संस्थानवाला बोला जाता है, किन्तु जीव है, इसलिए पृथक्-पृथक् आकार होते हैं - ऐसा नहीं है। कोई मोटा, कोई पतला तथा कोई ठिगना होता है, वह पुद्गल की समय-समय की योग्यतानुसार होता है। अज्ञानी जीव भ्रांति का सेवन करता है कि मुझे ठिगना शरीर मिला, मुझे ऐसा आकार मिला, मेरी आँख फूट गयी, लेकिन यह सब पुद्गल की अवस्था है; जीव की नहीं है। अज्ञानी जीव शरीर के अंगों की प्रशंसा करते हैं और हिरण जैसी आँखें, केला जैसे पैर वगैरह की उपमा देते हैं, लेकिन वे सब मांस की पर्याय हैं। आत्मा तो संस्थानशून्य

है, चैतन्य-चमत्कार मात्र है। यहाँ जीव के राग-द्वेष भी नहीं लिये हैं। जीव को संस्थान से भिन्न, राग-द्वेष से भिन्न, मात्र जानने-देखने का परिणामवाला कहा है। इसलिए जड़ का अभिमान छोड़ और चैतन्य-चमत्कार की प्रतीति कर - ऐसा इस कथन का सार है।

अब जीव के निमित्तपने रहित आकारों की बात करते हैं। गोल, त्रिकोण, चौकोर, षट्कोण वगैरह प्रकट तथा अप्रकट अनेक प्रकार के आकार हैं। वे पुद्गल के कारण हैं। मानस्तम्भ का आकार, अन्दर संगमरमर का चौरस आकार, सूर्य की किरणों का छोटे छिद्रों में से निकलना, पूर्णमासी के गोल चन्द्रमा का आकार होना, उस-उस काल की पुद्गल की योग्यता के कारण है, पर के कारण नहीं है। उस आकार का तथा रागादि परिणाम का जीव जाननेवाला मात्र है।

(६) भेद - गेहूँ का आटा तथा घी-शक्कर आदि अनेक रूप से अनेक प्रकार के भेद (टुकड़े) जानना। उस गेहूँ का आटा होना, आटा मोटा होना, बारीक होना, वह आटाचक्की के कारण नहीं, पीसनेवाले के कारण नहीं; वह पुद्गल की विभाव अवस्था है।

प्रश्न - आटाचक्की चलती है, उसका कुछ नहीं है?

उत्तर - आटाचक्की कौन फिराता है? फेरनेवाले के कारण आटाचक्की नहीं फिरती और आटाचक्की फिरने से आटा नहीं होता है। जीव अभिमान करता है। गेहूँ में से आटारूप भेद (टुकड़ा) होना, वह पुद्गल की अवस्था है।

जमा हुआ घी अँगुली अथवा चाकू से टुकड़ेरूप में निकलता है, वह जीव के कारण नहीं और चाकू से भी नहीं। शर्करा अथवा रोटी के टुकड़े होना, वह दाँत के कारण नहीं, किन्तु पुद्गल के कारण है। और फिर आटे में अनेक बार समूचा दाना रह जाता है, छोटे-बड़े टुकड़े होते हैं, यदि पनचक्की के कारण हो तो सब टुकड़े एक सरीखे होना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता। शर्करा के टुकड़े होना, लकड़ी के फाड़चा होना, पत्थर के टुकड़े होना, गुड़ के टुकड़े होना, वह भेद का स्वभाव है। उनकी भेदरूप वर्त्तमान अवस्था तेरे से होवे तो वह पुद्गल को मान्य नहीं है। तेरा प्रयत्न तेरे में है, जड़ की भेदरूप अवस्था जड़ में है, इसप्रकार जड़ की स्वतंत्र पर्याय है - ऐसा स्वीकार करे, वह स्वयं की स्वतंत्रता स्वीकार किये बिना नहीं रहता।

प्रश्न - पुद्गल से चैतन्य विजाति है, इसलिए आत्मा पुद्गल का कुछ कर नहीं

सकता, किन्तु पुद्गल सजाति पुद्गल का तो कर सकता है न?

उत्तर – एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, वह उसके कारण है; तू ज्ञानस्वरूप है। चैतन्यमूर्त्ति आदि स्वभाव के आश्रय से जो चैतन्यपरिणामरूप भेद अवस्था होती है, वह तेरे कारण है। वह परिणाम किसी दूसरे के कारण नहीं है। पैसा, लकड़ी, तुअर की दाल आदि में भेदरूप दशा होती है, वह उससे होती है; आत्मा से नहीं होती।

यहाँ पुद्गल के भेद की बात चलती है। घी, लकड़ी, चूना आदि में भेद (खण्ड) होता है, वह आत्मा के कारण नहीं है; वह पुद्गलद्रव्य की विभावव्यंजनपर्याय है।

(७) तम (अन्धकार) – दृष्टि को रोकनेवाला जो अंधकार है, उसको तम कहते हैं, वह पुद्गल की पर्याय है।

प्रश्न – दीपक बुझा दिया, इसलिए अंधकार हुआ?

उत्तर – नहीं! यह बात असत्य है। अज्ञानी मानता है कि दीपक आया, इसलिए प्रकाश हुआ और दीपक बुझ गया, इसलिए अंधकार हुआ अथवा बादलों के कारण अंधकार मानता है – यह सब भ्रांति है। तम अथवा अंधकार पुद्गल की पर्याय है, दूसरे के कारण नहीं है।

प्रश्न – इसमें धर्म क्या आया?

उत्तर – जो जीव पर से अंधकार मानते हैं, वे संयोग को देखनेवाले हैं। अंधकार स्वतन्त्र होता है, इसप्रकार जाने बिना अज्ञान अंधकार नष्ट नहीं होता। जो जीव स्वभाव से देखता है, वह स्वयं के स्वभाव को स्वतन्त्र मानता है। पुद्गल की अवस्था स्वतन्त्र है, इसप्रकार जो मानता है, वह जीव स्वयं की अवस्था स्वतंत्र है – ऐसा माने बिना नहीं रहता। स्वयं की अवस्था और द्रव्यस्वभाव को स्वतन्त्र मान कर स्वभाव की ओर झुकने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रकट होती है और वही धर्म है।

दीपक ले लिया, इसलिए अंधकार गया – ऐसा माननेवाले संयोग को देखते हैं। अंधकार पुद्गल की स्कंधरूप व्यंजनपर्याय है। वह आँख से दिखती है, इसलिए स्थूल है और हाथ से पकड़ में नहीं आती, इसलिए सूक्ष्म है, इससे स्थूल-सूक्ष्म कहते हैं।

(८) छाया - वृक्ष के निमित्त से होनेवाली छाया पुद्गल की अवस्था है। छाया वृक्ष के कारण नहीं है, छाया और वृक्ष भिन्न-भिन्न स्कंध हैं। वृक्ष कटने के बाद मिलता नहीं है (अर्थात् पूर्ववत् नहीं जुड़ता) इसलिए वह स्थूल-स्थूल है और छाया स्थूल-सूक्ष्म है। वह आँख से दिखती है, इसलिए स्थूल है और हाथ से पकड़ में नहीं आती इसलिए सूक्ष्म है। इसप्रकार स्थूल-सूक्ष्म है। दोनों स्कंध की जाति भिन्न है। स्कंध के छह भेद कहे हैं, वे जीव के कारण नहीं हैं, किन्तु पुद्गल के कारण हैं। एक-दूसरे के कारण हो तो छह भेद नहीं रहते। इसप्रकार स्वतंत्र छाया है - ऐसा समझकर आत्मा केवल जानने-देखनेवाला है - इसप्रकार ज्ञान करना, वह धर्म है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वही उपादेय है, ऐसी दृष्टि करके सम्यग्दर्शन प्रकट होने से सम्यग्ज्ञान प्रकटता है तथा वे अजीवादि पर पदार्थ स्वतन्त्र हैं - इसप्रकार जानता है। एक-दूसरे के आधीन माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। यहाँ पुद्गल की स्कंधरूप अवस्था विभावव्यंजनपर्याय की स्वतन्त्रता की बात चलती है।

जो स्कंध पृथक् होने के बाद मिलता नहीं है, वह स्थूल-स्थूल है। जैसे - लकड़ी, पृथ्वी, वगैरह।

जो स्कंध पृथक् होने के बाद फिर मिल जाता है, वह स्थूल है। जैसे - तेल, घी आदि।

जो स्कंध आँख से दिखे और दूसरी इन्द्रिय से न पकड़ा जाये, वह स्थूल-सूक्ष्म है। जैसे - छाया आदि।

जो स्कंध आँख से न दिखे, लेकिन दूसरी किसी इन्द्रिय से ग्रहण किया जाये, वह सूक्ष्म-स्थूल है। जैसे - शब्द आदि।

किसी इन्द्रिय से भी ग्रहण न किया जाये, वह सूक्ष्म है। जैसे - कार्माण स्कंध।

कार्माण से सूक्ष्मस्कंध - दो परमाणु से अनन्त परमाणु तक के स्कंध वह सूक्ष्म-सूक्ष्म है।

वृक्ष स्थूल-स्थूल है, छाया स्थूल-सूक्ष्म है। अँगुली स्थूल-स्थूल है, उसकी छाया स्थूल-सूक्ष्म है। इसप्रकार स्कंधों की जाति ही जुदी है।

लोहे की छड़ी स्थूल-स्थूल है, उसकी धूप में छाया पड़ती है, वह स्थूल-सूक्ष्म है। आदमी का शरीर स्थूल-स्थूल है और उसकी छाया स्थूल-सूक्ष्म है। हवा से वृक्ष हिलता है, उसमें वृक्ष स्थूल है; लेकिन उसमें उसकी छाया क्षेत्रान्तर नहीं होती। मनुष्य को चलते समय अपनी परछायी मानो दौड़ती दिखती है, किन्तु परछायी नहीं दौड़ती है। पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न परमाणु काले-कालेरूप परिणमित दिखते हैं।

प्रश्न - यह अँगुली धूप में रखी, इसलिए उसके कारण से उसकी छाया काले रूप में दिखती है न?

उत्तर - नहीं, ऐसा नहीं है। अँगुली स्थूल-स्थूल है और छाया स्थूल-सूक्ष्म है। दोनों की जाति भिन्न है। अज्ञानी संयोग को मानता है, ज्ञानी स्वभाव को मानता है। प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है, वह स्वयं से हो रही है। जीव के कारण तो नहीं, किन्तु दूसरे पुद्गलों के कारण भी नहीं है। मैं तो उस पर्याय को जाननेवाला हूँ - ऐसा कहना, वह व्यवहार है। स्वयं का ज्ञान होने से छाया का ज्ञान हो जाता है, इसप्रकार यथार्थ ज्ञान करना वह धर्म है। प्रत्येक पदार्थ स्वयंसिद्ध है, मेरा ज्ञान असंयोगी है, ज्ञानरूप परिणमना मेरा कार्य है। राग होने पर भी जिसको ज्ञान की मुख्यता है, वह जीव ज्ञानरूप परिणमित होने से पर को व्यवहार से जानता है।

यह द्रव्यसंग्रह है। प्रत्येक द्रव्य अपनी वर्तमान पर्याय सहित स्वतंत्र है - ऐसा सिद्ध करना है। मनुष्य का शरीर स्थूल-स्थूल है और उसकी परछायी दर्पण में पड़ती है, वह दर्पण की पर्याय है, वह भी स्थूल-स्थूल है। प्रतिबिम्ब और परछायी भिन्न वस्तुएँ हैं। मनुष्य के शरीर की परछायी स्थूल-सूक्ष्म है और दर्पण का प्रतिबिम्ब स्थूल-स्थूल है। दर्पण में मैदान दिखता है, वह दर्पण की स्वच्छता है, वह स्थूल-स्थूल है; मैदान के कारण नहीं है। छाया (परछायी) और प्रतिबिम्ब किसी के कारण नहीं है। पुद्गल की पर्याय अन्य के कारण होवे तो पुद्गल द्रव्य सिद्ध नहीं हो सकता।

यहाँ द्रव्यों की स्वतंत्रता बताकर भेदज्ञान कराते हैं। प्रत्येक द्रव्य की वर्त्तमान पर्याय स्वतंत्र है और वह अपने कारण है और मेरा विकार भी मेरे कारण है, पर के कारण नहीं और फिर विकार क्षणिक है, द्रव्य त्रिकाल है। क्षणिक के कारण ये त्रिकाल नहीं है - इसप्रकार निर्णय करने से क्षणिक का आश्रय छोड़कर त्रिकालीस्वरूप का आश्रय

लेने से यथार्थ ज्ञान प्रकटता है। स्वपर-प्रकाशक ज्ञान प्रकट होने से पुद्गल का यथार्थ ज्ञान होता है।

(९) उद्योत- चन्द्रमा के विमान के प्रकाश को तथा जुगनू वगैरह तिर्यंच जीवों के शरीर के प्रकाश को उद्योत कहते हैं। वह उद्योत पुद्गलद्रव्य की विभावव्यंजनपर्याय है। चन्द्रमा के विमान में एकेन्द्रिय जीव है, इसलिए उद्योत है - ऐसा नहीं है। सिंह की आँख में प्रकाश दिखता है, वह जीव के कारण नहीं है; किन्तु वह उद्योत पुद्गलद्रव्य की विभावव्यंजनपर्याय है।

(१०) आतप- सूर्य के विमान के प्रकाश को तथा सूर्यकांत मणि के प्रकाश को आतप कहते हैं। उसके अन्दर एकेन्द्रिय जीव है, इसलिए प्रकाश है - ऐसा नहीं है। पुद्गल का द्रव्यसत्, गुणसत् और पर्यायसत् है। पर्याय पर के कारण होवे तो पर्याय सिद्ध नहीं होती। आतप पुद्गल की विभावव्यंजनपर्याय है।

पुद्गल के रूक्ष और स्निग्ध के कारण बंध होता है। वह जीव का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। यहाँ ऐसा आशय है कि शुद्धनिश्चयनय से जीव के निज आत्मा की प्राप्तिरूप सिद्धस्वरूप में स्वभावव्यंजनपर्याय है। आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है - ऐसी आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करके पूर्ण शुद्धता प्रकट होती है; वह सिद्धदशा है। वह दशा स्वभावव्यंजनपर्याय है। यहाँ सम्पूर्ण द्रव्य की पर्याय की बात चलती है। ऐसी शक्ति प्रत्येक जीव में रहती है, तब भी अनादि काल से अज्ञानी जीव कर्म के आधीन हुआ पुद्गल के स्निग्ध और रूक्ष के स्थानभूत राग-द्वेष कर्म करता है। कर्म उसको आधीन करते नहीं, लेकिन स्वयं को दया-दानादि विकार जितना मानकर अथवा कर्म आदि निमित्त के आधीन होकर मिथ्यात्व, राग और द्वेषरूप परिणमता है और इसलिए आत्मा के शुद्धस्वभाव के आश्रय से होनेवाली स्वाभाविक परमानन्दरूप स्वस्थ अवस्था से भ्रष्ट होता है अर्थात् आत्मा की निरोगदशा-आनन्ददशा उत्पन्न नहीं करता है। आत्मा का मूल स्वभाव तो ज्ञानरूप है, उसका ज्ञेय अपना आत्मा स्वयं है। उस रूप स्वयं, स्वयं में एकाकार होकर आनन्द का अनुभव करना चाहिए, वह नहीं करता है। स्वयं का एकरूप जानने का स्वभाव छोड़कर ये बाहर के पदार्थ हों, तब ठीक और न हों, तब अच्छा नहीं - इसप्रकार ज्ञेयों में सामान्यतया भेद करके ज्ञान मिथ्याभ्रांति,

राग और द्वेष में भटकता है। इससे अज्ञानी जीव मनुष्य, नारकी आदि विभावव्यंजनपर्याय रूप होता है।

मनुष्य और नारकी के शरीर की बात नहीं है। अन्दर आत्मा उसरूप परिणाम और आकार रूप हुआ, यह अरूपी आत्मा की विभावव्यंजनपर्याय की बात है। मैं सेठ हूँ, मैं पैसे वाला हूँ – ऐसा अभिमान करके स्वभाव से भ्रष्ट होकर चारों गति में घूमता है।

स्वयं का ज्ञान स्वपर-प्रकाशक है, वह ज्ञान प्रकट होने से उससे अविनाभावी आनन्द प्रकट होता है। वह आनन्द कैसा है? उसे ज्ञान जानता है। यहाँ आनन्द की मुख्यता से बात करते हैं। स्वयं के शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करके पूर्णता प्रकट करे, तब परमानन्द निरोग दशा प्रकटती है, किन्तु जो कर्म के आधीन होती है, उससे आकुलता होती है, चार गतिरूप परिणमन होता है। सिद्ध जीव स्वभाव व्यंजनपर्यायवाले हैं और पर के आधीन हुए जीव विभाव व्यंजनपर्यायवाले हैं। यह जीव का दृष्टान्त पूरा हुआ, उसका सिद्धान्त अब पुद्गल पर घटाते हैं।

इसीप्रकार पुद्गल में परमाणु शुद्ध निश्चयनय से स्वभाव व्यंजनपर्यायवाला है, तब भी पुद्गल में स्निग्ध तथा रूक्ष के कारण बंध होता है। इस नियमानुसार जीव के राग-द्वेष स्थानीय पुद्गल में रूक्ष-स्निग्ध के कारण दो परमाणु से अनन्त परमाणु तक स्वयं की योग्यता के समय स्कंधरूप अवस्था धारण करते हैं। पहले शब्द, बंध, स्थूल, सूक्ष्म वगैरह स्कंधों के दस भेद बताये, वे सब स्निग्ध-रूक्ष के कारण होते हैं। शब्द बोला जाता है, वह आत्मा से तो बोला नहीं जाता, ओंठ से भी नहीं बोला जाता, ओंठ आहारवर्गणा में से बना हुआ है। शब्द भाषावर्गणा में से रूक्ष और स्निग्ध के कारण बने हुए हैं। कर्म का बंध हो, वह आत्मा के राग-द्वेष के कारण नहीं; किन्तु रूक्ष-स्निग्ध के कारण कर्म बँधते हैं। घड़ा कुम्हार के कारण नहीं, आटा पनचक्की के कारण नहीं। इसप्रकार शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, उद्योत और आतप – ऐसे दश स्कंध के भेद रूक्ष और स्निग्ध के कारण होते हैं। ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं। इसप्रकार स्वतंत्रता बताकर निमित्ताधीन दृष्टि का निषेध कराया है।

और फिर इसीप्रकार शास्त्रों में बताये हुए लक्षण के धारक आकुंचन-प्रसारण आदि को विभावव्यंजनपर्याय जानना। शरीर का संकुचित होना, दुबला होना, वह पुद्गल की

अवस्था है। साँस ऊपर खींचने से शरीर संकुचित होता है, वह जीव के कारण तो नहीं है, किन्तु श्वाँस के कारण भी नहीं है। धमनी जैसी जोर से श्वाँस चलना, पैर का अकड़ जाना – ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं, इसमें जीव का अधिकार नहीं है। दूध में से दही होना, तिल में से तेल निकलना, मौसमी में से रस निकलना, बिजली होना, धनुष में से बाण की गतिरूप अवस्था होना – ये सब पुद्गल की अवस्थायें हैं। बरफ में से चूरा होना और फिर मिल जाना – यह सब अन्य के कारण नहीं, किन्तु उसमें रूक्ष-स्निग्ध गुण के कारण पृथक् होना अथवा मिल जाना होता है। उसका उस रूप का विभावव्यंजनपर्याय का काल है। इसप्रकार जो स्वभाव से समझता है, उसको भेदज्ञान होता है।

इस जगत में जड़ चैतन्य अनादि-अनन्त वस्तु है। जीव ज्ञानस्वभावी आदि और अन्त रहित है। उसकी पर्याय में राग-द्वेषरूप संसार है, वह राग-द्वेष मूलवस्तु नहीं है। मूलवस्तु तो शुद्ध ही है, इसप्रकार भान होने से स्वपर-प्रकाशक ज्ञान खिलता है। उस ज्ञान में आत्मा स्वयं निश्चय-ज्ञेय है और व्यवहार अन्य ज्ञेयों को भी जानता है कि विकार में अन्य पदार्थ निमित्त हैं। और फिर दूसरे पुद्गल दिखते हैं, वे भी अजीव हैं; वे जीव नहीं हैं। जो नहीं है, वह नया नहीं होता और जो है, वह सर्वथा नाश नहीं होता, उसका भवान्तर (पर्यायान्तर) होता है। वस्तु कायम (स्थिर) रहकर परिवर्तित होती है।

इस अजीवाधिकार की १५वीं गाथा में पुद्गल के गुण बताये। पुद्गल के समूह को स्कंध कहते हैं और छोटे से छोटे पुद्गल के अणु को परमाणु कहते हैं। उन सब में स्पर्श-रसादि गुण अनादि-अनन्त हैं। द्रव्य, गुण कायम रहते हैं और अवस्था बदलती है।

१६वीं गाथा में पुद्गल की अवस्था दश प्रकार से होती है – ऐसा बताया। इसप्रकार पुद्गल में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों सिद्ध किये। शब्द, बंध आदि पर्याय होती है, वह पुद्गल की दशा है; वह उनसे होती है, जीव से नहीं होती। आत्मा को स्व-परप्रकाशक यथार्थ ज्ञान होने से जड़ की दशा का यथार्थ ख्याल आता है। यह भाषा बोली जाती है – वह आत्मा से तो बोली नहीं जाती है, लेकिन ओंठ से भी नहीं बोली जाती है। ओंठ आहारवर्गणा में से बने हुए हैं और शब्द भाषावर्गणा में से बने हुए हैं, दोनों वर्गणायें भिन्न हैं। इसप्रकार भाषा का परिणमन होता है – ऐसा ज्ञान जानता है। लेकिन ज्ञान के

कारण भाषा नहीं है और भाषा के कारण ज्ञान नहीं है। भाषा, भाषा से है; ज्ञान, ज्ञान से है – इसप्रकार समझे बिना धर्म नहीं होता है।

कर्म का बंध पुद्गल की विभावव्यंजनपर्याय है और फिर आत्मा की पर्याय में होते दया-दानादि के परिणाम और काम-क्रोध के परिणाम आत्मा की मूलवस्तु नहीं है। यदि मूल में हो तो विकार कभी दूर न हो, इसलिए स्वभावदृष्टि से विकार को अभूतार्थ गिनकर पुद्गल की विकारीव्यंजनपर्याय कह दी है। संस्थान भेद वगैरह पुद्गल की अवस्था है। आटा पनचक्की से नहीं हुआ है। उससमय की भेदरूप अवस्था पुद्गल के कारण है।

अज्ञानी जीव संयोग को मानता है। संयोग के कारण पर में फेर-फार नहीं होता। संयोग आत्मा के फेर-फार नहीं करते, आत्मा संयोग में फेर-फार (परिवर्तन) नहीं करता। अंधकार होता है, वह पुद्गल की पर्याय है। दीपक बुझ गया, इसलिए अंधकार हुआ – ऐसा है ही नहीं। छाया वृक्ष से नहीं होती, वृक्ष स्थूल-स्थूल है, छाया स्थूल-सूक्ष्म है। अँगुली के धूप में रहने से छाया दिखती है, वह अँगुली के कारण नहीं है, उसीप्रकार जीव के कारण नहीं है और फिर जड़ की अवस्था होती है, वह जीव के भाव से होती है – ऐसा नहीं है और जीव को भाव होता है – इस कारण वृक्ष में अवस्था होती है – ऐसा भी नहीं है। इस प्रकार उद्योत, आतप वगैरह दश भेद बताये। वे पुद्गल की विभावव्यंजनपर्यायें हैं।

जैसे आत्मा त्रिकाल वस्तु, उसके ज्ञानादि गुण त्रिकाली और उनकी ज्ञानादि पर्याय प्रत्येक समय बदलती है। वैसे पुद्गल द्रव्य के स्पर्शादिगुण त्रिकाली हैं और उसकी पर्याय प्रतिसमय पलटती है, उन पर्यायों के दश भेद बताये। द्रव्य, गुण कायम रहते हैं और पर्याय नई-नई होती है। शब्द, बंध वगैरह दश प्रकार से स्कंधों की अवस्था होती है, उसकी खबर जड़ को नहीं है, किन्तु ज्ञानी जानता है कि यह पुद्गल की अवस्था पुद्गल के कारण होती है और वह आत्मा के ज्ञान से जानी जाती है, वह व्यवहार है। आत्मा स्वयं को जानता है, वह निश्चय है। पुद्गल अपने कारण दश प्रकार के स्कंधरूप परिणमते हैं – यह उसका निश्चय है, आत्मा उसको जानता है – यह व्यवहार है और स्वयं को जानता है – यह निश्चय है। इसप्रकार दो गाथाओं में पुद्गल का वर्णन संक्षेप में किया॥१६॥

❑❑❑

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-१७

अब धर्मद्रव्य का व्याख्यान करते हैं:-

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अछंत्ताणेव सो णेई॥१७॥

गतिपरिणतानां धम्मः पुद्गलजीवानां गमनसहकारी।
तोयं यथा मत्स्यानां अगच्छतां नैव सः नयति॥१७॥

स्वयं चलती मीन को जल निमित्त होता जिसतरह।
चलते हुए जिय-पुद्गलों को धरमदरव उसीतरह॥१७॥

गाथार्थ :- गमन करने में परिणत पुद्गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्म द्रव्य है, जिसप्रकार मछलियों को गमन करने में जल सहकारी है, उसीप्रकार गमन नहीं करते हुए जीव और पुद्गलों को वह (धर्मद्रव्य) गमन नहीं कराता।

टीका :- गतिरूप से परिणमित जीव और पुद्गलों को गति करने में सहकारी कारण धर्मद्रव्य है। उसका दृष्टांत कहते हैं - जिसप्रकार मछलियों को गमन करने में सहायक जल है, उसी की भाँति। अपने आप स्थित हो (स्वयं गति न करता हो) उनको (ऐसे जीव-पुद्गलों को) वह गमन नहीं कराता है। वह इसप्रकार - जिस प्रकार सिद्ध भगवान अमूर्त होने पर भी, निष्क्रिय और अप्रेरक होने पर भी मैं सिद्धसमान अनंत ज्ञानादि गुणस्वरूप हूँ - इत्यादि व्यवहार से सविकल्प सिद्धभक्तियुक्त ऐसे जीवों की और निश्चय से निर्विकल्पसमाधिरूप निज-उपादानकारण परिणत जीवों को सिद्धगति के सहकारी कारण हैं; उसीप्रकार निष्क्रिय, अमूर्त और अप्रेरक होने पर भी धर्मद्रव्य, अपने उपादानकारण से गति करते हुए जीव और पुद्गलों को गति में सहकारी कारण है - जैसे मछली आदि को जल आदि के गमन में सहायक होना लोक प्रसिद्ध दृष्टांत की भाँति। ऐसा अभिप्राय है।

इसप्रकार धर्मद्रव्य के व्याख्यानरूप से यह गाथा पूर्ण हुई॥१७॥

गाथा १७ पर प्रवचन

अन्यमती जीव-पुद्गल वगैरह को अपनी मान्यतानुसार मानते हैं, किन्तु धर्म और

अधर्म द्रव्य का नाम कहीं भी नहीं है। वे धर्म और अधर्म द्रव्य सर्वज्ञ भगवान ने देखे हैं, उनका वर्णन करते हैं।

जीव और पुद्गल स्वयं के कारण गमन करते हैं अथवा क्षेत्रान्तर करते हैं, उसमें धर्मद्रव्य निमित्त है। जिसप्रकार जल मछली को चलाने में सहकारी कारण है, प्रेरणा से चलाता नहीं है, उसीप्रकार गमन न करते हुए जीवों-पुद्गलों को धर्मद्रव्य प्रेरणा से कभी भी गमन नहीं कराता है। जो जीव और पुद्गल गमनक्रिया सहित हैं, उनको धर्मद्रव्य सहकारी कारण होता है। जिसप्रकार मछली के गमन में जल सहायक है, उसीप्रकार जीव-पुद्गल के गमन में धर्मद्रव्य निमित्त है; परन्तु जो जीव-पुद्गल स्वयं स्थिर हैं, उनको धर्मद्रव्य प्रेरणा से नहीं चलाता है। सिद्ध स्वयं के कारण से स्थिर हैं, उनको धर्म द्रव्य नहीं चलाता है। जो चलता है, उसके चलने में निमित्त कहा जाता है।

अब दूसरा दृष्टान्त देते हैं। सिद्ध भगवान अमूर्त हैं; स्पर्श-रस-गंध-वर्ण से रहित हैं, अक्रिय हैं अर्थात् गमन नहीं करते हैं। स्वयं में ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि आनन्द का रूपान्तर होता है; लेकिन वे क्षेत्रान्तर नहीं होते हैं, अतः क्रियारहित हैं तथा 'तू मेरा ध्यान कर'- ऐसी किसी को प्रेरणा नहीं देते, इसलिए प्रेरणारहित हैं।

इस जगत में अनन्तजीव भ्रमण करते हैं, फिर भी उन्हें उपदेश देने नहीं जाते। जैसे 'पुण्य-पाप में धर्म नहीं है, तेरी आत्मा में धर्म है'- ऐसा उपदेश भी देने नहीं जाते हैं। तब भी वे सिद्ध भगवान भव्यजीवों को सिद्धगति में सहकारी कारण होते हैं। वह कैसे? भव्यजीव विचार करता है कि "मैं सिद्ध समान हूँ, अनंतज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यादि गुणों का पिण्ड हूँ, सिद्ध की जाति और मेरी जाति एक है, स्वच्छत्व-प्रभुत्व-विभुत्व आदि शक्तियों का धारक हूँ, पर्याय में थोड़ा राग उठता है, वह मेरा यथार्थ स्वरूप नहीं है, निश्चय से तो मैं सिद्ध समान हूँ।" - इसप्रकार व्यवहार से जो सिद्ध की भक्ति का अर्थात् आत्मभक्ति का धारक है तथा जिसके निश्चय में स्वयं के चिदानन्द स्वरूप आत्मा का निर्विकल्प ध्यान वर्तता है - ऐसे जीव को सिद्ध भगवान निमित्त होते हैं। प्रथम सिद्ध के साथ स्वयं की आत्मा को समान समझने से राग की वृत्ति का उत्थापन होता है और वह विचारता है कि सिद्ध अशरीरी हैं, विकाररहित हैं, उनकी सभी पर्यायें शुद्ध प्रकट हुई हैं, इसीप्रकार मेरे में भी ऐसी ही शक्ति है और मै भी शुद्ध दशा प्रकट कर सकूँगा। ऐसा रागसहित विचार करना व्यवहार है; लेकिन वह व्यवहार

कब कहा जाता है?

उस व्यवहार का निषेध वर्तता है और स्वयं की आत्मा में शुद्ध उपादान के कारण निर्विकल्प ध्यान प्रकट किया है, उसको व्यवहार में सिद्ध भक्ति कहा जाता है। 'मैं सिद्ध हूँ' - ऐसे विकल्प से निर्विकल्प ध्यान प्रकट नहीं होता है; किन्तु 'मैं चिदानन्दस्वरूप हूँ' - ऐसे विकल्प से रहित अन्तर में एकाग्रता करने से निर्विकल्पता प्रकट होती है।

प्रश्न - सिद्ध तो शुद्ध हैं, इसलिए क्या वे परद्रव्य कहे जाते हैं?

समाधान - हाँ! सिद्ध परद्रव्य हैं। परद्रव्य के रागसहित विचार से लाभ नहीं होता। यदि तीन लोक के नाथ से कल्याण होता होवे तो सबका कल्याण होना चाहिए। उनके लक्ष्य से ध्यान नहीं होता, उन पर से लक्ष्य उठाकर स्वयं में एकाग्र होता है, तब निर्विकल्प ध्यान प्रकट होता है।

प्रश्न - यह कौन-से गुणस्थान की बात है?

समाधान - यहाँ चौथे गुणस्थान से निर्विकल्प ध्यान का प्रारम्भ होता है। चौथे, पाँचवें और सातवें तथा आगे के गुणस्थानों में निर्विकल्प ध्यान हो सकता है। मुनियों को निर्विकल्प ध्यान बार-बार आता है। मुनि के वस्त्र का एक तार भी नहीं होता, निर्ग्रन्थ दशावाले मुनि के बाह्य में नग्न अवस्था होती ही है। ऐसे ही महान मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने द्रव्यसंग्रह की ५८ गाथा में सारे लोकालोक का, छहद्रव्यों का स्वरूप बहुत अद्भुत रूप से गागर में सागर की तरह भर दिया है।

देखो! यहाँ तो धर्मास्तिकाय का गमन में सहकारीपना बताया है; लेकिन उसमें दृष्टान्त सिद्ध भगवान का दिया है। जिस भव्यजीव को स्वयं की आत्मा का भान होकर निर्विकल्प ध्यान प्रकट हुआ है - ऐसा भव्यजीव शुभराग के समय विचार करता है कि ''मैं ज्ञानानन्द हूँ - ऐसा विकल्प शुभराग है, धर्म नहीं है। सिद्ध तो अनंतज्ञानी, अनंतदर्शी हैं और मैं भी होनेवाला हूँ, यह वर्तमान राग अपराध है और वह अपराध तथा अल्पज्ञता शुद्ध स्वभाव के आश्रय से दूर हो जायेगी। मैं सिद्धदशा में वीतरागी, अनंतज्ञानी, अनंतदर्शी प्रकटरूप से होऊँगा।''

जो ऐसे निश्चय के भानपूर्वक सिद्ध के स्वरूप का विचार करता है, वह पुरुषार्थपूर्वक निर्विकल्प ध्यान करके सिद्धदशा प्रकट करता है। उसको सिद्धभगवान सिद्धगति में

सहकारी कारण होते हैं। वह तो जब स्वयं ही स्वयं के कारण सिद्धदशा प्रकट करता है; तब अमूर्तिक, अक्रिय और अप्रेरक सिद्ध भगवान उस भव्यजीव के प्रति निमित्त कहलाते हैं; किन्तु जो सिद्ध का विचार नहीं करते और व्यापार आदि की रुचि में दत्तचित्त रहते हैं, उनको सिद्ध भगवान प्रेरणा से विचार नहीं कराते हैं कि- "हे जीव! तू दु:खपूर्वक भ्रमण करता हुआ मर जायेगा। यह शरीररूपीपुद्‌गल परमाणुओं का स्कन्ध है, वह तेरे साथ आया नहीं और जायेगा भी नहीं। जैसे वह हमारा नहीं हुआ, वैसे तुम्हारा भी नहीं होगा। वह रूपी है और तू तो अरूपी है, तू मात्र ज्ञानस्वरूप है।"- ऐसा उपदेश अथवा प्रेरणा करने सिद्ध नहीं आते हैं।

जो अज्ञानी जीव यह नहीं समझते हैं, उनको वे (सिद्धजीव) निमित्त भी नहीं कहे जाते हैं। यदि सिद्ध के कारण जीव पार होता होवे तो सबको पार हो जाना चाहिए; किन्तु जो समझता है और ध्यान करता है वह सिद्धगति प्राप्त करता है। उसे सिद्ध सहकारी कारण कहे जाते हैं। यह जीवद्रव्य का दृष्टान्त पूरा हुआ।

इसीप्रकार धर्मस्तिकाय में सिद्धान्त घटित करते हैं। धर्मास्तिकाय भी क्रियारहित है, क्षेत्रान्तर नहीं करता, अमूर्त अर्थात् स्पर्श-रस-गंध-वर्ण आदि से रहित है। प्रेरणारहित है अर्थात् किसी को भी चलने की प्रेरणा नहीं देता है। इसप्रकार सिद्धजीव के समान धर्मास्तिकाय के तीन गुण कहे।

जो जीव और पुद्‌गल स्वयं ही उपादान कारण से क्षेत्रान्तर करते हैं, उन्हें धर्मद्रव्य निमित्त है। जैसे सिद्ध दूसरे जीवों को ध्यान अथवा भक्ति की प्रेरणा नहीं करते हैं; लेकिन ध्यानादिक करनेवालों को निमित्त हैं, वैसे ही धर्मद्रव्य जीव-पुद्‌गलों को प्रेरणा से नहीं चलाता है; किन्तु जो जीव-पुद्‌गल स्वयं गमन करते हैं उनको धर्मद्रव्य सहकारी कारण यानी निमित्त होता है। लोक में प्रसिद्ध दृष्टान्त है कि जिसप्रकार मछली के गमन में जल सहकारी कारण है, जल मछली को चलाने में कारण नहीं है; परन्तु जब मछली स्वयं चलती है, उसे जल निमित्त है; उसीप्रकार जीव-पुद्‌गल के गमन में धर्मद्रव्य सहकारी कारण जानना चाहिए।

इसप्रकार धर्मद्रव्य के व्याख्यानरूप गाथा समाप्त हुई॥१७॥

भगवान ने छह द्रव्य बताये हैं। किसी द्रव्य की सत्ता किसी अन्य द्रव्य के कारण

नहीं है। यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्य के कारण होता हो, तब छह द्रव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता।

द्रव्य जाति की अपेक्षा छह हैं। उनमें आत्मा अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक, तथा कालाणु लोकप्रमाण असंख्यात हैं। ऐसे अनन्त द्रव्य हैं, सभी स्वतंत्र हैं। स्वतंत्र कहने का तात्पर्य द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों की स्वतंत्रता से है। द्रव्य, गुण तो स्वतंत्र हैं ही; किन्तु उनकी पर्यायें अर्थात् जीव की विकारी-अविकारी पर्यायें भी स्वयं के कारण से हैं, पर के कारण नहीं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है।

पुद्गल स्कन्धरूप स्वतंत्रपने परिणमता है। पैसा आता है, पर वह आत्मा के कारण नहीं आता है तथा पैसा आत्मा को ममता भी नहीं कराता है।

प्रश्न - तब फिर पैसा अमुक स्थान में क्यों रहता है?

समाधान - अनन्तद्रव्य लोक में रह रहे हैं। यदि वे लोक को छोड़कर अलोक में जायें तो ऐसा प्रश्न हो सकता है; परन्तु लोक के द्रव्य लोक को छोड़कर कहीं पर जाते ही नहीं हैं।

जीव अभिमान करता है कि पैसा मेरी जेब में रहता है; परन्तु जेब पुद्गल है, जीव नहीं। लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति के पास पैसा है; लेकिन वह जीव लोक में है, लोक के बाहर नहीं है। पैसा पुद्गल है, जीव नहीं है। जीव जो ममता करता है, वह ममता जीव की है, उसको जीव कम कर सकता है। स्वभाव के आश्रय से ममता का अभाव प्रत्येक जीव कर सकता है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से मिलता है - ऐसा मानने पर छह द्रव्य नहीं रहते हैं। वास्तव में तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के लिए बेकार है, किसी काम का नहीं।

प्रत्येक आत्मा और पुद्गल द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, वे स्वयं ही स्वयं में कार्य करते हैं। यदि एक द्रव्य के कारण अन्य द्रव्य का कार्य माना जाये तो द्रव्य अनन्त नहीं रहते हैं, तब लोक भी नहीं रहेगा तथा ममता की पर्याय अन्य के कारण मानने में आये अथवा ममता पर्याय में नहीं - ऐसा मानने में आये, तब जीवद्रव्य नहीं रहेगा। पुण्य-पाप की अशुद्ध पर्यायें या अविकारी शुद्ध पर्यायें जीवद्रव्य में हैं। एक पर्याय को निकाल दो तो

अखण्ड जीव का नाश होता है।

प्रश्न – जीव की एक पर्याय को न मानने पर अखण्ड जीव का नाश कैसे होता है?

समाधान– सौ वर्ष की आयु में से एक समय निकाल दो तो सौ वर्ष की आयु नहीं रहती है। जिसप्रकार चादर में से एक तार (सूत) निकाल दो तो चादर अखण्ड नहीं रहेगी, उसीप्रकार चारित्रगुण की विकारी पर्याय को अन्य के कारण कहोगे तो एक पर्याय के निकल जाने पर चारित्रगुण अखण्ड नहीं रह सकेगा। द्रव्य तो जैसा है, वैसा ही है; लेकिन उसकी श्रद्धा में अखण्ड द्रव्य नहीं आयेगा अर्थात् उसके मिथ्या श्रद्धान होगा।

सर्वत्र भगवान की वाणी में जाति अपेक्षा छः और संख्या अपेक्षा अनन्त द्रव्य कहे गये हैं। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतंत्र हैं। पर्याय विकारी हो या अविकारी, वह पर के कारण से मानने में आये तो लोकालोक का नाश हो जाये। पाँच सौ कड़ियों की साँकल में से एक कड़ी के निकाल देने पर बड़ी साँकल नहीं रहती, टूट जाती है। प्रत्येक द्रव्य के अनादि-अनन्तकाल में भूत-भविष्य और वर्तमान काल की पर्यायें हैं। इसप्रकार तीन काल की पर्यायों का पिण्ड द्रव्य है।

(१) जिस द्रव्य की भूतकाल की पर्यायें हो गईं, वे तो कम नहीं की जा सकती हैं।

(२) द्रव्य की भविष्य की पर्यायें होती हैं, वे भी कम नहीं कही जा सकती हैं।

(३) अब वर्तमान में एक समय की पर्याय में अज्ञानी जीव गड़बड़ घोटाला करता है। 'यह राग पर के कारण हुआ है' और 'शब्द के कारण ज्ञानपर्याय हुई है' – इसप्रकार एक समय की पर्याय को पराधीन मानता है, अपने कारण से नहीं मानता; इससे द्रव्य खण्ड-खण्ड हो जाता है। एक समय में तेरा परिणाम तेरे से नहीं है – ऐसा मानने में आवे तो वर्तमान रूप में ऐसा प्रकट (सिद्ध) नहीं होता। तू त्रिकाली तो रहता नहीं है। राग होता है तो तेरे से, द्वेष होता है तो तेरे से, सम्यग्दर्शन होता है तो तेरे से और वीतरागता होती है तो तेरे से ही होती है। अहो वीतराग के वचन! एक-एक शब्द में अनन्त (अगाध) आगम भरा हुआ है – ऐसी कोई रचना है!

एक समय की पर्याय पर के कारण माने तो द्रव्य सिद्ध (साबित) नहीं होता और केवलज्ञान भी सिद्ध नहीं होगा। छह द्रव्यों में से एक द्रव्य कम करने पर, एक गुण

कम करने पर, एक पर्याय अन्य के कारण मानने पर अथवा कालद्रव्य को न मानने पर ज्ञान और श्रद्धा खण्ड-खण्ड हो जाती है। वस्तुओं का खण्ड और ज्ञेयों का खण्ड हो जाता है। एक भी बात रहती नहीं है।

एक समय की पर्याय स्वतन्त्र है – ऐसा निर्णय करने पर जीवद्रव्य का निर्णय होता है और केवलज्ञान का भी निर्णय होता है।

पुद्गल की पर्यायें छाया, तम वगैरह यदि पर के कारण होवें, भाषा जीव के कारण होवे, तब पुद्गल स्वतन्त्र नहीं रहता है। ऐसा कहकर पुद्गल को स्वतन्त्रपने से बताया गया है।

जीव और पुद्गल गमन करें, उसमें धर्मद्रव्य निमित्त है। निमित्त के कारण गमन करें तो द्रव्य की गमनपर्याय का नाश होने पर द्रव्य का नाश होता है।

भव्यजीव सिद्ध का विचार करता है, यदि निमित्त के कारण विचार होवे, तब विकल्प स्वतन्त्र नहीं रहता है। इसप्रकार विकल्प भी स्वतन्त्र है – ऐसा मानकर 'विकल्प तो मेरा त्रिकाली स्वभाव नहीं है, मैं तो ज्ञान मात्र हूँ'– ऐसी उपादान दृष्टि होने से सम्यग्दर्शन और ध्यान प्रकट होता है, उसमें सिद्ध भगवान निमित्त हैं, वे प्रेरणा से परिणमन नहीं कराते हैं। उसीप्रकार जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करते हैं, तब उनके धर्मद्रव्य निमित्त है, धर्मद्रव्य प्रेरणा से गति नहीं कराता है।

❑❑❑

शुभराग असंख्यप्रकार का है तथा अशुभ के भी असंख्यप्रकार हैं, वह सब जीव के नहीं हैं। ऐसे तो दसवें गुणस्थान तक राग है और यहाँ कहा है कि राग जीव को नहीं है; क्योंकि जीव के स्वरूप में राग है ही नहीं; किन्तु स्वरूप की दृष्टि करने पर जो अनुभूति होती है, उसमें भी राग का अभाव है। दसवें गुणस्थान में राग है – ऐसा कहकर पर्याय की स्थिति का ज्ञान कराया है; परन्तु यहाँ तो पर्याय की स्थिति की बात है, वस्तुस्वरूप कैसा है, वह कहकर वस्तु की दृष्टि करायी है, इसलिए राग जड़ में है, पुद्गल के परिणाम हैं, अचेतन हैं, उनमें चेतनता नहीं है इसलिए वे जीव में नहीं हैं, जीव के नहीं हैं। जीव के आश्रय से अनुभूति होती है, वह राग से भिन्न होकर होती है, यदि राग जीव का हो तो वह भिन्न नहीं होगा।

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-५७

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-१८

अब अधर्मद्रव्य को कहते हैं:-

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई॥१८॥

स्थानयुतानां अधर्म्मः पुद्गलजीवानां स्थानसहकारी।
छाया यथा पथिकानां गच्छतां नैव सः धरति॥१८॥

छाया निमित्त ज्यों गमनपूर्वक स्वयं ठहरे पथिक को।
अधरम त्यों ठहरने में निमित्त पुद्गल-जीव को॥१८॥

गाथार्थ :- स्थितियुक्त पुद्गल और जीवों को स्थिति में सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है, जिसप्रकार छाया यात्रियों की स्थिति में सहकारी है; उसीप्रकार गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को अधर्मद्रव्य स्थिर नहीं करता है।

टीका :- स्थितियुक्त पुद्गल और जीवों की स्थिति में सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है। वहाँ दृष्टांत- जिसप्रकार छाया यात्रियों की स्थिति में सहकारी है, उसीप्रकार स्वयं गति करते हुए जीव और पुद्गलों को वह स्थिर नहीं करता है। वह इसप्रकार स्वसंवेदन से उत्पन्न सुखामृतरूप परमस्वास्थ्य यद्यपि निश्चयनय से स्वरूप में स्थिति का कारण है तथा **सिद्धो अहं सुद्धो अहं अणंतणाणागुणसमिद्धो अहं। देहपमाणो णिच्चो असंखदेशो अमुत्तो च।** (मैं सिद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ, अनंतज्ञानादि गुणों का मैं धारक हूँ, मैं देहप्रमाण, नित्य, असंख्यप्रदेशी और अमूर्त हूँ।) इस गाथा में कथित सिद्धभक्ति रूप से पहले सविकल्प अवस्था में सिद्ध भी जिसप्रकार भव्यों को सहकारी कारण होते हैं, उसीप्रकार अपने उपादान कारण से स्वयमेव स्थिति करते हुए जीव और पुद्गलों को अधर्मद्रव्य स्थिति का सहकारी कारण है, लोकव्यवहार से छाया अथवा पृथ्वी की भाँति। इसप्रकार सूत्रार्थ है। इसप्रकार से अधर्मद्रव्य के कथन की गाथा पूर्ण हुई॥१८॥

गाथा १८ पर प्रवचन

अब अधर्म द्रव्य की बात करते हैं। गमन करते हुए जीव और पुद्गल जब स्वयं रुके, तब उनमें अधर्म द्रव्य निमित्त है।

जो जीव और पुद्गल स्थित हैं, उनकी स्थिति में अधर्म द्रव्य सहकारी कारण है।

जैसे-वृक्ष मुसाफिरों को प्रेरणा देकर जबरदस्ती से खड़ा नहीं करता, ठहराता नहीं है; परन्तु ठहरने में निमित्त होता है, वैसे ही अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों को प्रेरणा से ठहराता नहीं; परन्तु जो स्वयमेव ठहरे रहें, तब अधर्म द्रव्य उनको निमित्त है।

जो जीव और पुद्गल स्थिति सहित हैं, अधर्म द्रव्य उनकी स्थिति में सहकारी कारण है, जिसप्रकार छाया मुसाफिर की स्थिति में सहकारी कारण है। तथा जो जीव और पुद्गल स्वयं चलता होवे, उसको अधर्म द्रव्य कभी भी प्रेरणा से स्थित नहीं करता है। इसके लिए सिद्ध का दृष्टान्त देते हैं।

जिसप्रकार स्वयं के आत्मा से उत्पन्न सुखामृतरूप परमस्वस्थ निजरूप में स्थित होने का निश्चय कारण स्वयं ही है तो भी मैं सिद्ध समान हूँ - इसप्रकार सिद्ध की भक्ति करने रूप विकल्पदशा स्वस्वरूप की स्थिति कराने में निमित्त है। और उस विकल्प में सिद्ध निमित्त हैं, इसलिए सिद्ध को निजस्वरूप में स्थित होने पर बहिरङ्ग सहकारी कारण कहा जाता है। उसीप्रकार अपने कारण गमनपूर्वक स्थित होते हुए जीव और पुद्गल में अधर्म द्रव्य निमित्त है। अब दृष्टान्त का विस्तार करते हैं -

स्वयं के आत्मज्ञान से उत्पन्न सुखामृतरूप परमस्वास्थ्य कहा। मैं आत्मा हूँ, पुण्य-पाप विकार हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञानादि अनंत शक्तियों का स्वामी हूँ - ऐसे आत्मज्ञान से सुख उत्पन्न होता है। किसी गुरु की कृपा से अथवा शास्त्र से ज्ञान होता है - यह बात दिमाग में से निकाल दो। वैसे ही शास्त्र का ज्ञान अथवा तत्त्व का ज्ञान, ज्ञान नहीं कहा है; परन्तु आत्मज्ञान को ज्ञान कहा है। 'मैं आत्मा हूँ' - इसप्रकार अस्तिपने के जोर से दूसरे तत्त्वरूप में नहीं हूँ - ऐसा ज्ञान आ जाता है। पुण्य-पाप उपाधियाँ हैं, उन रूप मैं नहीं हूँ, मैं तो त्रिकाली शुद्ध हूँ - इसप्रकार आत्मज्ञान से आनन्द उत्पन्न होता है, अन्य कोई विधि से उत्पन्न नहीं होता है। आनन्द कहो, शांति कहो, धर्म कहो, वह ही आत्मा का परमस्वास्थ्य है। तुम्हारी तन्दुरुस्ती तुम्हारे शरीर में नहीं है, पुण्य-पाप के परिणामों में भी नहीं है; पुण्य-पाप का भाव तो रोग है, दया पालूँ, दान करूँ, ऐसी वृत्ति होना रोग है, आत्मा की निरोग दशा नहीं है। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता (चारित्र) से उत्पन्न हुए परमसुखामृतरूपी पिण्ड में आत्मा का स्वास्थ्य अथवा निरोगता रहती है। उसको धर्म दशा कहो, शांति का मार्ग कहो, निरोग दशा कहो, सब एक ही है। '**आरूग्ग बोहिलाभ**' - यह पाठ लोग्गस में आता है। हे प्रभु! ऐसे आरोग्य का लाभ दीजिए - ऐसा इसका अर्थ है।

अज्ञानी जीव पराधीनता का पोषण कदम-कदम पर करता है। इसके बिना नहीं चल सकता - ऐसा मानकर दुखी होता है या दु:ख का अनुभव करता है। दु:ख कहो या अधर्म कहो एक ही है, वह दु:ख ही अधर्म है।

प्रश्न - यह दु:ख तो हमारी आदत बन गया है?

समाधान - नहीं, अज्ञानीजीव दु:ख की दशा का वेदन नये-नये रसपूर्वक कर रहा है। उसको वह दु:ख होवे तभी तो वह आदत कही जाये; परन्तु पूर्व की पर्याय तो रहती नहीं है, टल जाती है, इससे आदत नहीं रहती; किन्तु नयी-नयी रुचि के कारण विकार में मजा माने बैठा है, इससे उसे दु:ख भासित नहीं होता है। जैसे गंदगी के कीड़े को गंदगी में ही मजा आता है, वैसे ही अज्ञानी जीवों को जगत के पदार्थों में प्रीति होती है, यह सब दु:ख का कारण है।

जिसको शांति चाहिए हो, उसको आत्मज्ञान द्वारा अपने आत्मा में से शांति प्रकट करनी पड़ेगी, शांति बाहर में कहीं भी नहीं है। लोग भी कहते हैं कि "**पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं।**" अपने स्वभाव से चूककर परवश होकर पुण्य-पापादिभाव करता है, वह विष है, दु:ख है तथा अन्य के कारण से नहीं, स्वयं के ही कारण है; परन्तु अशुद्धता के काल में भी त्रिकाली शुद्धस्वभावरूपी सुख की खान अन्दर भरी पड़ी है। उसकी दृष्टि (लक्ष्य) करके आत्मा में स्थिरता करनी चाहिए, वह आनंद का कारण है।

जैसे सर्वार्थसिद्धि के देवों को तेतीस हजार वर्ष में आहार करने की इच्छा होती है तो उनके कंठ में से अमृत झरने लगता है, उसके स्वाद से ही तृप्ति हो जाने के कारण वे कल्पवृक्ष की इच्छा नहीं करते हैं। वैसे धर्मी जीव को 'मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ' - ऐसा भान है, उससे उत्पन्न हुए आनंद के बीच में परपदार्थों और पुण्य की रुचि नहीं होती है। जैसे मिठाई में तल्लीन हुए जीव को दूसरा कोई बुलावे तो उसे ख्याल नहीं रहता, वैसे ही धर्मी जीव अपने आत्मज्ञान से उत्पन्न हुए अमृतरस के स्वाद में दूसरों की याद नहीं करता है।

इसप्रकार निजस्वरूप में स्थित होने का कारण स्वयं ही है। अब उसके व्यवहार कारण कहते हैं - "मैं सिद्ध हूँ, जैसे सिद्ध अशरीरी हैं, शरीर और कर्म के विकार से रहित आनंदस्वरूपी हैं, वैसा ही मैं हूँ, सिद्ध की जाति और मेरी जाति एक ही है"- ऐसे विकल्पों के द्वारा विचार करता है। "राग की वृत्ति उठती है; परन्तु वह मेरे त्रिकाली

स्वरूप में नहीं है, अतः मैं शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य आदि अनंत गुणों को धारण करनेवाला हूँ।''

''तथा मेरा क्षेत्र शरीरप्रमाण है, लोकालोक में व्यापक नहीं है, लोकालोक में व्यापक हो तो बाहर से आनंद आना चाहिए। तथा बिच्छू के काटने पर उस क्षेत्र में मुझ को दुःख होता है (खबर पड़ती है); परन्तु दूसरा जीव उस भाग को हाथ लगाये तो उसे दुख नहीं होता है, इससे आत्मा अपने शरीरप्रमाण है। और मैं नित्य हूँ, मेरा कभी नाश नहीं होता है तथा में शुद्ध हूँ - ऐसा विचार पर्याय में होता है। पर्याय अनित्य है - ऐसी भी सिद्धि होती है, पर्याय बदलने पर भी आत्मा द्रव्य और गुणों के कारण नित्य है, इसलिए मैं नित्य हूँ।''

अब क्षेत्र की सिद्धि करते हैं। ''मैं असंख्यप्रदेशी हूँ, एक परमाणु आकाश में जितनी जगह घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं - ऐसे मैं असंख्य प्रदेशवाला हूँ। मैं स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-से रहित हूँ, अभी भी अरूपी हूँ - ऐसा धर्मीजीव सिद्ध का विचार करके अपने स्वरूप का विचार करते हैं। विकल्पवाली दशा में सिद्ध निमित्त कहलाते हैं। विकल्प दशा होने में विकल्प अन्तरंग सहकारी कारण है और सिद्ध भगवान बहिरंग कारण हैं।''

जिसप्रकार भव्यजीव की निजस्वरूप स्थिति में उपादान कारण वह स्वयं ही है और बहिरंग सहकारी कारण सिद्ध भगवान हैं, उसीप्रकार जीव और पुद्गल स्थिति को प्राप्त करते हैं, उसमें उपादान कारण स्वयं ही हैं तथा अधर्मद्रव्य निमित्त कारण है। जैसे सिद्ध जीवों को प्रेरणा करके स्वरूप में स्थित नहीं कराते हैं; परन्तु जो स्वरूप में स्थित होते हैं, उनको निमित्त हैं, वैसे अधर्म द्रव्य जीव-पुद्गल को जबरदस्ती प्रेरणा करके स्थिर नहीं करता है; परन्तु जो अपने कारण गमनपूर्वक स्थिर होता है, उसमें अधर्मद्रव्य निमित्तकारण है।

जैसे लोकव्यवहार में जो मुसाफिर ठहरते हैं, उनको पृथ्वी और छाया निमित्त कहलाती है, छाया और पृथ्वी जबरदस्ती उन्हें ठहराती नहीं है, वैसे अधर्मद्रव्य जबरदस्ती से नहीं ठहराता है; परन्तु जब जीव और पुद्गल स्वयं ठहरते हैं, उनको निमित्त होता है।

इसप्रकार जैसे पर के कारण स्थिति नहीं है, वैसे ही परपदार्थ नहीं हैं - ऐसा भी नहीं है। निमित्त प्रेरक होकर स्थिति नहीं कराता है - ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

इसतरह अधर्मद्रव्य का व्याख्यान पूरा हुआ। ❑❑❑

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-१९

अब आकाशद्रव्य का कथन करते हैं -

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणां वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥

अवकाशदानयोग्यं जीवादीनां विज्ञानीहि आकाशम्।
जैनं लोकाकाशं अलोकाकाशं इति द्विविधम् ॥१९॥

आकाश वह जीवादि को अवकाश देने योग्य जो।
आकाश के दो भेद हैं जो लोक और अलोक हैं ॥१९॥

गाथार्थ :- जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने के योग्य है, उसे जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित आकाशद्रव्य जानो। लोकाकाश और अलोकाकाश इस भाँति आकाश दो प्रकार का है।

टीका :- हे शिष्य! जिसमें जीवादि को अवकाश देने की योग्यता है, उसे जिनेन्द्रकथित आकाशद्रव्य जानो। वह लोक और अलोकरूप आकाश के भेद से दो प्रकार का है।

अब इसका विस्तार कहा जाता है- सहज शुद्ध सुखामृतरस के आस्वादवाले परम सरमरसीभाव से भरितवस्थ, केवलज्ञानादि अनंतगुण के आधाररूप, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात निज शुद्ध प्रदेशों में यद्यपि निश्चयनय से सिद्धभगवंत रहते हैं तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से सिद्ध भगवान मोक्षशिला पर रहते हैं - ऐसा कहा जाता है, इसप्रकार पहले कहा गया है। ऐसा मोक्ष जिस प्रदेश में परमध्यान द्वारा आत्मा स्थिर होकर कर्मरहित होता है, वहाँ ही होता है; अन्यत्र नहीं। ध्यान करने के स्थान में कर्मपुद्गलों को छोड़कर ऊर्ध्वगमन स्वभाव से गति करके मुक्तात्मायें लोकाग्र में स्थिर होती हैं, अत: उपचार से लोक के अग्रभाग को भी मोक्ष कहते हैं। तीर्थस्वरूप पुरुष के द्वारा सेवित भूमि-जलादिरूप स्थान भी उपचार से तीर्थ (कहा जाता) है। इसप्रकार सरलता से बोध होने के लिए कहा जाता है। उसीप्रकार सर्व द्रव्य, यद्यपि निश्चयनय से अपने प्रदेशों में रहते हैं तो भी, उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से लोकाकाश में रहते हैं। इसप्रकार भगवान श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव का अभिप्राय जानना चाहिए ॥१९॥

गाथा १९ पर प्रवचन

जो जीवादि द्रव्यों को अवकाशदान के योग्य है, उसे जिनमतानुसार आकाशद्रव्य जानना चाहिए। यह आकाशद्रव्य लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से दो प्रकार का है।

इस जगत में छह द्रव्य हैं, वे अपने-अपने स्वरूप की अपेक्षा सत् और परस्वरूप की अपेक्षा असत् हैं। यहाँ आकाशद्रव्य की बात करते हैं। आकाश लोकालोक में व्यापक है और जीवादि द्रव्यों को अवकाश देता है अर्थात् जहाँ पाँच द्रव्य स्वयं रहते हैं, वहाँ आकाशद्रव्य निमित्त है। आकाशद्रव्य के दो भेद हैं – (१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश।

जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने की जिसमें योग्यता है, उसे जिनेन्द्र भगवान आकाशद्रव्य कहते हैं। उसका अंत नहीं है, अनन्त विस्तृत क्षेत्र में भी ज्ञान को ले जायें तो कहीं भी अन्त नहीं आता है, अत: आकाश अनन्तप्रदेशी है। यह ज्ञान आकाश को नहीं है; परन्तु आत्मा उसे जानता है। आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है, वर्तमान पर्याय में राग में अटका होने से अल्पज्ञता है; परन्तु निजस्वभाव के भानपूर्वक केवलज्ञान प्रकट करे तो केवलज्ञान-पर्याय में सम्पूर्ण आकाश प्रत्यक्ष दिखायी देता है।

सम्पूर्ण लोकालोक अनंत द्रव्यों से युक्त है। जगत में अकेला आकाशद्रव्य ही नहीं है, अन्य भी अनंतानंत द्रव्य हैं। उन सभी को द्रव्य-गुण-पर्याय सें एक समय में युगपत् जानने की सामर्थ्य केवलज्ञान में है। अनन्त द्रव्यों में आकाशद्रव्य एक तथा अपरिमित है। इससे उसका माहात्म्य नहीं है, माहात्म्य तो आकाशसहित अनन्तद्रव्यों को जाननेवाले केवलज्ञान का है।

'केवलज्ञान प्रकट करने की सामर्थ्यवाला ज्ञानानन्द स्वभावी पदार्थ मैं हूँ' – ऐसी प्रतीतिपूर्वक स्वसंवेदनज्ञान प्रकट करे तो आकाशसहित अनंतानंत द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान सहज हो जाता है।

यह ऊपर जो नीला-नीला दिख रहा है, वह आकाश नहीं है; वह तो पुद्‌गल की पर्याय है। आकाश नीला और काला नहीं है, वह तो अरूपी है। जीवादि द्रव्यों को रहने के लिए जगह देता है, उस आकाश को ज्ञान जानता है।

अपने घर में दो सौ, पाँच सौ वस्तुयें हों तो मैं इनका हूँ और ये मेरी हैं – ऐसी ममता करके अज्ञानी जीव अटक जाता है। उन वस्तुओं से अनंतगुनी वस्तुयें जगत में हैं। आकाश क्षेत्र की अपेक्षा बड़ा है; परन्तु संख्या में एक ही है। उसके अलावा जगत में अनंत जीव, अनंतानंत पुद्गलादि द्रव्य हैं। वे द्रव्य तेरे नहीं हैं, तू तो उनको जाननेवाला है; परन्तु अज्ञानी को अपने ज्ञान की महिमा नहीं आती। अज्ञानी जीव कुछ ही चीजों को अपनी मानकर ममता करता है तथा आकाश इतना विस्तृत और अपरिमित है – ऐसा विचार करता है। इसप्रकार परज्ञेयों की महिमा में अटक गया है। उसे अपनी ज्ञानशक्ति की महिमा नहीं आती है, फिर धर्म कहाँ से हो? आकाश अपरिमित है, उस अपरिमित आकाश और अनंत द्रव्यों का माप करनेवाला तू है – ऐसी अपने ज्ञान की महिमा ला।

सिद्ध जीव वास्तव में अपने असंख्यप्रदेशों में रहते हैं। वे स्वाभाविक तथा शुद्ध सुखरूपी अमृतरस का आस्वादन करने से परम समतारस आदि भावों से युक्त हैं। यहाँ सिद्धों का स्वाभाविक सुख कहा है। लोग बाह्य पदार्थों में जो सुख मानते हैं, वह सुख नहीं है। सुख तो आत्मा में है। सिद्ध तो साक्षीरूप हैं, वे किसी के कर्त्ता-हर्त्ता नहीं हैं। जब आत्मा पूर्ण दशा को प्राप्त कर लेता है तो विषमता नहीं रहती। इसके अलावा एक आत्मा अपनी ही आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान कर पूर्ण दशा को प्राप्त करना चाहे तो जितना समय संसार में भटकने में गया उतना काल सिद्धदशा प्राप्त करने में नहीं लगता अर्थात् उसे अनन्तकाल नहीं चाहिए, वह तो अल्पकाल में सिद्ध दशा प्राप्त कर सकता है।

निश्चय से सिद्ध लोकाकाश जितने अपने असंख्य प्रदेशों में रहते हैं तो भी उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से सिद्ध भगवान सिद्धशिला पर विराजमान हैं – ऐसा कहा जाता है।

संसार अवस्था में भी सभी जीव सिद्ध जीवों की तरह निश्चय से अपने-अपने असंख्य प्रदेशों में ही रहते हैं। निगोद से लेकर सभी जीव अपने गुणों के आधारभूत असंख्यप्रदेशों में अपनी योग्यतारूप परिणमन करते हुए रहते हैं। जैसे संसारी जीव शरीर में रहता है – ऐसा कहना व्यवहार है; क्योंकि शरीर के साथ आत्मा एकमेक नहीं हो जाता, वैसे ही सिद्ध भगवान मोक्षशिला पर रहते हैं – ऐसा कहना निमित्ताधीन कथन

है; क्योंकि भगवान और मोक्षशिला एकमेक नहीं हो गये, आकाश भी उनसे एकमेक नहीं हो गया।

तथा जीव जिस क्षेत्र में आत्मा का ज्ञान-ध्यान करके कर्मरहित होता है, सिद्धशिला में उसी की सीध में ऊपर रहता है, अन्य दूसरी जगह नहीं। सिद्ध जीव शुक्ल ध्यान प्रकट कर कर्मरहित होते हैं और उर्ध्वगमन स्वभाव से लोकाग्र में जाते हैं। जिस समय मुक्त होते हैं, उसी समय लोक के अग्रभाग में पहुँच जाते हैं।

पहले जीव को सम्यग्दर्शन होता है, फिर मुनिपना अंगीकार करके, शुक्ल ध्यान में लीन होकर केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्धदशा प्राप्त कर लेता है। सिद्धदशा आत्मा की पर्याय में होती है, अन्यत्र नहीं। कोई उपवास आदि शुभ भावों से सिद्ध नहीं होता है, एक ध्यान को ही मुक्ति का कारण कहा है। सम्यग्दर्शन ध्यान है, सम्यक्चारित्र ध्यान है और शुक्लध्यान भी ध्यान है, वह तो एक उपाय ही है। केवलज्ञान होने पर चार कर्मों का नाश हुआ तथा सिद्ध होने पर शेष चार कर्मों का भी नाश हो जाता है, शरीर भी छूट जाता है, केवल स्वयं का आत्मा अकेला रह जाता है। मोक्षदशा तो अपनी पर्याय में प्रकट होती है; परन्तु उपचार से लोक के अग्रभाग को मोक्ष का स्थान कहा जाता है।

जहाँ बड़े-बड़े धर्मात्मा विराजते हों, आत्मा के ज्ञान-ध्यान में ही लगे रहते हों, उस भूमि को व्यवहार से तीर्थक्षेत्र कहते हैं। वास्तव में तो जो आत्मा का ज्ञान-ध्यान करते हैं, वे ही वास्तव में तीर्थ हैं। जो स्वयं तिरता है और दूसरों को तारने में निमित्त है - इसप्रकार तिरने का उपाय करता हुआ जीव स्वयं तीर्थ है। फिर भी उस भूमि को व्यवहार से तीर्थक्षेत्र कहते हैं, वहाँ पर्वत, नदी, आदि धर्म नहीं कराते। पर्वत पर तिर्यञ्च रहते हैं, नदी में मछलियाँ रहती हैं, प्रतिदिन स्नान करती हैं, फिर भी उनके परिणाम अच्छे नहीं होते। इसलिए जो स्वयं तिरता है, उसके प्रति भूमि से तिरा - ऐसा आरोप आता है।

इसीप्रकार सिद्धजीव जहाँ रहते हैं, वहाँ निगोदिया जीव हैं और वे अनन्त-अनन्त आकुलता को भोगते हैं। इसलिए कोई स्थल धर्म और शान्ति का कारण नहीं, आत्मा की पूर्ण पवित्र दशा ही सुख का कारण है। आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय से अरूपी है, वह

तो अपने गुणपर्यायों में ही रहता है और स्वयमेव आत्मा के गुण-पर्याय असंख्यप्रदेशों में रहते हैं, वह आत्मा का अपना क्षेत्र है। प्रत्येक वस्तु अपने में है, आकाश में नहीं। तब सिद्ध लोकाकाश के अग्रभाग में रहते हैं अथवा आत्मा आकाश में रहता है - ऐसा कहना असद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

यदि कोई अपने मकान के आगे दीवाल बनाये तो जीव झगड़ा करता है। अरे भाई! तू अभिमान छोड़, मकान आदि तेरी वस्तुयें नहीं हैं। जीव अपने मकान में रहता है या आकाश में रहता है - ऐसा कहना उपचार है। प्रत्येक जीव अपने असंख्यप्रदेशों में रहता हुआ गुण-पर्यायरूप परिणमित होता है, पररूप परिणमित नहीं होता। वह तो अपने स्वरूप में विराजित रहता हुआ शोभायमान हो रहा है, तो भी उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से लोकाकाश में सभी द्रव्य रहते हैं - ऐसा कहने में आता है।

❑❑❑

अन्य गुरु की सेवा न कर...

हे जीव! तू ही तेरा तीर्थ है, वहीं स्थिरता कर, दूसरे तीर्थों में न जा, न जा! व्यवहार निषेध्य है न। इसलिए यहाँ योगीन्द्रदेव स्पष्ट करते हैं कि सम्मेदशिखर आदि तीर्थ तो पर तीर्थ हैं, वहाँ न जा। उसके लक्ष्य से तुझे शुभराग होगा। तू अपने परम तीर्थस्वरूप आत्मा में आरूढ़ हो। उससे तुझे निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होगा। अन्य गुरु की सेवा न कर, उसके लक्ष्य से तुझे राग होगा। तू अपने परमार्थ गुरु की सेवा कर, उसी से तुझे आनन्द की प्राप्ति होगी। देव की सेवा कर, अन्य देव अरिहन्त, सिद्ध का ध्यान न कर। भाई! उनके लक्ष्य से शुभ विकल्प तथा पुण्य-बंधन होगा। तू अपने आत्मदेव का ध्यान कर, जिससे तुझे आनन्द के नाथ की भेंट होगी। तू अपने परम देव, गुरु और तीर्थ के समीप जा। ऐसा कहकर राग के कारणभूत व्यवहार देव-गुरु-तीर्थ का लक्ष्य छुड़ाकर आनन्द के कारणभूत परमार्थ देव-गुरु-तीर्थ का लक्ष्य कराया है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-७९

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-२०

उसी लोकाकाश को विशेषरूप से दृढ़ करते हैं:-

धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्ति॥२०॥

धर्म्माधर्मौ कालः पुद्गलजीवाः च सन्ति यावतिके।
आकाशे सः लोकः ततः परतः अलोकः उक्तः॥२०॥

काल धर्माधर्म जिय पुद्गल रहें जिस क्षेत्र में।
वह क्षेत्र ही बस लोक है अवशेष क्षेत्र अलोक है॥२०॥

गाथार्थ :- धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव - ये पाँच द्रव्य जितने आकाश में रहते हैं, वह लोकाकाश है। उस लोकाकाश से बाहर अलोकाकाश है।

टीका :- धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव जितने आकाश में हैं, वह लोकाकाश है। कहा भी है - जहाँ जीवादि पदार्थ देखने में आते हैं, वह लोक है। उस लोकाकाश से बाहर अनंत आकाश है, वह अलोकाकाश है।

यहाँ सोम नामक राजश्रेष्ठी प्रश्न करता है - हे भगवन्! केवलज्ञान के अनन्तवें भागप्रमाण आकाशद्रव्य है, उसके भी अनंतवें भाग में सर्व मध्यम प्रदेश में (बीच में) लोकाकाश है और वह अनादिनिधन है, किसी भी विशिष्ट पुरुष द्वारा न रचा गया है, न नष्ट होता है, न धारण किया जाता है और न रक्षा किया जाता है तथा वह असंख्यात-प्रदेशी है। उस असंख्यातप्रदेशी लोक में अनंतजीव, उनसे भी अनंतगुणे पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालद्रव्य, प्रत्येक लोकाकाश प्रमाण ऐसे धर्म और अधर्म दो द्रव्य - ये पदार्थ किसप्रकार अवकाश प्राप्त करते हैं?

भगवान उत्तर देते हैं - एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश, एक गूढ़ रस के शीशी में बहुत-सा स्वर्ण, राख से भरे घड़े में सुई और ऊँटनी का दूध जिस प्रकार समा जाता है - इत्यादि दृष्टांत से, विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण असंख्य-प्रदेशी लोक में भी पूर्वोक्त पदार्थों के अवगाह में विरोध नहीं आता है। तथा यदि इसप्रकार की अवगाहनशक्ति न हो तो लोक के असंख्य प्रदेशों में असंख्य परमाणुओं का ही समावेश होता और ऐसा होने पर जिसप्रकार शुद्धनिश्चयनय से शक्तिरूप से सब

जीव निरावरण और शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभावयुक्त हैं, उसीप्रकार व्यक्तिरूप से व्यवहारनय से भी हो जाते; परन्तु ऐसा तो है नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम - दोनों प्रकार से उसमें विरोध है।

इसप्रकार आकाशद्रव्य के प्रतिपादनरूप से दो गाथायें समाप्त हुईं॥२०॥

गाथा २० पर प्रवचन

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल - ये सभी द्रव्य आकाश के जितने भाग में रहते हैं, वह लोकाकाश है; इसके अलावा अलोकाकाश है।

चैतन्यलक्षणवाले जीव अनंत और अरूपी, स्पर्शादिगुणवाले अनंतानंत पुद्गल रूपी हैं। जीवों और पुद्गलों की गति और स्थिति में निमित्त क्रमश: धर्म और अधर्म द्रव्य अचेतन और अरूपी तथा संख्या में एक-एक हैं। अचेतन, अरूपी और एक प्रदेशवाला कालद्रव्य असंख्यात है। ऐसे पाँच प्रकार के द्रव्य जहाँ रहते हैं, वह लोकाकाश है।

लोकाकाश असंख्य योजन प्रमाण तथा अलोकाकाश अपरिमित है।

आकाशद्रव्य अपरिमित होकर भी केवलज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष जानने में आता है। जगत में अनंतानंत पदार्थ ज्ञेय हैं, उन सभी को केवलज्ञान जानता है। आकाशद्रव्य भी अनन्त ज्ञेयों में से एक है। अत: वह भी केवलज्ञान के ज्ञेयों के अनंतवें भाग में आ जाता है। इसप्रकार केवलज्ञान के ज्ञेयों में आकाश अनंतवें भाग है।

आकाश अपरिमित क्षेत्रवाला है, इससे उसकी महिमा नहीं है; महिमा तो उसको जाननेवाले ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान की है; जो लोकालोकाकाश सहित अनंतद्रव्यों को एक साथ प्रतिसमय जानता है।

'आत्मा की सच्ची समझ बिना धर्म नहीं होता है', इसलिए मैं कौन हूँ? आत्मा क्या है तथा उसकी सामर्थ्य कितनी है? द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप क्या है? यह सब हमें जानना चाहिए, शास्त्रों का अभ्यास जरूर करना चाहिए।

यहाँ सोम नामक राजश्रेष्ठी प्रश्न करता है। देखो, पंचमकाल के मुनि से पंचमकाल का नगरसेठ पूछता है। उसने छह द्रव्यों का अभ्यास किया है। वह पूछता है-

''हे प्रभो! केवलज्ञान के अनंतवें भाग प्रमाण आकाश द्रव्य है, उसके भी अनंतवें

भाग में बीचों-बीच लोकाकाश है, वह अनादिनिधन है, किसी के द्वारा उसकी रचना नहीं हुई अर्थात् ब्रह्मा ने उसे नहीं बनाया है; वह स्वयं निर्मित ही है, किसी के द्वारा उसका विनाश संभव नहीं है। शंकर जगत का संहार करते हैं - यह बात नहीं है और अनादिनिधन इस लोक की रक्षा भी कोई नहीं करता है। लोकाकाश अपने असंख्यप्रदेशों को धारण करनेवाला है, अत: उसका कोई धर्त्ता भी नहीं है, वह तो असंख्यातप्रदेशी है। इस असंख्यातप्रदेशी लोक में अनंतजीव, उनसे भी अनंतगुने पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालद्रव्य, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य - ये सभी किस रीति से रहते हैं? आत्मा अरूपी और असंख्यातप्रदेशी है, लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेश प्रत्येक जीव (आत्मा) के हैं; फिर कैसे अनंतजीव और अनंतानंत पुद्गल लोकाकाश में समाये हुए हैं?''

अब आचार्यदेव उत्तर देते हैं- जिसप्रकार एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, अनेक दीपकों का प्रकाश आने पर पूर्वप्रकाश संकुचित नहीं होता, किन्तु साथ ही रहता है; उसीप्रकार आकाश में अनंतपदार्थ एक साथ रह सकते हैं।

तथा जिसप्रकार गूढ़ रस से भरे हुए पात्र में अथवा पारे में बहुत-सा स्वर्ण समा जाता है, राख से भरे हुए घड़े में सुइयाँ और ऊँट का दूध समा जाता है; उसीप्रकार विशेष अवगाहन शक्तिवाले असंख्यातप्रदेशी लोक में जीव-पुद्गल आदि सभी द्रव्य समा जाते हैं, एक साथ रह सकते हैं।

यदि इसप्रकार अवगाहन शक्ति न हो, तब तो असंख्यातप्रदेशी लोक में मात्र असंख्यात पुद्गल परमाणुओं का ही निवास हो सकेगा। असंख्यातप्रदेशों में से एकप्रदेश में एक ही परमाणु रह सकता हो तो फिर लोक में असंख्यात परमाणु ही होना चाहिए, अनंतानंत नहीं। यदि सारे लोक में असंख्य परमाणु ही माने जायें तो प्रत्यक्ष और आगम से विरोध आता है। इसी बात को आचार्य उदाहरण से समझाते हैं। जैसे- आत्मा शुद्धनिश्चयनय से, शक्तिरूप से निरावरण है, शुद्ध है, बुद्ध है, एकस्वभाव का धारक है; वैसा ही व्यवहारनय से, व्यक्तिरूप से निरावरण, शुद्ध, बुद्ध नहीं है। यदि व्यवहारनय से उसे शुद्ध, बुद्ध माना जाये तो प्रत्यक्ष और आगम से विरोध आता है।

निश्चयनय से जीव शुद्ध है, बुद्ध है, आवरणरहित है, ज्ञान का घनपिंड है, एक स्वभाव का धारक है। निगोद से लेकर सिद्ध आदि सभी जीव भव्य-अभव्य आदि स्वभाव से शुद्ध-बुद्ध हैं। संसारी जीव की पर्याय में आवरण है। यदि पर्याय में आवरण न हो तो फिर उसे केवलज्ञान प्रकट हो जाना चाहिए, अनंत सुख हो जाना चाहिए, किन्तु वर्त्तमान में केवलज्ञान नहीं है और दु:ख का सद्भाव देखा जाता है; अत: पर्याय में आवरण है ही - यह निश्चित समझ लेना चाहिए।

प्रत्येक जीव में ज्ञानादि अनंतगुण हैं तथा प्रत्येक गुण की अनंत पर्यायें हैं। वर्तमान में ज्ञान-दर्शन-वीर्यादि गुणों की दशा हीन तथा चारित्र की दशा विपरीत होने पर निमित्तभूत कर्मों के परमाणु भी अनंत होना चाहिए।

प्रत्येक गुण की अनंत शक्ति है, वह प्रकट नहीं होती तो अपने कारण से ही प्रकट नहीं होती है, परन्तु अनंतता प्रकट न होने में निमित्तरूप अनंत कर्मपरमाणु होते हैं। इसप्रकार सभी गुणों की अपेक्षा एक जीव में अनंत पुद्गल कर्म परमाणु होते हैं। लोक में अनंत जीव हैं, उन सभी जीवों की शुद्धदशा प्रकट न होने में अनंत परमाणु होना चाहिए, असंख्य नहीं। फिर भी असंख्यातप्रदेशी लोक में असंख्यात परमाणु ही माने जायें तो ज्ञानादि गुणों की परिपूर्ण शुद्ध अवस्था हो जानी चाहिए, पर ऐसा दिखायी नहीं देता; अत: जीवों की संसार अवस्था में निमित्तभूत अनंत कर्म हैं।

इसप्रकार लोक में अनंत परमाणु हैं, यह सिद्ध हो जाने पर आकाश अनंत पुद्गल परमाणुओं और उनसे संबंधित सभी जीवों को स्थान दे सकता है - यह स्वयमेव सिद्ध हो गया।

लोक का क्षेत्र असंख्यप्रदेशी है, आत्मा का क्षेत्र भी असंख्यप्रदेशी है। यहाँ क्षेत्र का माहात्म्य नहीं है, माहात्म्य तो उनके स्वभाव में है। जिसप्रकार आत्मा का माहात्म्य ज्ञानादि गुणों से है, उसीप्रकार आकाश का माहात्म्य अवगाहन स्वभाव से है, क्षेत्र से नहीं। असंख्यप्रदेशी लोक में अनंतानंत पदार्थ रहते हैं, यही माहात्म्य है; इसको परमाणु से समझाते हैं।

लोक में असंख्य परमाणु स्वीकार करने पर विरोध आता है; क्योंकि प्रत्येक जीव में परिणामों की विविधता और विचित्रता में, ज्ञानादिक गुणों की पर्यायों में अशुद्धता और

हीनाधिकता दिखायी देती है और वह भी अनेक प्रकार से। जब ऐसा है तो ज्ञानादि गुणों के आवरण में निमित्तरूप विविध कर्म होने चाहिए अथवा सभी जीवों को निमित्तरूप आवरण के अभाव में शुद्ध हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है। प्रत्यक्ष दु:ख का सद्भाव होने से जीव अशुद्ध ही है और उसकी अशुद्धता में निमित्तभूत अनंत कर्म भी हैं - यह बात एक जीव की अपेक्षा से है। अनंतजीवों की अपेक्षा से तो अनंतानंत पुद्गलकर्म परमाणु सिद्ध होते हैं। अत: आकाश में अनंत जीव (आत्मायें) और उन पर आवरणस्वरूप अनंतानंत कर्म अर्थात् अनंतानंत पदार्थ रहते हैं - यह सिद्ध हुआ।

असंख्यप्रदेशी लोकाकाश में अनंत द्रव्य किसप्रकार समाते हैं? इसका उत्तर 'अस्ति' से दिया था। अब 'नास्ति' से समझाते हैं। यदि लोकाकाश के असंख्यप्रदेशों में असंख्यात परमाणु ही माने जायें तो विरोध आता है; क्योंकि अनंतजीव और उनके आवरण में निमित्तभूत अनंतानंत कर्म सिद्ध होते हैं।

संसारी जीवों के विकारी और अविकारी परिणमन में कम-ज्यादापना दिखायी देता है। जैसे - कोई अल्पज्ञानवाला है, कोई अधिक ज्ञानवाला है; कोई क्रोधी, मानी, कपटी एवं लोभी है, कोई नास्तिक है, कोई आस्तिक है, कोई आत्मा है - ऐसा माननेवाला है, कोई साधारण मान्यतावाला, कोई विशेष मान्यतावाला है, कोई सम्यग्दर्शन प्रकट कर धर्म प्रकट करनेवाला है - ऐसे अनंतानंत जीव हैं। यदि लोक में असंख्य परमाणु ही हों तो विविधता और विचित्रता से सहित नैमित्तिक पर्यायवाले जीवों को वैसी विविधता और विचित्रतावाले कर्म सिद्ध नहीं होते हैं।

तथा कोई निगोद का जीव है, कोई एकेन्द्रियादि जीव हैं, कोई मनुष्य है, कोई व्यापारी है, कोई वकील है - इत्यादि जीवों की वर्त्तमान अवस्था में विविधता दिखायी देती है और आवरण में अनंत परमाणु स्वीकार न करने पर विविधता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम से विरोध आता है।

शास्त्र कहते हैं कि पर्याय में विकार है, फिर भी कोई विकार स्वीकार न करे तो शास्त्र-विरोधी होता है। और यदि विकाररहित दशा सभी की होवे तो शास्त्र का उपदेश निरर्थक हो जाता है। भाई! शास्त्र तो कहते हैं कि सभी जीवों की पर्याय में सर्वज्ञता

और वीतरागता नहीं है।

लोक में असंख्य परमाणु ही मानने पर पर्याय में शुद्धता स्वीकार करनी पड़ती है जो कि शास्त्रसम्मत नहीं है।

स्व के लक्ष्य से भूल नहीं होती है, भूल तो पर के लक्ष्य से ही होती है। वर्त्तमान में जीव के भूल है और उसमें निमित्त कर्म हैं।

इसप्रकार लोक में अनंतकर्म सिद्ध होने पर अनंतपुद्गल सिद्ध हो जाते हैं तथा नैमित्तिक पर्याय की अशुद्धता की विविधता सिद्ध होने पर अनंतजीव सिद्ध हुए। अत: असंख्यातप्रदेशी लोक में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल आदि अनंत द्रव्यों के रहने में कोई विरोध नहीं है, अपितु रहते ही हैं – यह स्पष्ट हुआ।

इसप्रकार आकाशद्रव्य संबंधी व्याख्यान पूरा हुआ।

❑❑❑

गुणों का भण्डार तू है...

भगवान पूर्णानन्द का नाथ है कि जिसका कथन करने के लिए योगीन्द्रदेव को शब्द कम पड़ते हैं। तेरी महानता तो देख! तेरा जो स्वरूप भगवान ने देखा है, उसे भगवान भी कह नहीं सके। जड़ वाणी द्वारा आत्मा का वर्णन किस प्रकार हो सकता है? शत्रु द्वारा कितनी प्रशंसा करवायी जा सकती है ? ***जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में, कह न सके उसको जब श्री भगवान भी।*** *ऐसा परमब्रह्म तेरा स्वरूप है। उस स्वरूप में प्रभु अपनी मति लगा, एकबार उसकी रुचि कर! निर्विकल्प आनन्द का स्वामी, सुख का सागर, गुणों का भण्डार तू है – ऐसी महिमा एकबार तो ला। बिना उस महिमा के तेरी मति वहाँ नहीं लगेगी। बाहर की महिमा छोड़..........वहाँ क्या है ? इसलिए पर की महिमा एवं आकर्षण छोड़कर एकबार परब्रह्म प्रभु की महिमा लाकर वहाँ मति लगा तो चार गतियों का भ्रमण मिट जायेगा।*

– **द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-८५**

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-२१

अब निश्चयकाल और व्यवहारकाल का स्वरूप कहते हैं:-

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो॥२१॥

द्रव्यपरिवर्तनरूप: य: स: काल: भवेत् व्यवहार:।
परिणामादिलक्ष्य: वर्त्तनालक्षण: च परमार्थ:॥२१॥

परीवर्तनरूप परिणामादि लक्षित काल जो।
व्यवहार वह परमार्थ तो बस वर्तनामय जानिये॥२१॥

गाथार्थ :- जो द्रव्यों के परिवर्तनरूप है (अर्थात् द्रव्य परिवर्तन की स्थितिरूप है) और परिणामादि से लक्षित होता है, वह व्यवहारकाल है; वर्तना लक्षणयुक्त काल निश्चयकाल है।

टीका :- **दव्वपरिवट्टरूवो जो** जो द्रव्य के परिवर्तन रूप है (अर्थात् द्रव्य की पर्याय के साथ संबंधवाली कालावधिरूप है) **सो कालो हवेइ ववहारो** वह काल व्यवहाररूप है। और वह कैसा है? **परिणामादीलक्खो** परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व से लक्षित होता है - ज्ञात होता है; अत: वह परिणामादि से लक्ष्य है।

अब निश्चयकाल का कथन किया जाता है। **वट्टणलक्खो य परमट्ठो** जो वर्तना लक्षणवाला है, वह परमार्थकाल है।

उसे स्पष्ट किया जाता है:- जीव और पुद्गल के परिवर्तनरूप जो नवीन और नष्ट पर्याय उसकी समय-घड़ी इत्यादि रूप स्थिति जिसका स्वरूप है, वह द्रव्यपयार्यरूप व्यवहार काल है। वही संस्कृत प्राभृत में भी कहा है - **स्थिति: कालसंज्ञका:** (स्थिति को काल संज्ञा है)। उस पर्याय से संबंधित जो समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है, वह स्थिति व्यवहार काल है, (पुद्गलादि के परिवर्तनरूप) पर्याय व्यवहारकाल नहीं है - ऐसा अभिप्राय है। पर्यायसंबंधी स्थिति को व्यवहारकाल - ऐसा नाम मिलता है, इसलिए जीव और पुद्गल के परिणाम से - पर्याय से तथा एक प्रदेश से अन्य प्रदेश को चलने रूप अथवा गाय दोहना, रसोई करना आदि परिस्पन्दनरूप क्रिया से; उसीप्रकार दूर अथवा समीप चलने रूप कालकृत परत्व और अपरत्व से वह लक्षित होता है - ज्ञात

होता है; अत: वह व्यवहारकाल परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व लक्षणयुक्त कहलाता है।

अब द्रव्यरूप निश्चयकाल का कथन कहते हैं:- अपने उपादान रूप से स्वयमेव परिणमित पदार्थों को कुम्हार के चाक को फिरने में नीचे की कीली के सहकारीपने की भाँति, शीतकाल में अध्ययन करते हुए विद्यार्थी को अध्ययन में अग्नि के सहकारीपने की भाँति पदार्थपरिणति में जो सहकारीपना, उसे वर्तना कहते हैं; यह वर्तना जिसका लक्षण है, वह वर्तना लक्षणवाला कालाणुद्रव्यरूप निश्चयकाल है।

इसप्रकार व्यवहार काल और निश्चयकाल का स्वरूप जानना।

कोई कहता है कि समयरूप ही निश्चयकाल है, उससे भिन्न अन्य कालाणु द्रव्यरूप निश्चयकाल नहीं हैं; क्योंकि वह देखने में नहीं आता है। उसका उत्तर देते हैं:- प्रथम तो समयकाल की ही पर्याय है। समयकाल की पर्याय किसप्रकार है? पर्याय उत्पन्नध्वंसी होती है, इसलिए। तथा कहा है कि **समओ उप्पण्ण पद्धंसी।** (समय उत्पन्न होता है और नाश को प्राप्त होता है।) और वह पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती है। उस समयरूप पर्यायकाल के उपादान कारणरूप द्रव्य, वह भी कालरूप होना चाहिए। ईंधन, अग्नि आदि सहकारी कारण से उत्पन्न भातरूप पर्याय के उपादानकारण धान की भाँति, कुम्हार, चाक, डोरी आदि बहिरंग निमित्त से उत्पन्न मिट्टी के घटपर्याय के उपादान कारण मिट्टी के पिंड की भाँति अथवा नर-नारकादि पर्याय के उपादान कारण जीव की भाँति समय, घड़ी आदि काल का उपादान कारण कालद्रव्य होना चाहिए। वह भी किसलिए? उपादान कारण के जैसा ही कार्य होता है - ऐसा वचन होने से।

अब कोई ऐसा मानता है कि समय आदि काल के पर्यायों का उपादान कारण कालद्रव्य नहीं है, परन्तु समयरूप पर्याय की उत्पत्ति में मंदगतिपरिणत पुद्गलपरमाणु, निमेषरूप पर्याय की उत्पत्ति में आँखों का बंद होना और खुलना, घड़ीरूप काल पर्याय की उत्पत्ति में घड़ी की सामग्रीरूप जल का बर्तन, मनुष्य के हाथ आदि के व्यापार और दिवस रूप पर्याय की उत्पत्ति में सूर्य का बिंब उपादानकारण है; परन्तु ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो तो, जिसप्रकार चावल रूप उपादानकारण से उत्पन्न भातरूप पर्याय में सफेद, काला आदि रंग, सुगंध अथवा दुर्गंध, स्निग्ध अथवा रूक्षादि स्पर्श, मधुर आदि

रस इत्यादि विशेष गुण दिखायी पड़ते हैं, उसीप्रकार पुद्गलपरमाणु, आँखों का खुलना अथवा बन्द होना, जल का कटोरा और मनुष्य का व्यापार आदि तथा सूर्य बिंबरूप उपादानभूत पुद्गल पर्यायों से उत्पन्न समय, निमिष, घड़ी, दिवस आदि कालपर्यायों में भी सफेद, कृष्ण आदि गुण प्राप्त होने चाहिए! परन्तु ऐसा तो होता नहीं, क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है - ऐसा वचन है।

बहुत कहने से क्या? जो अनादिनिधन है, अमूर्त्त है, नित्य है, समयादि के उपादानकारणभूत होने पर भी समयादि के भेदरहित है; वह कालाणुद्रव्यरूप निश्चयकाल है। और जो सादि-सांत है, समय, घड़ी, प्रहर आदि विवक्षित व्यवहारनय के भेदरूप है, वही द्रव्यकाल की पर्यायरूप व्यवहार काल है।

सारांश यह है कि- यद्यपि काललब्धि के वश से जीव अनंत सुख का भाजन होता है तो भी विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभावी निजपरमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप तथा समस्त बहिर्द्रव्य की इच्छा की निवृत्ति जिसका लक्षण है - ऐसे तपश्चरणरूप जो निश्चय चतुर्विध आराधना है, वही उसमें उपादानकारण जानना, काल नहीं; अत: वह (काल) हेय है॥२१॥

गाथा २१ पर प्रवचन

जो द्रव्यों के परिवर्तनरूप है और परिणामादि से लक्षित होता है, वह व्यवहारकाल है तथा वर्तनालक्षणयुक्त काल निश्चयकाल है।

आत्मा, पुद्गल आदि सभी द्रव्य ध्रुव रहकर अपनी-अपनी अवस्थाओं में परिणमित होते हैं। यदि द्रव्य मात्र कूटस्थ हो जाये तो कार्य (पर्याय) भी न हो, फिर तो सुख-दु:ख का अनुभव भी आत्मा को नहीं हो, परन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य पर्यायों में परिणमित होता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना प्रत्येक परिणाम निश्चित है, उसकी स्थिति का माप व्यवहारकाल है। जैसे- वर्ष, महीना, दिन, घंटा, घड़ी आदि।

वर्तनालक्षण का धारक पदार्थ निश्चयकाल है। वे कालाणु असंख्य हैं। कुछ लोग काल को उपचार से मानते हैं - यह बात ठीक नहीं है। जब 'काल' वाचक शब्द है तो वाच्य पदार्थ भी होना चाहिए। जैसे 'गुड़' वाचक शब्द 'गुड़' वाच्यपदार्थ को बताता

है, वैसे ही 'काल' वाचक शब्द 'काल' वाच्यपदार्थ को बताता ही है। यदि वास्तव में कालद्रव्य नहीं माना जाये तो वाचक-वाच्य संबंध नहीं रहता है। जब कथन में काल शब्द आता है तो काल पदार्थ भी होना चाहिए; क्योंकि कालद्रव्य सभी द्रव्यों के परिणमन में निमित्त है।

ज्ञान छह द्रव्यों को यथार्थ जानता है। आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है तथा लोकालोक में विद्यमान सभी चेतन-अचेतन द्रव्य ज्ञेय हैं। जगत में जितनी वस्तुयें हैं, उनमें से एक भी कम माने तो ज्ञान की प्रमाणता यथार्थ नहीं रहती है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। संसारदशा में राग-द्वेष पाया जाता है, जिसके कारण अल्पज्ञता रहती है। स्वभाव के आश्रय से राग-द्वेष दूर होता है, वीतरागता और केवलज्ञान भी प्रकट हो जाता है। केवलज्ञान जगत में सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ जानता है - यह केवलज्ञान की ही महिमा है।

'आत्मा ज्ञानप्रमाण है'- ऐसा प्रवचनसार में कहा है। जिसप्रकार गुड़ का गुड़पना उसकी डली (आकार विशेष) प्रमाण है, कम-ज्यादा नहीं है, उसीप्रकार आत्मा का ज्ञान आत्मा में ही है, शरीरादिक में नहीं। किसी दूसरे से लाभ माननेवाला भिखारी है। जिसे चिदानंद आत्मा की खबर नहीं, उसे परावलम्बन रहे बिना नहीं रहता अर्थात् रहता ही है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा में सर्वज्ञ होने की सामर्थ्य है। भगवान बनते हैं, जन्मते नहीं; अरहन्त भगवान के भी सर्वज्ञता प्रकट होती है; क्योंकि उनमें सर्वज्ञ होने की सामर्थ्य थी। प्रवचनसार में कहा है कि जो जीव अरहन्त परमेष्ठी के द्रव्य-गुण-पर्याय को आत्मसन्मुख होकर जानता है, उसका मोह नष्ट हो जाता है अर्थात् उसे धर्म की प्राप्ति हो जाती है।

अरहन्त के स्वरूप को समझ कर जीव विचार करता है कि मेरा स्वभाव भी सर्वज्ञ बन सकने का है। राग-द्वेष आदि विभावों में अटकना तथा अल्पज्ञता मेरा स्वभाव नहीं है; मेरा स्वभाव तो लोकालोक में व्याप्त अनंत जीव, अनंतानंत पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और लोकप्रमाण असंख्य कालाणुओं को जानने का है। जो ऐसा न माने तो पूर्णविकसित ज्ञानगुण की सामर्थ्य कितनी है - इसकी खबर उसे नहीं है

तथा ज्ञानादि अनंत गुणवाले आत्मा की सामर्थ्य का पता भी उसे नहीं है।

जैसे कोई बहुत धनवान होकर भी लोभी व्यक्ति है। वह बाह्य कार्यों में धन न देना पड़े, इसलिए कदाचित् झूठ बोलता है कि मेरे पास थोड़ा धन है; परन्तु ऐसा बोलते हुए भी उसका ज्ञान यह बात स्वीकार नहीं करता है। उसके पास जो मूल पूँजी है, उसे अच्छी तरह जानता है। वैसे ही आत्मा के सर्वज्ञता प्रकट होने पर लोकालोक को जानने की सामर्थ्य है, वह थोड़े ज्ञेयों को स्वीकार नहीं करता। ऐसी सर्वज्ञ-शक्ति की प्रतीति जिसको आती है, उसको धर्मदशा प्रकट होती है।

जब लोक में छह द्रव्य हैं तो उन सबकी प्रतीति होनी चाहिए। जो यह कहते हैं कि कालद्रव्य नहीं है तो उन्होंने सम्पूर्ण ज्ञेयों को स्वीकार नहीं किया। इसप्रकार अपने ज्ञानगुण की सामर्थ्य को नहीं जानते हुए निज आत्मा की सामर्थ्य को भी स्वीकार नहीं किया तथा आत्मा को जाने बिना अरहन्त को भी नहीं जाना।

लोक में अनंत आत्मायें हैं, परन्तु कोई कहे कि आत्मा एक है तो उसका ज्ञान सच्चा नहीं है। इसीप्रकार अनंतानंत पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक हैं - ऐसा स्वीकारता हुआ भी असंख्य कालाणु हैं और उन्हें स्वीकार न करे अर्थात् कालद्रव्य को न माने तो उसका ज्ञान खोटा ही है, सच्चा नहीं।

भाई! यह वृहद्-द्रव्यसंग्रह है, छह द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप इसमें बताया है। छह द्रव्यों को यथार्थतः जाने बिना देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची श्रद्धा नहीं होती है।

आत्मा, पुद्गल आदि द्रव्य ध्रुव रहकर भी परिणमित होते हैं। एकरूप ही रहें तो कार्य नहीं हो सकते तथा परिणमित होते हुए नित्य (ध्रुव) न रहें तो पदार्थ ही नहीं ठहरता है। अतः प्रत्येक द्रव्य नित्य (ध्रुव) रहकर भी बदलता है, परिणमित होता है - यह व्यवहारकाल है। इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि परिवर्तन तो उस-उस द्रव्य की पर्याय है, यह व्यवहारकाल नहीं। व्यवहारकाल तो परिवर्तन के 'समय' की माप को बतानेवाला है।

वर्तना लक्षणवाला काल निश्चयकाल है। मिसरी की डली (आकार विशेष) की सफेद पर्याय है, उसमें मिसरी पूर्णरूप से आ जाती है। द्रव्य और पर्याय का क्षेत्र एक-सा है। इनमें आगे-पीछे होने की ताकत नहीं है। जब एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे

प्रदेश में मंदगति से जाये तो एक समय लगता है - यही काल की पर्याय है। अत: काल की पर्याय है तो पर्यायवान द्रव्य भी होना चाहिए। लोक के एक प्रदेश में एक कालाणु है, अत: असंख्यप्रदेशों में असंख्य कालाणु हैं।

जिसने कालद्रव्य को नहीं माना, उसने सम्पूर्ण ज्ञेयों को नहीं माना और ज्ञेयों को नहीं मानने से ज्ञेयों को जाननेवाले ज्ञान की पूर्णपर्याय प्रकट करने का पुरुषार्थ जाग्रत नहीं होता है। तथा 'सभी ज्ञेयों को जाननेवाला मेरा ज्ञान परिपूर्ण है'- ऐसी प्रतीति उसे नहीं आती है। कदाचित् मंदकषाय हो तो पुण्य-परिणाम भी हो जाये, परन्तु उसे धर्म अर्थात् आत्मकल्याण की प्राप्ति नहीं होती है।

जिसने कालद्रव्य को माना, उसने सभी द्रव्यों को माना। उसे सम्पूर्ण ज्ञेयों को जाननेवाले ज्ञानगुण की शक्ति का विश्वास आता है। पहले विश्वास नहीं था, बाद में हुआ - यह उसका स्वकाल है, उसमें निमित्तरूप कालाणु है।

अब व्यवहार और निश्चयकाल का विशेष वर्णन करते हैं।

जीव पुद्गल आदि सभी द्रव्यों में पूर्व पर्याय का नाश और नवीन पर्याय का उत्पाद होता है। जैसे - यह कपड़ा नये से पुराना हुआ इसमें नयेपनरूप पर्याय का व्यय और पुरानेपनरूप पर्याय का उत्पाद हुआ। इन्हीं पर्यायों की समय, घड़ी आदि स्थिति को व्यवहारकाल कहते हैं।

इन चावलों के पकने में कितना समय लगेगा? दस मिनट।

इस मकान को बने हुए कितने वर्ष हो गये? चौदह वर्ष।

ऐसे जगत के पदार्थों की स्थिति को व्यवहारकाल कहते हैं। जीव मनुष्यपर्याय में इतने वर्ष रहा - यह व्यवहारकाल है। व्यवहारकाल पर्याय अथवा द्रव्य को नहीं बताता है। पर्याय बदलती है, व्यवहारकाल नहीं; परन्तु पर्याय की स्थिति का माप व्यवहारकाल है।

महाविदेह क्षेत्र में इस समय भी जीव मुक्त होकर सिद्धदशा प्राप्त करते हैं। मान लो, वहाँ अभी-अभी कोई जीव सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ हो, तब केवली भगवान से पूछने में आये कि उनके सिद्ध होने में कितना समय लगा? तब कहने में आया कि अमुक

काल लगा, यही व्यवहारकाल है। सिद्ध की पर्याय व्यवहारकाल नहीं, परन्तु उसकी स्थिति का माप व्यवहारकाल है।

प्रत्येक वस्तु अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है। प्रत्येक आत्मा अनंत गुणों का पिंडस्वरूप द्रव्य है, असंख्यप्रदेशी उसका क्षेत्र है, प्रतिसमय की पर्याय उसका स्वकाल है तथा ज्ञानादिगुण उसके भाव हैं।

प्रतिसमय की पर्याय निश्चयकाल है कि व्यवहारकाल?

वह न निश्चयकाल है, न ही व्यवहारकाल। वह तो स्वयं पर्याय है, पर्याय की स्थिति आँकना काल है और वह व्यवहारकाल है। इसे जीव, पुद्‌गल आदि द्रव्यों की परिणामरूप पर्याय से जाना जा सकता है। गाय दुहने का समय हुआ, बहुत पहले ऐसा बनाव बना था, यह बात अभी की है, यह कल सवेरे की है, आदि - इसप्रकार 'समय' व्यवहारकाल जाना जाता है।

अब निश्चयकाल जो कि द्रव्यस्वरूप है, उसका कथन करते हैं। प्रत्येक पदार्थ जीव हो या अजीव, स्वयं अपने उपादान कारण से परिणमता है, पर के कारण नहीं परिणमता।

यहाँ कोई कहता है कि सिद्धजीवों को काल के कारण परिणमन करना पड़ता है; तो उसकी यह बात ठीक नहीं है। सभी सिद्धजीव अपने-अपने कारण से परिणमन करते हैं। संसारीजीव सम्यग्दर्शन भी अपने कारण से प्रकट करते हैं, शब्दों का परिणमन भी अपने कारण से होता है, निमित्तादिक परिणमन नहीं कराते। निमित्त होने पर उपादान में कार्य होता है - ऐसा नहीं है। निमित्त और उपादान के बीच में कालभेद नहीं है। ''प्रत्येक पदार्थ जब स्वयं परिणमन करता है, तब परिणमन में अनुकूलता का आरोप जिस पर आये, वह निमित्त है।''

अज्ञानी जीव कर्मों को प्रेरक कहकर कहता है कि वे आत्मा में विकार उत्पन्न कराते हैं, पर यह उसकी भूल है। निगोद से लेकर सिद्ध अवस्था तक के सभी जीव स्वयं अपनी उपादान शक्ति से परिणमित होते हैं, कर्म आदि कोई भी परिणमन नहीं कराते, न ही विकार उत्पन्न कराते हैं। पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये द्रव्य भी अपनी-अपनी उपादान शक्ति से परिणमित होते हैं।

अज्ञानी जीवों को द्रव्य और पर्याय की स्वतंत्रता की बात समझ में नहीं आती है।

इसलिए ही वे मानते हैं कि अन्य के कारण से कार्य होता है।

'मैं करूँ, मैं करूँ'- यही अज्ञानता का बोझा जीव ढो रहा है। जैसे - गाड़ी के नीचे चलनेवाला कुत्ता मानता है कि गाड़ी के बोझ को मैं ढो रहा हूँ।

यहाँ कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने उपादान कारण से स्वयं परिणमत होता है तथा स्वयं परिणमित करते हुए पदार्थों को वर्तना सहकारी कारण है। वर्तना लक्षण का धारक पदार्थ कालाणु निश्चयकाल है। जिस रीति से कुम्हार के चक्र में नीचे की शिला सहकारी कारण है, चक्र स्वयमेव चलता है, हाथ व लकड़ी आदि से नहीं चलता है - शिला, लकड़ी, हाथ आदि केवल निमित्त हैं। जिसप्रकार शीतऋतु में विद्यार्थियों के पढ़ने में प्रकाश सहकारी कारण है, प्रत्येक विद्यार्थी स्वयं ही अपनी प्रतिभा से जानते हैं, पढ़ते हैं; प्रकाश पढ़ने में उनकी कुछ भी मदद नहीं करता है। यदि मदद करता तो सभी विद्यार्थियों को एक जैसा जानना या पढ़ना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता है। जो पढ़कर स्वयं जानता है, उसमें प्रकाश निमित्त है। वैसे ही सभी द्रव्य अपने-अपने कारण से परिणमित होते हैं, उनमें वर्तना लक्षणवाला कालाणु निमित्त है। काल किसी को भी जबरदस्ती परिणमन नहीं कराता।

इसप्रकार कालाणुरूप निश्चयकाल सिद्ध होता है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। वह स्वयं ही वर्तमान में संसार-अवस्था में अर्थात् अपूर्ण अवस्था में है, अपने ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन लेने से अपूर्णता का अभाव होता है, इसलिए आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान-आचरण करना चाहिए-चारित्र अङ्गीकार कर स्वलीनता-पूर्वक वीतरागता प्रकट कर सर्वज्ञ हो जाना चाहिए। सर्वज्ञ के ज्ञान में सभी पदार्थ स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं। अनादिकाल से जीव किस तरह भव-भ्रमण कर रहा है तथा कैसे भव से पार हो सकता है - इत्यादि सर्वज्ञ के ज्ञान में न आता हो तो संसार से पार होने का वास्तविक मार्ग कोई नहीं बता पाता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग है, संसार से पार उतरने का मार्ग है; इसलिए तीन लोक का जाननहार सर्वज्ञ भी होना चाहिए।

जिसप्रकार कोई जीव अरहन्तपना प्राप्त कर शीघ्र ही सिद्धदशा प्राप्त कर ले तो उसके ज्ञान में क्या आया - इसकी जानकारी अन्य संसारीजीवों को नहीं हो सकती है,

उसीप्रकार किन्हीं सर्वज्ञ परमात्मा को वाणी का योग नहीं हो तो उनके द्वारा हम द्रव्य का स्वरूप नहीं समझ सकते हैं। फिर भी ज्ञान ज्ञान का कारण और वाणी वाणी का कारण है – ऐसा होने पर भी वस्तु के स्वरूप को बतानेवाली वाणी का योग तीर्थंकरों को होता है।

तीर्थंकर की वाणी के अनुसार वस्तुस्वरूप से मिलान कर शास्त्रों की समीचीनता-असमीचीनता का निर्णय करना चाहिए; क्योंकि भगवान के नाम पर अधर्मी लोगों ने खोटे शास्त्र लिख दिये हैं।

यह द्रव्यसंग्रह है, इसमें वीतरागवाणी के अनुसार छह द्रव्यों का स्वरूप बताया है। यहाँ कालद्रव्य की बात चलती है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय कालद्रव्य को नहीं मानता। अत: न्याय से, तर्क से काल के अस्तित्व को सिद्ध किया है। व्यवहारकाल परिणाम की स्थिति के माप से जाना जाता है। वर्तनालक्षणवाला कालाणु निश्चयकाल है।

शंका- समय, घड़ी, दिवस, रात्रि आदि ही निश्चयकाल है; इनसे भिन्न कालाणुरूप निश्चयकाल नहीं है, क्योंकि वह हमारे देखने में नहीं आता है?

समाधान- जीव भी अरूपी होने से देखने में नहीं आता तो क्या उसको भी नहीं माना जाये – यह बात न्यायसंगत नहीं है। समय, घड़ी, दिवस आदि काल के सूचक हैं; जीव, पुद्गल के नहीं; क्योंकि समय आदि पर्यायें काल की ही पर्यायें हैं, अन्य की नहीं।

यहाँ कोई **प्रश्न** पूछता है कि 'समय' काल की पर्याय किसप्रकार है?

उत्तर – समय 'काल' की ही पर्याय है, क्योंकि पर्यायों के उत्पाद-व्यय पाया जाता है। समय, घड़ी आदि उत्पाद-व्यय को बतानेवाले होने से पर्याय को सूचित करते हैं, द्रव्य को नहीं; क्योंकि द्रव्य में उत्पाद-व्यय नहीं हो सकता है तथा पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती है। जैसे – ज्ञान की पर्याय ज्ञानगुण बिना और ज्ञानगुण आत्मा के आधार बिना नहीं हो सकता है। इसलिए पर्याय यदि है तो द्रव्य के आधार पर होना चाहिए – ऐसा प्रतिफलित होता है। इसप्रकार समय, घड़ी आदि पर्यायों को माना जाता है तो उनके आधारस्वरूप कालद्रव्य को भी मानना पड़ेगा।

जिसप्रकार ईंधन, अग्नि आदि सहकारी कारण होने पर भी पकते हुए चावलों का

उपादान कारण चावल स्वयं ही है। यदि मूलकारण अग्नि अथवा ईंधन हो तो अग्नि या ईंधन की पर्याय चावलों में आ जाना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। तथा कुम्हार, चाक आदि बहिरंग निमित्त होने पर घड़ा बनता है। यहाँ घड़ा बनने का उपादान कारण मिट्टी है, कुम्हार-चाक आदि नहीं। यदि कुम्हार-चाक आदि उपादान कारण हों तो कुम्हार-चाक आदि के गुण घड़े में होना चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। मिट्टी का मूलगुण घड़े में आता है, इसलिए मिट्टी ही उपादान कारण है।

उसीप्रकार समय आदि पर्यायों का उपादान कारण कालद्रव्य है। यदि समयरूपी पर्याय जीव और पुद्गल की मानी जाये तो जीव तथा पुद्गल के गुण समय-घड़ी आदि पर्यायों में आ जाना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है। चावल में चावल के ही गुण आते हैं, अग्नि आदि के नहीं। घड़े में मिट्टी के गुण ही आते हैं, कुम्हार आदि के नहीं। इसीप्रकार समय में काल के गुण ही आते हैं, जीव-पुद्गल के नहीं। अत: 'समय' पर्याय से कालद्रव्य सिद्ध हुआ।

यहाँ उपादान-निमित्त की बात भी स्पष्ट है। निमित्त के गुण उपादान में नहीं आते, इसलिए निमित्त से उपादान में कार्य नहीं होता है। जैसे - कड़ा, कुंडल आदि का मूलकारण स्वर्ण स्वयं ही है। जिसका जो गुण प्रारंभ से अंत तक एक-सा रहे, वह उसका कारण है; अन्य नहीं।

श्वेताम्बर सूत्र के पाठ में आता है कि जीव और पुद्गल की पर्याय को 'काल' कहते हैं, परन्तु उनकी यह बात ठीक नहीं है। यदि जीव और पुद्गल की पर्याय 'काल' मानी जाये तो जीव और पुद्गल के गुण 'काल' में आ जाने चाहिए। यह बात बनती नहीं है। 'समय' पर्याय कालसूचक है, इसलिए उसके कारणरूप द्रव्य उन गुणवाला होना चाहिए।

जो जीव कालद्रव्य को नहीं मानते, उनकी तत्त्व संबंधी भूलें भी पायी जाती हैं।

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इन पाँच अजीव द्रव्यों को कालद्रव्य रहित चार द्रव्य ही मानना अजीवतत्त्व संबंधी भूल है तथा पाँचों अजीव द्रव्यों को जानना ज्ञान की सामर्थ्य है, फिर भी चार द्रव्यों को ही जानना ज्ञान की सामर्थ्य मानी। इसलिए उनके ज्ञान में भी भूल है अर्थात् जीवतत्त्व संबंधी भूल है। काल को नहीं मानते हुए

आत्मा सभी पदार्थों का ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसा भी नहीं माना, इसलिए पूर्ण निराकुल स्वभाव की प्रतीति भी नहीं हुई - यह संवरतत्त्व संबंधी भूल है। केवलज्ञान सभी द्रव्यों को गुण-पर्याय सहित जानता है, परन्तु काल को स्वीकार न करनेवाले मानते हैं कि केवलज्ञान में काल नहीं जाना जाता अर्थात् मोक्षतत्त्व संबंधी भूल है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि - धर्म प्रकट करने के लिए यह सब जानना जरूरी है क्या? थोड़ा भी जानने से राग-द्वेष होता है, तब क्या करें।

समाधान- ज्ञेयों के कारण ज्ञान में राग-द्वेष नहीं होता, जितने ज्ञेय हैं, उतना जानना ज्ञान की सामर्थ्य है।

उस ज्ञानरूपी पर्यायधर्म को धारण करनेवाला आत्मा कैसा है?

एक आत्मा को जाननेरूप अथवा पाँच द्रव्यों को जाननेरूप सामर्थ्यवाला है। आत्मा अपने सहित सभी छहों द्रव्यों को जाननेरूप सामर्थ्यवाला है।

इसप्रकार से जब जीव द्रव्य-पर्याय को माने, सच्चा श्रद्धान करे, ज्ञान करे तो धर्म होता है।

जिसप्रकार नर-नारकादि जीवों की अरूपी पर्यायों का उपादान कारण जीव स्वयं है, नर-नारकादिरूप होने की उसकी स्वयं की योग्यता है, जिनका कारण जीव स्वयं ही है। यहाँ नोकर्म का निमित्त भी नहीं है। कर्म के कारण नर-नारकादि पर्यायें होती हों तो कर्म के गुण नर-नारकादि पर्यायों में होने चाहिए। निगोदिया जीवों की वर्त्तमान स्थिति उनके ही कारण है, कर्म के कारण नहीं। कर्म निमित्त अवश्य है, परन्तु निमित्त अर्थात् कर्म के स्पर्शादि गुण जीव में नहीं आते हैं।

उसीप्रकार समय, घड़ी आदि सूचक अवस्थायें हैं, उनका उपादान कारण कालद्रव्य ही होना चाहिए। यदि जीव और पुद्गल उनका कारण हो जाये तो जीव और पुद्गल के गुण समय, घड़ी आदि में आ जाने चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए समय, घड़ी आदि का उपादान कारण काल ही है; क्योंकि यह नियम है कि उपादान कारण के अनुसार ही कार्य होता है। आत्मा पुद्गल आदि द्रव्यों के मूलकारण के अनुसार तत् योग्य कार्य होता है। जैसे नीम के वृक्ष में निवोरी ही होती है, केरी (आम) आदि नहीं; गेहूँ के बीज से गेहूँ ही पैदा होता है, बाजरा आदि नहीं; वैसे ही चेतनकारण से जड़कार्य

नहीं होता, जड़कारण से चेतनकार्य नहीं होता है। प्रत्येक द्रव्य के कार्य कारण वह द्रव्य स्वयं ही है।

शिष्य को बोध करानेवाली पर्याय का कारण यदि सर्वज्ञ की वाणी हो तो सभी जीवों को एक जैसा बोध होना चाहिए; क्योंकि वाणी का संयोग तो सभी को समान है, परन्तु ऐसा नहीं है। जिसमें समझने की जितनी योग्यता है, उसे उतनी समझ होती है। सभी एक-सा नहीं समझते अर्थात् कोई कम कोई अधिक समझता है तथा अपने कारण से ही समझता है, अन्य वाणी आदि के कारण नहीं।

कारण-कार्य में समानता होती है। कारण कार्य में समानता होने से समय, घड़ी आदि कालसूचक पर्याय का द्रव्य भी कालसूचक पदार्थ होना चाहिए; जीव, पुद्‌गल द्रव्य नहीं।

शंका- समय, घड़ी आदि पर्याय का उपादान कारण कालद्रव्य नहीं है, अपितु समयरूप पर्याय की उत्पत्ति में मंदगति से चलनेवाला पुद्‌गल-परमाणु है?

समाधान- यह ठीक नहीं है। जिसप्रकार कच्चे चावलरूप उपादान कारण से पके चावलरूप पर्याय होती है, अग्नि आदि सहकारी कारणों से नहीं होती है; क्योंकि उसका मूल कारण चावल है, अग्नि आदि नहीं। कच्चे चावल में जो गुण थे, वे पके चावल में भी हैं। जैसे- सफेद आदि रंग, सौंधी-सौंधी गंध, चिकनारूप आदि स्पर्श, मधुर आदि रस।

उसीप्रकार समय, घड़ी आदि कार्य में मंदगति से चलता हुआ पुद्‌गल-परमाणु उपादान कारण नहीं है। यदि वह उपादान कारण हो जाये तो उसके स्पर्शादि गुण समय, घड़ी आदि के आ जाने चाहिए; क्योंकि उपादान कारण के अनुसार कार्य होता है - ऐसा शास्त्र का वचन है। यथा- "**कारणनुविधायिनी कार्याणि।**" परन्तु समय, घड़ी आदि में स्पर्शादि गुण देखने में नहीं आते हैं, अतः समय आदि पर्यायें पुद्‌गल की नहीं, बल्कि कालद्रव्य की पर्यायें हैं।

कालाणु आदि-अंतरहित है, स्पर्शादि गुण उसमें नहीं हैं, नित्य है, समय आदि पर्यायों का उपादान कारण है; फिर भी समय, घड़ी आदि का भेद कालाणु में नहीं पड़ता है। इसलिए वह निश्चयकाल है, रत्न की राशि के समान लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। ऐसे असंख्यप्रदेशों पर असंख्यकालाणु हैं।

तथा समय, घड़ी वगैरह आदि-अंतसहित हैं, विवक्षित व्यवहार में विकल्पसहित हैं और निश्चयकाल की पर्यायस्वरूप व्यवहारकाल है।

काल को स्वयं अपनी खबर नहीं है, आत्मा ही उसको जानता है। इसलिए काल की अपेक्षा आत्मा सूक्ष्म एवं संवेदनशील है। असंख्य कालाणु ज्ञेय हैं और ज्ञान में निमित्त हैं। अत: काल का भी यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जीव काललब्धि के अनुसार अनंतसुख का पात्र होता है अर्थात् अपने स्वकाल में मुक्ति प्राप्त करता है। और इससमय मुक्ति नहीं होती है – ऐसा शास्त्र का वचन है। फिर भी विशुद्धज्ञान-दर्शन आदि स्वभाव का धारक जो अपना परमात्मस्वरूप है, उसका सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण तथा सम्पूर्ण इच्छाओं के अभाव हेतु की गई तपश्चरणरूप आराधना जीव को अनंत सुख की प्राप्ति में उपादान कारण है – ऐसा जानना चाहिए। कालद्रव्य उपादान कारण नहीं है, क्योंकि काल के गुण जीव में नहीं आते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना के गुण जीव में आते हैं, इसलिए वह उपादान कारण है। जो जीव स्वयं आराधना कर मुक्ति पाते हैं, उनको काल निमित्त है- उपादान कारण नहीं, इसलिए काल का आश्रय छोड़ने योग्य है। निमित्त बिलकुल भी मदद नहीं करता है, इसलिए उस पर से दृष्टि छुड़ाने के लिए उसको (काल को) हेय कहा है। ❑❑❑

नहीं मिले, ऐसा हो ही नहीं सकता...

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु है, उसके अतीन्द्रिय आनन्द की उत्कंठा जाग्रत हो, उसे आत्मा के सिवा अन्य कुछ रसप्रद नहीं लगता; जगत के पदार्थों का रस नीरस हो जाता है, संसार के राग का रस उड़ जाता है। अहो, जिसकी इतनी-इतनी प्रशंसा होती है, वह आत्मा अनंतानंत गुणों का पुंज प्रभु है कौन ? ऐसा आश्चर्य हो, उसकी लगन लगे, उसकी धुन चढ़े; उसे आत्मा मिलेगा ही, नहीं मिले - ऐसा हो ही नहीं सकता। जितना कारण दे, उतना कार्य आता है। कारण दिये बिना कार्य नहीं आता। कारण में कचाश होने से कार्य नहीं आता। आत्मा के आनन्द स्वरूप की अंतर से सच्ची लगन लगे, उत्कंठा जागे, स्वप्न में भी वह का वही रहे, उसे आत्मा प्राप्त होगा ही।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१०६

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-२२

अब निश्चय काल के रहने के क्षेत्र का तथा द्रव्य की संख्या का प्रतिपादन करते हैं:-

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि॥२२॥

लोकाकाशप्रदेशे एकैकस्मिन् ये स्थिताः हि एकैकाः।
रत्नानां राशिः इव ते कालाणवः असंख्यद्रव्याणि॥२२॥

जानलो इस लोक के जो एक-एक प्रदेश पर।
रत्नराशिवत् जड़े वे असंख्य कालाणु दरव॥२२॥

गाथार्थ :- जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि की भाँति भिन्न-भिन्न रूप से एक-एक स्थित हैं, वे कालाणु असंख्य द्रव्य हैं।

टीका :- **लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का** लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर जो एक-एक संख्या में स्थित हैं, **हु** स्पष्टरूप से, किसके समान? **रयणाणं रासी इव** परस्पर तादात्म्यरहित रत्नों की राशि की भाँति। **ते कालाणु** वे कालाणु हैं। उनकी कितनी संख्या है? **असंखदव्वाणि** लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण असंख्य द्रव्य हैं। विशेष- जिसप्रकार अँगुली की वक्र पर्याय की उत्पत्ति जिस क्षण होती है, उसी क्षण पूर्व की सीधी पर्याय का व्यय होता है और अँगुलीरूप से ध्रौव्य रहता है - इसप्रकार द्रव्य की सिद्धि होती है तथा जिसप्रकार केवलज्ञानादि की व्यक्तिरूप से कार्य-समयसार का उत्पाद, निर्विकल्प समाधिरूप कारण समयसार का विनाश और उन दोनों के आधारभूत परमात्मद्रव्यत्वरूप से ध्रौव्य है - इसप्रकार भी द्रव्य की सिद्धि है, उसीप्रकार कालाणु को भी मंदगति से परिणमित पुद्गल परमाणु द्वारा प्रकट किये गये और कालाणुरूप उपादान कारण से उत्पन्न हुए जो वर्तमान समय का उत्पाद है, वही भूतकाल के समय की अपेक्षा से विनाश है और उन दोनों के आधारभूत कालाणुद्रव्यरूप से ध्रौव्य है - इसप्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कालद्रव्य की सिद्धि है।

शंका- लोकाकाश के बाह्य भाग में कालाणु द्रव्य का अभाव होने से आकाश द्रव्य का परिणमन (अलोकाकाश में) किसप्रकार होता है?

समाधान- आकाश अखंड द्रव्य होने से, जिस प्रकार कुम्हार के चाक के एक भाग में लकड़ी से प्रेरणा करने पर पूरा चाक भ्रमण करता है तथा स्पर्शेन्द्रिय के विषय का एक भाग में मनोहर अनुभव करने से समस्त शरीर में सुख का अनुभव होता है, उसीप्रकार लोकाकाश में रहे हुए कालाणु द्रव्य का आकाश के एक भाग में स्थित होने पर भी सम्पूर्ण आकाश में परिणमन होता है।

शंका- कालद्रव्य शेष अन्य द्रव्यों के परिणमन को सहकारी कारण होता है, कालद्रव्य के परिणमन में सहकारी कारण कौन होता है?

समाधान- जिसप्रकार आकाशद्रव्य अन्य सब द्रव्यों का आधार है और अपना भी आधार है, उसीप्रकार कालद्रव्य भी अन्य द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है और अपने परिणमन में भी सहकारी कारण है।

शंका- जिसप्रकार कालद्रव्य अपने परिणमन में उपादान कारण है और सहकारी कारण भी है, उसीप्रकार सब द्रव्य भी अपने परिणमन में उपादान और सहकारी कारण होवे, उन द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य का क्या प्रयोजन है?

समाधान- ऐसा नहीं है। यदि अपने से भिन्न सहकारी कारण का प्रयोजन न हो तो सर्वद्रव्यों के सामान्य गति, स्थिति और अवगाहन के विषय में सहकारी कारणभूत धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य का भी कोई प्रयोजन न रहे तथा कालद्रव्य का घड़ी, दिवस आदि कार्य तो प्रत्यक्षरूप से दिखायी पड़ता है, परन्तु धर्म आदि द्रव्यों का तो आगम कथन ही है, प्रत्यक्ष रूप से उनका कोई कार्य दिखायी नहीं देता है; अत: कालद्रव्य की भाँति उनका भी अभाव प्राप्त होगा, तत्पश्चात् जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य रहते हैं और वह तो (ऐसा मानना तो) आगम से विरुद्ध है। तथा सर्वद्रव्यों को परिणमन में सहकारी होना - यह कालद्रव्य का ही गुण है। जिसप्रकार घ्राण इन्द्रिय से रसास्वाद नहीं हो सकता है; उसीप्रकार अन्य द्रव्य का गुण अन्य द्रव्य द्वारा नहीं हो सकता है; क्योंकि ऐसा मानने से द्रव्य संकररूप दोष का प्रसंग आता है।

कोई कहता है- जितने काल में आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु गमन करता है, उतने काल को समय कहते हैं - इसप्रकार आगम में कहा है तो एक समय में चौदह राजू गमन करता हुआ परमाणु जितने आकाश प्रदेशों को पार करता है,

उतना समय होना चाहिए! उसका समाधान करते हैं:- परमाणु एक आकाश प्रदेश से अन्य प्रदेश पर जाता है, उतने काल को शास्त्र में समय कहा है, वह परमाणु की मंदगति की अपेक्षा से है और परमाणु एक समय में चौदह राजू गमन करता है तो भी एक समय ही होता है। यहाँ यह दृष्टांत है कि कोई देवदत्त नामक पुरुष मंदगति से चलकर सौ दिनों में सौ योजन चलता है और वही पुरुष विद्या के प्रभाव से शीघ्रगति करके एक दिन में भी सौ योजन जाता है तो (तब) क्या उसको सौ योजन चलने में सौ दिन लगते हैं? नहीं, अपितु एक ही दिन लगता है, उसीप्रकार चौदह राजू गमन करने में भी शीघ्रगमन के कारण परमाणु को एक ही समय लगता है।

तथा विशेष - स्वयं विषयों के अनुभवरहित होने पर भी यह जीव दूसरों के द्वारा देखे हुए, सुने हुए, अनुभव किये हुए विषय का मन में स्मरण करके जो विषयों की अभिलाषा करता है, उसे अपध्यान कहा जाता है। उस विषय-अभिलाषारूप अपध्यानादि समस्त जाल रहित, स्वसंवेदन से उत्पन्न सहजानंद जिसका एक लक्षण है - ऐसे सुख के रसास्वाद सहित जो है, वह वीतरागचारित्र है और उसके साथ जो अविनाभावी होता है, वह निश्चयसम्यक्त्व अथवा वीतराग सम्यक्त्व कहलाता है। वही (निश्चय सम्यक्त्व ही) तीनों काल में मुक्ति का कारण है। उसके अभाव में काल तो सहकारी कारण भी नहीं होता है, अत: वह हेय है। इसीप्रकार कहा भी है कि - **किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गए काले। सिहिंहि जेवि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं॥** (बहुत कहने से क्या? जो श्रेष्ठ पुरुष भूतकाल में सिद्ध हुए हैं, होते हैं और भविष्य काल में होंगे; वह सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो।)

यहाँ तात्पर्य यह है कि कालद्रव्य तथा अन्य द्रव्य में परमागम के अविरोधरूप से विचार करना, परन्तु वीतराग सर्वज्ञ का वचन सत्य है - इसप्रकार मन में निश्चय करके विवाद न करना। किसलिए? क्योंकि विवाद करने से राग-द्वेष होता है और राग-द्वेष से संसार की वृद्धि होती है॥२२॥

इसप्रकार कालद्रव्य के व्याख्यान की मुख्यता से पाँचवें स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं। इसप्रकार आठ गाथाओं के समुदाय से पाँच स्थलों में पुद्गल आदि पाँच प्रकार के अजीव द्रव्यों के कथनरूप से दूसरा अंतराधिकार पूर्ण हुआ।

गाथा २२ पर प्रवचन

अब निश्चयकाल के रहने का क्षेत्र तथा संख्या का प्रतिपादन करते हैं:-

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि की भाँति भिन्न-भिन्न रूप से एक-एक कालाणु स्थित है और वे असंख्य हैं।

लोकाकाश के एक प्रदेश पर एक ही कालाणु रहता है तथा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में नहीं जाता है। रत्नों के ढेर में जिसप्रकार रत्न अलग-अलग रहते हैं, उसीप्रकार लोकाकाश के असंख्यप्रदेशों में असंख्यकालाणु अलग-अलग ही रहते हैं।

वाच्य पदार्थ के अभाव में वाचक शब्द नहीं होता है। इसलिए 'काल' वाचक शब्द के होने पर उसका वाच्य पदार्थ 'कालद्रव्य' भी होना चाहिए। जो यह कहते हैं कि कालद्रव्य नहीं है, उनसे पूछना चाहिए कि 'काल' इस वाचक शब्द के अस्तित्व का क्या कारण है?

'गुड़' वाचक शब्द के होने पर भी यदि उसका वाच्य 'गुड़' पदार्थ नहीं माना जाये तो 'गुड़' इस वाचक शब्द का अस्तित्व भी निरर्थक हो जायेगा। अत: 'गुड़' इस वाचक शब्द के होने पर वाच्य पदार्थ 'गुड़' भी अवश्य होता ही है।

काल यह दो अक्षर का पद है। सत्पद प्ररूपणा अर्थात् होनेवाले पदार्थ को बतानेवाले पद का कथन। इसके अनुसार वाचक 'काल' शब्द होने पर उसका वाच्य पदार्थ भी सत्‌रूप होना चाहिए। ज्ञान का विषय होने से काल पदार्थ सत् है। ज्ञान उसे जानता है, यदि नहीं जाने तो ज्ञान अप्रामाणिक (खोटा) ठहरता है।

हमारे माता-पिता कितनी सम्पत्ति छोड़ गये हैं - इसका ध्यान जीव प्रतिसमय रखता है, बही-खातों में खोजता भी है कि और कहाँ-कहाँ मेरी सम्पत्ति है। यह सब सम्पत्ति के प्रति रुचि का परिणाम है।

आचार्य परमात्मा कहते हैं कि भाई! यहाँ (धर्म में) भी अत्यन्त रुचि होना चाहिए। धर्मपिता सर्वज्ञ-परमात्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि रत्नत्रयरूप अमूल्य सम्पत्ति छोड़ गये हैं। हमें निरन्तर 'उनकी वाणी में क्या-क्या आया है?'- इसका ज्ञान करना चाहिए। परपदार्थों से और विकारी भावों से भी रहित अपनी आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और

रमणतापूर्वक केवलज्ञान होता है, तत्पश्चात् मोक्ष होता है। भगवान भी इसीप्रकार मुक्त हुए हैं। सम्पूर्ण लोकालोक को युगपत् स्पष्ट जाननेवाले केवली भगवान की वाणी में आया है कि द्रव्य जाति अपेक्षा छह हैं। वे जितने हैं, उतने ही जाने तो ज्ञान सत्य हो।

जिसप्रकार 'जीव' वाचक शब्द है तो वाच्य पदार्थ 'जीव' भी होना चाहिए, क्योंकि 'जीव' शब्द में 'जीव' पदार्थ नहीं है; अपितु 'जीव' शब्द ज्ञानादि स्वभाव के धारक 'जीव' पदार्थ को बताता है; उसीप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य आदि शब्द हैं, वे भी अपने-अपने स्वभाव के धारक पदार्थों को बताते हैं। ऐसा वाचक-वाच्य सम्बन्ध स्वतंत्र है। अत: 'काल' शब्द 'काल' नामक पदार्थ को बताता है। इसप्रकार कालद्रव्य का निश्चय हुआ।

अब काल द्रव्य की सिद्धि दृष्टान्तपूर्वक करते हैं।

यह अँगुली टेढ़ी हुई तो जिस समय टेढ़ी अवस्था का उत्पाद हुआ, उसी समय सीधी अवस्था का व्यय हुआ और अँगुली ध्रुव रही। तीनों अवस्थायें एक साथ हैं। सोने की कुंडल पर्याय का उत्पाद, कड़ा पर्याय का व्यय और सोने का ध्रुव रहना; जीव की मनुष्य पर्याय का उत्पाद, देव पर्याय का व्यय और जीवपने का ध्रुव रहना - इसप्रकार तीनों ही अवस्थायें एक समय में एक साथ होती हैं। इससे कालद्रव्य की सिद्धि होती है - ऐसा ज्ञान करना चाहिए।

व्यापारी अपने बही-खातों का ज्ञान अच्छी तरह रखता है; क्योंकि उसमें उसकी रुचि है। रुपया, पैसा मिलना या न मिलना पुण्याधीन है तथा पुण्योदय से प्राप्त पैसा भी जीव के साथ रहनेवाला नहीं है। यह पैसा मुझे मिला - ऐसी ममता जीव करता है, वही उसकी आत्मशक्ति को लूट रही है। ममता के बिना मैं त्रिकाली ज्ञानस्वभावी हूँ, जगत के समस्त परपदार्थ मुझे लाभदायक अथवा नुकसानदायक नहीं हैं - इसप्रकार जगत का ज्ञान करके अपने ज्ञानस्वभाव का माहात्म्य लाना ही धर्म है। सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित इसी आगम में बहुत पदार्थों का वर्णन मिलता है, उसका पठन-पाठन करना चाहिए।

केवलज्ञान पर्याय का उत्पाद तथा उसके कारणभूत निर्विकल्प ध्यान का व्यय और उन दोनों के आधारभूत परमात्मद्रव्यरूप जीव ध्रुव है। इसी का विस्तार इसप्रकार है:-

आत्मा ज्ञानानंदस्वभावी है, राग-द्वेष परिणति विकार है। अल्पज्ञता आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, मैं स्वयं निजस्वभाव में एकाग्र होऊँ तो केवलज्ञान प्रकट हो – ऐसा आत्मा का स्वरूप है।

सर्वप्रथम ऐसा ज्ञान करना चाहिए कि शरीर, मन, वाणी एकक्षेत्र में रहते हुए भी पुद्गल हैं; रुपया, पैसा, कुटुम्बीजन पृथक् हैं, उनका रहना अथवा जाना मेरे (जीव के) हाथ में नहीं है। यदि जीव के हाथ की बात हो तो वह रुपया-पैसा जाने ही न दे, कुटुम्बीजनों को मरने ही न दे; परन्तु ऐसा नहीं होता है।

भाई! जीव ममता करे अथवा ममतारहित आत्मा की श्रद्धा करे, दोनों ही दशाओं में जीव 'पर' से पृथक् है, परन्तु ममता से पृथक् नहीं है। स्वयं, स्वयं की भूल से ममता करता है, कोई उससे ममता नहीं कराता है – ऐसा ज्ञान करने के बाद ममता अनित्य है और ज्ञानस्वभावी आत्मा नित्य है, ममतारहित है। इसप्रकार आत्मश्रद्धान और ज्ञानपूर्वक ममता घटायी जा सकती है।

ममता का अभाव करे अर्थात् आत्मा का यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और लीनता करे तो वीतरागतापूर्वक केवलज्ञान प्रकट होता है, उसी समय ध्यान का नाश होता है। कैसा है ध्यान? निर्विकल्प और केवलज्ञान की प्रकटता में कारण है। अपने ज्ञानानंदस्वभाव से हटकर शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, मैं पुण्य-पाप करता हूँ – ऐसी वासना की गंध ही विकार है और मूढ़जनों का ध्यान है। अज्ञानी जीव बाहर में आनंद मानते हैं। जगत की क्रिया जगत के कारण होती है, परन्तु अज्ञानी को यह बात जँचती नहीं है।

धर्मी जीव विचार करता है कि संयोग मेरे से भिन्न हैं, उनका परिणमन अर्थात् क्रिया उनसे ही होती है, मैं तो जाननेवाला हूँ तथा मुझे मेरी भूल से ही राग-द्वेष होते हैं, वे दुःखदायक हैं। विकाररहित शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान करना सुखदायक है। इसप्रकार सत्स्वभाव की रुचि होने से विकार की रुचि टूट जाती है तथा स्वभाव में विशेष स्थिरता होने से निर्विकल्प ध्यान होता है। संसार की दृष्टिवाले दुनिया के जीव ममता में पड़े हैं, परन्तु यहाँ आचार्य कहते हैं कि तेरा स्वरूप तो सच्चिदानंदमय है। सत् अर्थात् स्थिर रहनेवाला, चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द (आह्लाद) मेरा स्थायी स्वभाव है – ऐसा धर्मी का विचार होता है।

शरीर, रुपया-पैसा यहीं पड़ा रहेगा - वह मेरा नहीं है, पर्याय कल्पना भी व्याधि है, कल्पनारहित ज्ञान और आनंद ही मेरा स्वरूप है - ऐसी दृढ़ प्रतीतिपूर्वक स्वरूप-स्थिरता से निर्विकल्प ध्यान होता है, वही मोक्षमार्ग है तथा केवलज्ञान और मुक्ति का कारण है। मोक्षमार्ग अर्थात् ध्यानरूपी वीतरागी पर्याय का नाश, केवलज्ञान की उत्पत्ति और आत्मा की ध्रुवता - ये तीनों एक साथ हैं। केवलज्ञान का उत्पाद और निर्विकल्प ध्यान का व्यय - दोनों का आधार ध्रुव जीवपदार्थ ही है।

सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि सबसे पहले यह निर्णय कर कि यही सत्यमार्ग है। स्वरूप में स्थिरता नहीं होती, यह चारित्र का दोष है; परन्तु स्थिरता होना चाहिए, उसके बिना केवलज्ञान और मुक्ति नहीं होती है। अरे भाई! ऐसी प्रतीति कर तो सही! आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान और रमणतारूपी एक पर्याय केवलज्ञान का कारण है।

अब कालद्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटाते हैं। जब एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में मंदगति से गमन करता है तो एक समय लगता है। उससमय में परमाणु निमित्त है और कालाणु उपादान कारण है। उससे वर्तमान समय की उत्पत्ति हुई - यह उत्पाद हुआ, उसी समय पूर्व पर्याय का व्यय हुआ तथा वर्तमान और भूत समय के आधारभूत कालद्रव्य की ध्रुवता ज्यों की त्यों रही। इसप्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रुव धर्मों को धारण करनेवाला कालद्रव्य सिद्ध होता है। जहाँ कालद्रव्य की समय, घड़ी आदि पर्यायें होती हैं, वहाँ कालद्रव्य होता ही है।

आत्मा को ज्ञान अपेक्षा से जानने पर नई पर्याय का उत्पाद, पुरानी पर्याय का व्यय और आत्मा ध्रुव ज्ञान में आता है। ज्ञान तथा पर्याय आत्मप्रमाण क्षेत्र में रहते हैं और आत्मा भी पर्याय जितने क्षेत्र में रहता है, परन्तु आत्मा में एक पर्याय का अंत और उसी समय दूसरी पर्याय का उत्पाद होता है। एक समय में अंत आवे और दूसरे समय में उत्पाद हो - ऐसा नहीं है। एक समय में दोनों होते हैं, उसी समय आत्मा भी ध्रुव रहता है।

एक समय हुआ - ऐसा कहने पर वर्त्तमान समय की उत्पत्ति, पूर्व समय का व्यय और दोनों की आधारभूत कालाणु की ध्रुवतावाला कालद्रव्य सिद्ध होता है। यदि काल त्रिकालीद्रव्य नहीं माना जाये तो एक-एक समय हुआ - इत्यादि ज्ञान कैसे हो; क्योंकि

कालसूचक त्रिकालीद्रव्य बिना कालसूचक समयरूपी पर्याय नहीं हो सकती है। इसलिए समय घड़ी आदि से त्रिकालीकाल सिद्ध होता है तथा अरूपी, असंख्य कालाणु लोक में हैं, उनको नहीं मानने पर आत्मा के ज्ञान की महिमा नहीं आती है।

जिसप्रकार पाँच मन गुड़ का वजन करने के लिए काँटे पर पाँच मन के बाँट रखने चाहिए, परन्तु इसके बदले कोई मजदूर चार मन के बाँट रखे तो वह मूर्ख कहा जाता है, उसे सही तोलना नहीं आता है। उसीप्रकार इस जगत में छह द्रव्य हैं तथा उन सभी द्रव्यों को जानने की सामर्थ्य आत्मा में है; फिर भी कोई छह के बदले पाँच प्रकार के द्रव्य कहे तो वह अपने ज्ञान में ज्ञेयों की माप करने में चतुर नहीं है, उसे केवली भगवान मूढ़ कहते हैं।

इसलिए जिसे मूढ़ता छोड़ना हो तो जगत् में छह द्रव्य जैसे हैं, उन्हें वैसे ही जानना चाहिए। जो ऐसा ज्ञान करता है, उसी का ज्ञान सम्यक् होता है और धर्म की प्राप्ति होती है।

सर्वप्रथम सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित आगम से सर्वज्ञ के स्वरूप का ज्ञान करना चाहिए। फिर परीक्षा द्वारा निर्णय करना चाहिए कि उन्हें पूर्ण ज्ञान था या नहीं तथा उनकी वाणी के अनुसार लिखे आगम की, आत्मा के आनंद की प्राप्ति में तत्पर वीतरागी गुरुओं की और उनके द्वारा कहे गये तत्त्वों की जानकारी करना चाहिए। इस पद्धति के बिना वस्तुतः तत्त्व समझ में नहीं आता है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्र आचार्य कहते हैं:-

''जिन्हें सच्चे देव, गुरु और शास्त्र की खबर नहीं है, वे जीव मिथ्यादृष्टि हैं।''

सर्वज्ञ भगवान की वाणी के अनुसार लिखित आगम के अलावा अन्य कहीं भी जीव, पुद्गल आदि छह द्रव्यों की यथार्थ बात नहीं आती है। लोक में मात्र जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य ही नहीं हैं; अपितु जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छहों द्रव्य हैं। इनमें से कालद्रव्य की सिद्धि उत्पाद, व्यय और ध्रुव से करते हैं।

जब आत्मा अपने ज्ञानानंद स्वभाव का श्रद्धान, ज्ञान और लीनता करता है तो केवलज्ञान दशा प्राप्त होती है। केवलज्ञान दशा का उत्पाद, पूर्व ध्यानपर्याय का व्यय और दोनों के साथ ही आत्मा की ध्रुवता रहती है। इसप्रकार एक समय में उत्पाद, व्यय और

ध्रौव्य तीनों ही हैं। तथा एक समय हुआ – ऐसा कहने पर वर्त्तमान समय का उत्पाद, पूर्व समय का व्यय और कालद्रव्य ध्रुव (नित्य) रहता है – इसप्रकार कालद्रव्य की सिद्धि होती है।

श्वेताम्बर शास्त्रों में पाँच द्रव्यों की ही सिद्धि है, कालद्रव्य का कहीं भी कथन नहीं है; अत: उनका आगम यथार्थ वस्तु व्यवस्था बतानेवाला नहीं है। जाति अपेक्षा छह द्रव्यों में से एकद्रव्य भी कम जाने तो ज्ञान के स्वभाव का पूर्ण विकास सिद्ध नहीं होता है। ज्ञान के पूर्ण विकास के अभाव में सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती और सर्वज्ञता के अभाव में उनका आगम भी सही सिद्ध नहीं होता है।

प्रश्न– अलोकाकाश में कालाणु नहीं हैं तो वहाँ परिणमन कैसे होता है? वहाँ भी कालाणु का निमित्त होना चाहिए? प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप होता है। आकाश में भी उत्पाद–व्ययरूप परिणमन होता है और परिणमन में कालाणु निमित्त होते हैं, यह भी निश्चित है; परन्तु अलोकाकाश में कालाणु के निमित्त बिना परिणमन कैसे होता है?

उत्तर– जिसप्रकार कुम्हार का अखंड चाक अपने एक भाग में डंडे का निमित्त पाकर परिणमन करता है, उसीप्रकार अखंड आकाश के एक भाग (लोकाकाश) में कालाणुओं के निमित्त से सम्पूर्ण (लोकालोक) आकाश में परिणमन होता है।

ऊपर जो काला–नीला दिखायी देता है, वह आकाश नहीं है; पुद्गल की पर्याय है। आकाश तो अरूपी है, उसका नीला–काला रंग होता ही नहीं है। सभी द्रव्यों को अवगाह (स्थान) देनेवाला आकाशद्रव्य अखंड है और लोकाकाश में स्थित कालाणु समस्त आकाश के परिणमन में निमित्त होते हैं।

किसी स्थान विशेष पर पीछी रगड़ें तो उसका वेदन पूरे आत्मा को होता है। अमुक प्रदेश में स्पर्शनेन्द्रिय से अमुक विषय का सेवन करते हुए सारे शरीर में सुख का वेदन होता है। उसीप्रकार लोक में स्थित कालाणुओं को धारण करनेवाला एकदेश आकाश है, उससे ही सारे आकाश में परिणमन होता है अर्थात् लोक में स्थित कालाणु के निमित्त से लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों में ही परिणमन होता है।

प्रश्न – जीव–पुद्गल आदि द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण कालद्रव्य है,

पर कालद्रव्य के परिणमन में सहकारी कारण कौन है?

उत्तर – जिसप्रकार आकाशद्रव्य सभी द्रव्यों को अवगाह देने में निमित्त होता हुआ अपने अवगाह का आधार स्वयं ही है, उसीप्रकार कालद्रव्य शेष सभी द्रव्यों के परिणमन में निमित्त होता हुआ अपने परिणमन में स्वयं निमित्त है।

प्रश्न – जैसे कालद्रव्य अपने परिणमन में स्वयं उपादान कारण और स्वयं निमित्त कारण है, वैसे ही जीवादि प्रत्येक द्रव्य को भी अपने-अपने परिणमन में उपादान कारण और निमित्त कारण मानना चाहिए। उनके प्रति कालद्रव्य को निमित्त कारण मानने से क्या लाभ?

उत्तर – आगम की श्रद्धा होती है, कालद्रव्य को सहकारी कारण मानने से यही लाभ है। अपने सिवाय बाह्य सहकारी कारणों से कोई प्रयोजन नहीं है, यदि ऐसा माना जाये तो जीव और पुद्गल की गति में धर्मद्रव्य तथा स्थिति में अधर्मद्रव्य के सहकारीपने की और सभी द्रव्यों के अवगाह में आकाशद्रव्य के सहकारीपने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

निष्कर्ष यह है कि कालद्रव्य को परिणमन में सहकारी कारण न मानने पर अन्य द्रव्य भी एक दूसरे के सहकारी कारण नहीं रह सकेंगे और आगम से विरोध प्राप्त होगा।

धर्मादि द्रव्यों की पर्यायें प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देती हैं, उनका ज्ञान तो आगम के अनुसार ही होता है। घड़ी, घण्टा, दिन आदि काल की पर्यायें स्पष्ट जानने में आती है, यदि उन पर्यायों के कारणभूत कालाणु को ही स्वीकार नहीं करेंगे तो फिर धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य का भी अभाव स्वीकार करना पड़ेगा, जो ठीक नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य अपने अवगाहन में उपादान और निमित्त कारण स्वयं है, यदि ऐसा मानें तो आकाशद्रव्य का अभाव हो जायेगा। जीव और पुद्गल द्रव्यों की गति व स्थिति में उपादान और निमित्त कारण जीव और पुद्गल द्रव्य ही मानें तो धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव होगा और कालद्रव्य का अभाव मानने पर समय, घड़ी आदि का अभाव हो जायेगा। इन चारों द्रव्यों का अभाव मानने पर जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य रहेंगे तथा शास्त्र के कथन से बड़ा भारी विरोध आयेगा; क्योंकि शास्त्रों में तो जीव पुद्गल आदि छह द्रव्य कहे हैं।

सभी द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण होने का गुण (सामर्थ्य) मात्र कालद्रव्य में है, अन्य द्रव्यों में नहीं। जिसप्रकार नाक में रस का स्वाद लेने की, काले-पीले आदि रंग देखने की और ठंडा-गरम आदि स्पर्श को जानने की सामर्थ्य नहीं है, उसीप्रकार काल से भिन्न द्रव्यों में अन्य द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण बनने की सामर्थ्य नहीं है।

यदि एक द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में माने जायें तो संकरदोष आता है। ऐसी हालत में जड़ और चेतन पदार्थ भिन्न-भिन्न नहीं बन सकते। जीव का ज्ञान पुद्गलादि द्रव्यों में और पुद्गलादि द्रव्यों का अचेतनत्व जीव में आ जायेगा। काल का परिणमन हेतुत्व, आकाश का अवगाहन हेतुत्व, धर्मद्रव्य का गति हेतुत्व, अधर्मद्रव्य का स्थिति हेतुत्व, पुद्गल का स्पर्शादिपना और जीव का चेतनपना आदि गुण एक-दूसरे में आ जायें तो सभी द्रव्य एक जैसे हो जायेंगे, कोई भिन्नता नहीं रहेगी; इसप्रकार संकरदोष आयेगा, जो ठीक नहीं है। अत: परिणमन हेतुत्व गुणवाले कालद्रव्य को ही अन्य सभी द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण मानना चाहिए।

प्रश्न - शास्त्र के अनुसार जितने काल में एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करता है, उतने काल को एक समय कहते हैं; यह काल के माप की इकाई है, परन्तु शास्त्र में ऐसा भी कहा है कि एक परमाणु एक समय में चौदह राजू गमन करता है - यह कैसे संभव है?

उत्तर - जब एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाता है, तब एक समय लगता है - यह कथन मंदगति अपेक्षा है और एक समय में ही चौदह राजू गमन करता है - यह कथन तीव्रगति अपेक्षा है। दृष्टान्त इसप्रकार है- देवदत्त धीमी चाल से चले तो एक दिन में एक योजन के हिसाब से सौ योजन सौ दिन में जाता है, परन्तु विद्या के प्रभाव से तेज चाल से चले तो सौ योजन एक दिन में जाता है। आजकल हवाई जहाज द्वारा भावनगर से बम्बई डेढ़ घंटे में पहुँचते हैं और रेलगाड़ी द्वारा २० घंटे में पहुँचते हैं। इसी प्रकार परमाणु भी तेज चाल से एक समय में चौदह राजू गमन करता है और मंद चाल से एक समय में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को गमन करता है।

आत्मा का स्वभाव विषयों के अनुभव से रहित है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि की तरफ झुकाव उसका विकारी परिणमन है, क्षणिक उपाधि है; आत्मा का शुद्धस्वरूप

नहीं है। पर्याय में विकार का अनुभव होने पर भी द्रव्यस्वभाव उससे रहित है, शुद्ध ही है। ऐसा जानकर भी जो विषय-भोगों को चाहते हैं, उनके भोगने की इच्छा करते हैं, यह ठीक नहीं है, दुख का कारण होने से अपध्यान है।

विषयों की अभिलाषा से रहित, विकल्प-जालों से मुक्त होकर अपने आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करना अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्दरस का वेदन करनारूप वीतरागचारित्र के साथ जो सम्यग्दर्शन है, वही निश्चयसम्यग्दर्शन अथवा वीतरागसम्यग्दर्शन है।

सच्चे देव-गुरु शास्त्र की श्रद्धा करना सराग-सम्यग्दर्शन है, यह शुभराग वीतरागभावरूप निश्चय सम्यग्दर्शन का सहचारी है। रागरहित आत्मा की श्रद्धा करना निश्चय सम्यक्त्व है। छह द्रव्यों को मानना आदि व्यवहारसम्यक्त्व है, वह भी आवश्यक है; क्योंकि छह द्रव्यों की यथार्थ प्रतीति बिना निश्चयसम्यक्त्व नहीं होता है। आत्मा की निर्विकल्प प्रतीतिरूप निश्चयसम्यक्त्व सहित वीतरागीचारित्र लाभदायक है। यहाँ चारित्र की विशेष शुद्धता के काल में रहनेवाले सम्यक्त्व को वीतरागसम्यक्त्व कहा है।

कालादि छह द्रव्य हैं। जिन्हें स्वीकार न करने पर वस्तु का नाश नहीं होता, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता, अपितु स्वयं का ज्ञान खोटा हो जाता है।

मुक्ति का कारण आत्मा त्रिकालीस्वभाव है, जिसका ज्ञान होने पर छह द्रव्यों की यथार्थ प्रतीति भी हो जाती है। काल की सिद्धि करके भी मुक्ति का कारण वीतरागसम्यक्त्व को ही बताया है, काल मुक्ति का कारण नहीं है।

पाँच इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। स्वरूप स्थिरतापूर्वक परमानन्द का अनुभव करना, उसका स्वभाव है; परन्तु अज्ञानी इसे भूलकर दूसरों की सम्पत्ति और भोगोपभोग पदार्थों को देखकर कल्पना करता है कि ऐसे संयोग मुझे भी मिल जावें तो बहुत अच्छा।

वहीं अज्ञानी प्रत्यक्ष दिखायी न देनेवाले देवताओं, इन्द्रों आदि के वैभव का वर्णन शास्त्रों से सुनकर विचार करता है कि देवता इन्द्र के ऊपर चंवर ढुलाते हैं। अहो! कितना मनोहारी संयोग है, यदि मैं भी इन संयोगों में होता अर्थात् इन्द्र होता तो कैसा रहता? इत्यादि भावनायें भाता है, राग-द्वेष आदि के विकल्प करता है। खोटा ध्यान ऐसा ही होता है।

किसी करोड़पति को देखकर मैं भी करोड़पति हो जाऊँ, किसी के मधुर स्वर को सुनकर मेरा भी ऐसा ही स्वर हो, किसी की व्याख्यान शैली बढ़िया जानकर मेरी शैली भी ऐसी ही हो – इत्यादि विचार करना कुध्यान है।

अरे भाई! आत्मस्वभाव का अवलम्बन चाहिए या संयोग चाहिए। सुख चाहिए या संयोगी भावों का दु:ख।

अज्ञानी की दृष्टि संयोगों पर होने से उसे आत्मा की रुचि नहीं होती है, परन्तु संयोग के कारणभूत पुण्य की भी सच्ची रुचि नहीं होती है; क्योंकि इन्द्र, चक्रवर्ती सम्बन्धी पुण्य आत्मा की रुचि हुए बिना नहीं बँधता है। चक्रवर्ती, इन्द्र वगैरह का कथन शास्त्र में सुनकर अज्ञानी को गुदगुदाहट होती है, परन्तु यह कथन ललचाने के लिए नहीं है, अपितु अज्ञानी जीव पुण्य-पाप के चक्कर में फँसकर अपने चैतन्य, आनंदघन, सुख के भंडार-स्वरूप आत्मस्वभाव को भूलकर दु:ख भोगता है – यह बतलाने के लिए है।

दया, दान, व्रत, पूजा आदि सभी विकल्पों से रहित अपने ही शुद्धस्वभाव में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जो स्थिरता होती है, उसे वीतरागी चारित्र कहते हैं।

वीतरागी चारित्र आत्मा के अतीन्द्रिय रस का पान करने से अर्थात् स्वरूपरमणता से होता है, शास्त्र के ज्ञान से नहीं। इसका सहचारी सम्यक्त्व ही वीतराग सम्यक्त्व है।

यहाँ बहुत जीव ऐसा कहते हैं कि निश्चयसम्यक्त्व सातवें गुणस्थान में होता है, चौथे गुणस्थान में नहीं; पर यह बात सही नहीं है। निश्चयसम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान से ही होता है। यहाँ सम्यग्दर्शन के बाद होनेवाले विशेष चारित्र की अपेक्षा है। अकेले निश्चयसम्यग्दर्शन से मोक्ष नहीं होता है – यह बताने के लिए चारित्र प्रधान कथन किया है।

भूमिका में यथायोग्य शुभराग आता है, उसका अभाव स्वरूपरमणता द्वारा होता है और वीतरागता प्रकट होती है, कल्याण होता है।

इसप्रकार आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मुक्ति का कारण है – ऐसा समझकर जो मोक्षमार्ग प्रकट करते हैं, उसमें काल निमित्त कहा जाता है। निश्चयसम्यक्त्व प्रकट नहीं करने पर कालद्रव्य सहकारी कारण भी नहीं है; इसलिए कालद्रव्य हेय है।

यहाँ कालद्रव्य हेय है – ऐसा कहा। इससे कालद्रव्य निमित्त भी नहीं है – ऐसा नहीं मानना चाहिए। निमित्त से कार्य नहीं होता है, वह कर्त्ता नहीं है – यह अभिप्राय समझना चाहिए, क्योंकि यथायोग्य निमित्त होता ही है।

यहाँ कोई तर्क करता है कि समयसार में कहा है "लिङ्ग मुक्ति का कारण नहीं है, आत्मस्वरूप के अवलम्बन से ही मोक्ष होता है।" फिर बाह्यलिङ्ग से क्या प्रयोजन? सवस्त्र हो या निर्वस्त्र (नग्न)। निर्वस्त्र लिङ्ग ही होना चाहिए, ऐसा आग्रह क्यों?

तथा समाधिशतक में भी कहा है कि जिसे लिङ्ग का आग्रह है, उसने शास्त्र के मर्म को नहीं जाना।

अज्ञानी जीव निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं समझते हैं और कुतर्क करते हैं। आत्मा के आश्रय से ही मोक्ष होता है – यह बात बराबर है, फिर भी मोक्षदशा नग्न-दिगम्बर भावलिङ्गी मुनिदशा के बिना नहीं होती है।

इस कथन से बाह्यलिङ्गरूप मुनिदशा को ही मोक्ष का कारण माने तो भूल है और वह दशा मोक्ष का कारण नहीं है – ऐसा मानकर सवस्त्र मुनिदशा से भी मोक्ष हो सकता है, नग्न मुनिदशा से क्या लाभ? इसप्रकार स्वीकार करे तो भी भूल है।

जैसे केसर लेते समय डिब्बी या बर्नी की सुन्दरता नहीं देखी जाती, क्योंकि डिब्बी और बर्नी केसर नहीं है और न ही उन्हें दूध व पाक में घोलकर काम में लाया जा सकता है। तथा केसर लेते समय डिब्बी, बर्नी आदि न हो – ऐसा भी नहीं है, कुछ न कुछ होता ही है, जिसमें वह रखी रहती है। वैसे ही निज चैतन्यस्वरूप के भानपूर्वक मोक्षदशा प्रकट करते समय नग्न मुनिदशा का महत्त्व नहीं है; क्योंकि उससे मोक्ष नहीं होता है, मोक्ष तो स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। मुनिदशा स्वयं मोक्ष भी नहीं है, परन्तु मोक्षदशा जिस समय प्रकट होती है, उस समय नग्र-दिगम्बर मुनिदशा होती ही है, महाव्रतों के पालन करने का विकल्प आये बिना नहीं रहता है, किन्तु वह विकल्प मुक्ति का कारण नहीं है।

देखो! सम्यक्त्व की महिमा, जिसके बल से अनेकों महापुरुष सिद्धदशा को प्राप्त हुए, आज भी हो रहे हैं तथा भविष्य में भी होते रहेंगे।

वीतरागी सर्वज्ञ भगवान की देशना के अनुसार षट्खंडागम आदि आगम ग्रन्थों की

रचना हुई, उनमें कालद्रव्य सहित छहद्रव्यों का वर्णन है, युक्ति से भी काल की सिद्धि होती है। इसलिए अविरोधपने छह द्रव्य मानना चाहिए। भगवान के वचन प्रमाण हैं। वीतराग-धर्म अलौकिक है। भाई! यह वाद-विवाद का विषय नहीं है। निमित्त है, व्यवहार है, परन्तु उनसे कार्य अथवा कल्याण नहीं होता है। योग्यतारूप उपादान से कार्य और आत्मा के आश्रय से कल्याण होता है। सर्वत्र यथायोग्य निमित्त अथवा व्यवहार होता ही है।

अज्ञानी जीव कहता है कि निमित्त उपादान में कुछ करे – ऐसा मानने पर ही निमित्त को मानना सही मानना है, परन्तु यह उसकी भूल है। जो जैसा है, उसे वैसा ही मानना चाहिए। निमित्त का हस्तक्षेप उपादान में थोड़ा भी नहीं है।

मुनि के नग्नदशा होती है। धर्मीजीव को छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ इत्यादि का ज्ञान होता है, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा होती है; परन्तु उससे धर्म नहीं होता, धर्म तो अपने स्वभाव के आश्रय से ही होता है।

आत्मा की श्रद्धा हो जाने पर धर्म और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा हो जाती है। यथार्थतया धर्मी को निमित्तपने सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि की यथार्थ श्रद्धा और यथार्थ ज्ञान होता ही है। मुनि-अवस्था में नग्न दशा होती ही है, परन्तु आत्मज्ञान के बिना ये सब निरर्थक हैं। इसलिए आत्मज्ञान-श्रद्धान को ही महत्त्व दिया जाता है और कल्याण भी निजस्वभाव के अवलम्बन से ही होता है।

अज्ञानियों से वाद-विवाद नहीं करना चाहिए; क्योंकि वाद-विवाद करने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और संसार में भटकना पड़ता है।

❑❑❑

मैं तो ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ, जानना-देखना वह मेरा कार्य है। विकार के परिणामों को छुए बिना स्पर्श किए बिना, अपने अस्तित्व के कारण मैं जानता हूँ। रागादि किसी भी प्रकार से मेरा कार्य नहीं है, इसप्रकार सभी ओर से कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का शमन करती हुई ज्ञानज्योति प्रकट होती है, स्फुरायमान होती है। कर्त्ता-कर्म में तो अज्ञानी को विकार का स्फुरण था, चैतन्यज्योति अंतर्दृष्टि होने पर ज्ञानज्योति प्रस्फुरित हुई वह मेरा कार्य है।

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१९५

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-२३-२४

अब पाँच गाथाओं तक पंचास्तिकाय का व्याख्यान करते हैं। उनमें भी प्रथम गाथा के पूर्वार्ध से छह द्रव्यों के व्याख्यान का उपसंहार और उत्तरार्ध से पंचास्तिकाय के व्याख्यान का प्रारंभ करते हैं :-

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु॥२३॥
संति जदो तेणेदे अत्थीत्ति भणंति जिणवरा जह्मा।
काया इव बहुदेसा तह्मा काया य अत्थिकाया य॥२४॥

एवं षड्भेदं इदं जीवाजीवप्रभेदत्तः द्रव्यम्।
उक्तं कालवियुक्तं ज्ञातव्यः पञ्च अस्तिकायाः तु॥२३॥
सन्ति यतः तेन एते अस्ति इति भणन्ति जिनवराः यस्मात्।
काया इव बहुदेशाः तस्मात् कायाः च अस्तिकायाः च॥२४॥

इसतरह ये छह दरब जो जीव और अजीवमय।
काल बिन बाकी दरब ही पंच अस्तिकाय हैं॥२३॥
कायवत बहुप्रदेशी हैं इसलिए तो काय हैं।
अस्तित्वमय हैं इसलिए अस्ति कहा जिनदेव ने॥२४॥

गाथार्थ :- इसप्रकार जीव और अजीव के प्रभेद से द्रव्य छह प्रकार के हैं। कालद्रव्य के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय जानना।

क्योंकि वे विद्यमान हैं, अतः जिनवरों ने इन्हें अस्ति कहा है और ये काय की भाँति बहुप्रदेशी हैं; अतः इनको काय कहा है। दोनों मिलकर अस्तिकाय होते हैं।

टीका :- **एवं छब्भेय मिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं उत्तं** इसप्रकार पूर्वोक्त प्रकार से जीव और अजीव के प्रभेद से ये छह प्रकार के द्रव्य कहे हैं। **कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु** उन्हीं छह प्रकार के द्रव्यों में से पंचास्तिकाय रूप से जानना॥२३॥

संति जदो तेणेदे अत्थीत्ति भणंति जिणवरा जीव से आकाश तक के पाँच द्रव्य

विद्यमान हैं, इस कारण से इनको सर्वज्ञ जिनवर अस्ति कहते हैं। **जह्मा काया इव बहुदेसा तह्मा काया य** और वे काया की भाँति बहुप्रदेशी हैं, अत: जिनवर उनको काय कहते हैं। **अत्थिकाया य** इसप्रकार पहले कहा है, उसीप्रकार अस्तित्व युक्त होने से केवल अस्ति संज्ञा नहीं है तथा कायत्व युक्त होने से केवल काय संज्ञा भी नहीं है, परन्तु दोनों के मिलाप से अस्तिकाय संज्ञा है।

अब संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी अस्तित्व के साथ (ये पाँचों) अभेद हैं - ऐसा बतलाते हैं:- शुद्ध जीवास्तिकाय में (मुक्तदशा में) सिद्धत्व लक्षणरूप शुद्धद्रव्य-व्यंजनपर्याय, केवलज्ञान आदि विशेष गुण और अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं तथा (मुक्तदशा में) अव्याबाध अनंतसुखादि अनंत गुण की व्यक्ततारूप कार्य-समयसार का उत्पाद, रागादि विभावरहित परमस्वास्थ्यरूप कारण-समयसार का व्यय और उन दोनों के आधारभूत परमात्मद्रव्यत्व रूप से ध्रौव्य है। शुद्ध जीवास्तिकाय को इस भाँति उपर्युक्त लक्षणवाले गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के साथ मुक्त-अवस्था में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी सत्तारूप से और प्रदेशरूप से भेद नहीं है। भेद किसलिए नहीं है? मुक्तात्मा की सत्ता में गुण-पर्यायों का और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है तथा गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय ध्रौव्य की सत्ता से मुक्तात्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, इसप्रकार परस्पर साधित सिद्धत्व (साध्य-साधनपना) है।

अब इनके कायत्व का कथन किया जाता है - जिस प्रकार बहुत प्रदेशों के समूह को देखकर शरीर को काय कहा जाता है, उसीप्रकार अनंतज्ञानादि गुणों के आधारभूत लोकाकाशप्रमाण असंख्य शुद्ध प्रदेशों का समूह देखकर मुक्तात्मा के कायत्व कहा जाता है।

जिसप्रकार शुद्ध गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के साथ मुक्तात्मा को सत्तारूप से निश्चयनय से अभेदपना कहा (दर्शाया), उसीप्रकार यथासंभव संसारी जीवों में तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल में भी जानना और कालद्रव्य के अतिरिक्त कायत्व भी जानना।

इसप्रकार का गाथा का अर्थ है॥२४॥

गाथा २३-२४ पर प्रवचन

जीव और अजीव के प्रभेद से द्रव्य छह प्रकार के हैं। कालद्रव्य के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय समझने चाहिए। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश – ये पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं।

लोक में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश – पाँचों ही द्रव्य विद्यमान हैं, इसलिए इनको 'अस्ति' तथा शरीर के समान बहुप्रदेशी होने से इन्हें 'काय' कहते हैं। दोनों मिलकर 'अस्तिकाय' होते हैं। जिसप्रकार शरीर बहुत परमाणुओं का पिंड है, उसीप्रकार आत्मा की काय भी असंख्यप्रदेशी है। आत्मा का जो पहला प्रदेश है, वही दूसरा प्रदेश नहीं है; फिर भी आत्मा अखंड है, खंड-खंड नहीं।

पाँचों ही द्रव्यों के केवल 'अस्तित्व' से युक्त होने के कारण 'अस्ति' संज्ञा और केवल 'कायत्व' से युक्त होने के कारण 'काय' संज्ञा नहीं है; अपितु दोनों के मिलाप से 'अस्तिकाय' संज्ञा है।

अब पाँचों द्रव्यों में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद और अस्तित्व की अपेक्षा अभेद है – यह बतलाते हैं। जीव का नाम जीव, पुद्गल का नाम पुद्गल आदि नाम भेद है। जीव का लक्षण चेतना, पुद्गल का लक्षण स्पर्शत्वादि, धर्मद्रव्य का लक्षण गतिहेतुत्व आदि लक्षणभेद है। इसीतरह प्रयोजन की अपेक्षा भी भेद है, क्योंकि सभी का प्रयोजन भिन्न-भिन्न है। तथा सभी द्रव्यों में 'है' अर्थात् अस्तित्व की अपेक्षा कोई भेद नहीं है।

शुद्ध जीवास्तिकाय अर्थात् मुक्तजीव में सिद्धत्व लक्षण शुद्धव्यंजनपर्याय है। यहाँ सम्पूर्ण आत्मा की द्रव्य पर्याय को व्यंजनपर्याय कहा है। केवलज्ञान, आनन्द आदि विशेष गुण और अस्तित्व, वस्तुत्व आदि सामान्य गुण हैं।

निगोदादि अवस्था को प्राप्त जीवों की अशुद्ध दशा और मुक्त अवस्था को प्राप्त जीवों की शुद्ध दशा है – इसप्रकार अन्तर है, परन्तु अस्तिपने की अपेक्षा सिद्ध जीवों और निगोदिया जीवों के अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं है। जैसे मनुष्यों में राजा और रंक की अपेक्षा अन्तर है, परन्तु मनुष्यत्व की अपेक्षा दोनों समान ही हैं; वैसे ही जीवों में पूर्णज्ञान और अल्पज्ञान की अपेक्षा अन्तर है, परन्तु सभी जीवों में ज्ञान के अस्तित्व की अपेक्षा

समानता है।

तथा मुक्तदशा में अव्याबाध अर्थात् बाधारहित अनंतसुख आदि अनंतगुणों की प्रकटतारूप कार्यसमयसार का उत्पाद होता है। रागी जीव के यह उत्पाद कदापि नहीं होता है। उसको राग का उत्पाद, अज्ञानी को अज्ञान का उत्पाद, धर्मी को सम्यग्दर्शन का उत्पाद होता है।

इसप्रकार उत्पाद की विभिन्न अवस्थायें होने पर भी उत्पादसामान्य की अपेक्षा सभी सत्स्वरूप हैं।

किसी की स्मरणशक्ति बहुत होती है, किसी की कम। कोई निगोदपर्याय में उत्पन्न होता है, कोई देवपर्याय में। कोई सिद्धावस्था प्राप्त करता है तो कोई नरक निगोदादि अवस्था को। इत्यादि अवस्थाओं के उत्पाद में विशेषापेक्षा से भेद होकर भी उत्पादसामान्य के अस्तित्व में भेद नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता है कि सिद्धपर्याय सत् है और निगोद आदि पर्यायें असत्।

पाँचों अस्तिकाय द्रव्यों का उत्पाद भिन्न-भिन्न होकर भी उत्पादसामान्य की अपेक्षा सदृश ही हैं। एक जीव को मिथ्यात्व पर्याय का उत्पाद होता है तो एक जीव को सम्यक्त्व पर्याय का उत्पाद होता है। किसी को ज्ञान का उघाड़ कम होता है तो किसी को अधिक कोई सुखी होता है तो कोई दु:खी।

इसप्रकार उत्पाद की अवस्थाओं में भिन्नता होने पर भी उत्पादसत् की अपेक्षा कोई भेद नहीं है।

उत्पादसामान्य की सदृशता बताने के बाद व्ययपने की सदृशता बताते हैं।

सिद्धदशा उत्पन्न होने पर रागादि विभावों से रहित परम स्वास्थ्य स्वरूप कारण समयसार का व्यय होता है।

सिद्धावस्था को प्राप्त जीवों के संसार-अवस्था का व्यय होता है तथा किसी अन्य जीव के नरक पर्याय का व्यय, किसी के सम्यक्त्व का व्यय, किसी के मिथ्यात्व का व्यय, किसी परमाणु में नीली पर्याय का, किसी में पीली पर्याय का व्यय होता है। इत्यादि विभिन्नता के कारण व्यय के प्रकार पृथक् -पृथक् हैं, परन्तु सभी व्यय सामान्य

की अपेक्षा समान हैं। व्यय के अस्तित्व में कोई भेद नहीं हैं।

प्रत्येक द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय में सत्ता, लक्षण, प्रयोजन आदि भेद हैं; परन्तु अस्तित्व अपेक्षा कोई भेद नहीं है। अब उत्पादसत्, व्ययसत् और ध्रुवसत् की बात करते हैं। जिस द्रव्य की जिस पर्याय का उत्पाद हुआ में वह उसका उत्पादसत् है। अज्ञानी का अज्ञान पर्यायपने सत् है। केवलज्ञानी का केवलज्ञान भी सत् है। यहाँ सत् का अर्थ यह है कि जो पर्याय जिस समय में होनी है, वह उसी समय होगी; अन्य समय में नहीं।

प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाली है, सत् है तथा प्रत्येक समय प्रत्येक वस्तु में तीनों ही अंश होते हैं।

परमात्मदशा प्रकट होने पर रागादि विभावों से रहित मोक्षमार्गरूप दशा का व्यय हुआ। व्यय सर्वथा अभावरूप नहीं है, वह भी सत् है।

मोक्षमार्गरूपी दशा का व्यय हुआ, उसी समय परमात्मदशा का उत्पाद हुआ तथा उत्पाद और व्यय दोनों की आधारभूत वस्तु ध्रुव रही – यह ध्रुवसत् हुआ। इसप्रकार वस्तु में तीनों ही अंश सत् हैं।

पाँचों ही द्रव्य बहुप्रदेशी हैं, इस प्रकार प्रदेशपने कोई भेद नहीं है। जीवद्रव्य, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य असंख्यप्रदेशी हैं। आकाशद्रव्य अनंतप्रदेशी और पुद्गलस्कन्ध दो प्रदेशी से लेकर अनंतप्रदेशी हैं।

इसप्रकार संख्या में भेद होते हुए भी प्रदेश के अस्तित्व अथवा कायपने की अपेक्षा सभी द्रव्यों की समानता है। दो परमाणुओं का स्कन्ध, अनंतप्रदेशी महास्कन्ध, असंख्यप्रदेशी धर्म, अधर्म और जीवद्रव्य सप्रदेशी हैं। 'सप्रदेशपना' सभी में समान है।

सिद्ध के गुण, पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – ये पाँच बोल सिद्धजीव के हैं। इनमें से एक को भी कम करने पर आत्मा की सिद्धि नहीं होती है और आत्मा की सिद्धि नहीं होने पर सिद्धपर्याय की भी सिद्धि नहीं होगी।

जैसे सिद्धत्वरूप शुद्धव्यञ्जनपर्याय और केवलज्ञानादि गुण सिद्धजीव के सिद्ध होते हैं; वैसे ही परमात्मदशा का उत्पाद, मोक्षमार्गरूप पर्याय का व्यय और ध्रुवपना भी उनके सिद्ध है। इसप्रकार गुण-पर्याय आदि मुक्त आत्मा की सत्ता को तथा मुक्त आत्मा गुण-

पर्याय की सत्ता को परस्पर सिद्ध करते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य मरकर अनंत में मिल जाता है। आत्मा और शरीर के पृथक् हो जाने पर शरीर पड़ा रहता है और आत्मा पंचभूत में मिल जाता है; परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा चेतन है और पंचमहाभूत जड़ हैं। जड़ और चेतन कभी भी एक-दूसरे से नहीं मिलते। आत्मा जड़पदार्थों में तो मिलता ही नहीं, अन्य आत्माओं में भी नहीं मिलता।

सभी द्रव्य स्वतंत्र अस्तित्ववाले हैं, वे एक-दूसरे में कभी भी नहीं मिलते हैं। यहाँ कहते हैं कि मरने के बाद आत्मा आत्मारूप से ही रहता है। उसका अस्तित्व सदैव रहता है, कभी भी नाश नहीं होता है।

प्रत्येक वस्तु अविनश्वर होकर परिणमनशील है। यदि केवल वस्तु ध्रुवरूप हो, उत्पादरूप नहीं हो तो उत्पादरहित वस्तु में कार्य (पर्याय) कैसे उत्पन्न होगा? इसलिए वस्तु में ध्रुवपने के साथ उत्पाद-व्यय होता ही है। जिस समय जो पर्याय हो, वह सत् है। ''ज्ञान की अपूर्ण पर्याय-अल्पज्ञदशा असत् है और पूर्ण विकसित पर्याय-सर्वज्ञदशा सत् है।'' ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

निगोद में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। भले निगोदिया जीव को इसकी खबर न हो, परन्तु वहाँ भी नई अल्पज्ञपर्याय का उत्पाद, पूर्व अल्पज्ञपर्याय का व्यय और जीव का ध्रुवपना – तीनों ही होते हैं। निगोदिया जीवों के अक्षर के अनंतवें भाग ज्ञान का उघाड़ (क्षयोपशम) है। सबसे कम जाननेवाली ज्ञान की यह पर्याय भी सत् है।

द्रव्यसत्, गुणसत्, पर्यायसत् – इत्यादि सभी सत् हैं। ऐसा विचार करने में वीतरागता आती है और स्वभाव के आश्रय से केवलज्ञान प्रकट होता है, जीव संसार के दु:खों से छूटकर भगवान बन जाता है।

कसाई कर्म करनेवाले की पापरूप पर्याय और धार्मिक कर्म करनेवाले की धर्मरूप पर्याय दोनों ही पर्यायपने सत् हैं। एक पर्याय से विकार अवस्था की प्राप्ति कैसे? और एक से मुक्त-अवस्था की प्राप्ति कैसे? – इत्यादि प्रश्न पर्याय सामान्य की अपेक्षा विचार करने पर नहीं रहते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थानवाला कर्म के उदय के कारण पहले गुणस्थान में आ जाता है,

कोई अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करता है, कोई मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्वी और कोई सम्यक्त्व की विराधना कर मिथ्यात्वी हो जाता है।

प्रत्येक पर्याय सत् है। विकार भी सत् है, सम्यग्दर्शन भी सत् है। स्वरूपभेद होने पर भी अस्तिपने की अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अथवा प्रत्येक पर्याय किसी अन्य के कारण नहीं; अपितु स्वयं के कारण है, अपने आप में स्वतंत्र है, पूर्ण है – ऐसा समझ में आये तो पराधीन दृष्टि छूटे और वीतराग दृष्टि उत्पन्न हो।

अब काय का निरूपण करते हैं:-

शरीर अनंत परमाणुओं का पिण्ड होने से काय कहा जाता है तथा जो बहुत प्रदेशों में व्याप्त रहता है, उसे काय कहते हैं।

अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, सुख-वीर्यादि गुणों के आधारभूत लोकाकाश प्रमाण असंख्यात शुद्धप्रदेश हैं – इस अपेक्षा सिद्धजीव के कायपने का व्यवहार आता है अर्थात् सिद्धजीव भी असंख्यप्रदेशी है – यह कहा जाता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि सिद्ध असंख्यप्रदेशी तो व्यवहार से हैं, इसलिए उनके प्रदेश होते ही नहीं हैं – ऐसा मानना चाहिए।

नहीं, यह बात ठीक नहीं है। यथार्थतया सिद्ध जीव के असंख्यातप्रदेश निश्चय से हैं तथा असंख्यप्रदेशी होकर भी आत्मा अभेद-एकरूप है। उसे असंख्यात प्रदेश वाला कहना व्यवहार है। सिद्ध भगवान असंख्यातप्रदेशी हैं ही नहीं – ऐसा नहीं समझना चाहिए।

जिसप्रकार सिद्धभगवान के केवलज्ञानादि शुद्धगुण और शुद्ध व्यंजनपर्याय सत् हैं तथा परमात्मा दशा का उत्पाद, मोक्षमार्ग दशा का व्यय और स्वयं ध्रुवरूप – यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सत् भी उनके है। यहाँ सत् की अपेक्षा समानता बतायी गई है; उसीप्रकार समस्त संसारी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यों में यथासंभव परस्पर अभेदता अस्तित्व की अपेक्षा समानता समझना।

एक जीव स्वभाव का विरोध करके निगोद में जाता है और एक जीव स्वभाव के प्रति विद्यमान अनादिकालीन विरोध मिटाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर अल्पकाल में सिद्धदशा

को प्राप्त करता है।

अभव्य जीव और सिद्ध जीव सभी सत्रूप हैं। पुद्गल परमाणु अभी सफेद है, कालान्तर में काला हो गया। यहाँ परमाणु तो सत् है ही, सफेदपना और कालापना भी सत् है।

जिसप्रकार शुद्ध गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के साथ मुक्तात्मा को सत्तारूप से निश्चयनय से अभेदपना कहा, उसीप्रकार अन्य सभी द्रव्यों के भी जानना।

सभी द्रव्य सत् हैं। 'है' अर्थात् अस्तित्व में सभी आ जाते हैं। संसारी हैं और सिद्ध नहीं, परमाणु हैं और स्कन्ध नहीं - यह बात नहीं बन सकती है, सभी हैं। 'है' का पेट बहुत बड़ा है। इसमें सभी कुछ समा जाता है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी सत् हैं तथा इनमें से कालद्रव्य को छोड़कर शेष सभी द्रव्यों के कायपना भी जानना।

अस्ति और काय दोनों मिलाने से कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं।

❑❑❑

प्रभु! जो भाव तेरे स्वरूप में नहीं है, उन्हें तू अपना बनाने की आकांक्षा करता है तो तुझे ऐसी आकांक्षा करके कहाँ जाना है, उसका फल क्या है उसकी तुझे खबर है ? शरीर तो छूटेगा ही, आत्मा का नाश तो कभी होता नहीं है, तो यह शरीर छोड़कर कहाँ जायेगा ? जिसने राग और पुण्य की क्रिया का सेवन किया है, उससे लाभ माननेरूप मिथ्यात्व का सेवन किया है, वे भविष्य में भी मिथ्यात्व में रहेंगे। मिथ्यात्व के गर्भ में नरक और निगोद के अनंत भव करने की शक्ति है, वहीं अनंतकाल रहेंगे। भिन्न आत्मा का सम्यग्दर्शन होने पर अनादि भवसंतति का छेद हो जाता है, क्योंकि अनंत ज्ञान एवं अनंत आनन्द जिसके फल में प्रकट होता है, ऐसा कारण उसने प्राप्त किया है। अंतर में अभेद ज्ञायक आत्मा का पूर्ण आश्रय करने पर आत्मा गुणरूपी अनंत पंखुरियों से खिल उठता है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१९५

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-२५

अब कायत्व के व्याख्यान में पहले जो प्रदेशों का अस्तित्व सूचित किया था, उसका विशेष व्याख्यान करते हैं। एक पातनिका (उत्थनिका) तो इसप्रकार है, दूसरी पातनिका इसप्रकार है कि, किस द्रव्य के कितने प्रदेश हैं - इसका प्रतिपादन करते हैं :-

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ॥२५॥

भवन्ति असंख्याः जीवे धर्माधर्मयोः अनन्ता आकाशे।
मूर्त्ते त्रिविधाः प्रदेशाः कालस्य एकः न तेन सः कायः॥२५॥

हैं अनंत प्रदेश नभ जिय धर्म अधर्म असंख्य हैं।
सब पुद्गलों के त्रिविध एवं काल का बस एक है॥२५॥

गाथार्थ :- जीव, धर्म तथा अधर्मद्रव्य के असंख्य प्रदेश हैं, आकाश के अनंत प्रदेश हैं, मूर्त्त के (पुद्गल के) तीन प्रकार के (संख्यात, असंख्यात और अनंत) प्रदेश हैं। काल का एक प्रदेश है, अत: वह काय नहीं है।

टीका :- **होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे** दीपक की भाँति संकोच-विस्तारयुक्त एक जीव में और सदा स्वभाव से विस्तृत धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य में भी लोकाकाश प्रमाण असंख्य प्रदेश होते हैं। **अणंत आयासे** आकाश में अनंत प्रदेश होते हैं। **मुत्ते तिविह पदेसा** मूर्त-पुद्गल द्रव्य में संख्यात, असंख्यात और अनंत परमाणुओं के पिंड अर्थात् स्कंध होते हैं। उन्हीं को तीन प्रकार के प्रदेश कहे जाते हैं, क्षेत्र प्रदेशों को नहीं; क्योंकि पुद्गल अनंत प्रदेशी क्षेत्र में नहीं रहता है। **कालस्सेगो** कालाणु को एक ही प्रदेश है। **ण तेण सो काओ** इस कारण वह काय नहीं है। कालद्रव्य के एक प्रदेश होने के विषय में युक्ति दिखलाते हैं। वह इसप्रकार - जिस प्रकार अंतिम शरीर से कुछ न्यून प्रमाणवाली सिद्धत्व पर्याय का उपादान कारणभूत जो शुद्धात्मद्रव्य है, वह सिद्धत्वपर्याय प्रमाण (उसके समान) ही है अथवा जिस प्रकार मनुष्य, देव आदि पर्यायों का उपादान कारणभूत जो संसारी जीवद्रव्य है, वह इस मनुष्यादि पर्यायप्रमाण ही (उसके बराबर ही) है, उसीप्रकार कालद्रव्य भी समयरूप काल पर्याय के अविभागपने से उपादानकारण भूत अविभागी एक प्रदेश ही होता है। अथवा मंदगति से गमन करते हुए पुद्गलपरमाणु

को एक आकाश प्रदेश तक ही कालद्रव्य गति का सहकारी कारण होता है, अत: ज्ञात होता है कि वह कालद्रव्य भी एक प्रदेशी ही है।

शंका- कोई प्रश्न करता है कि पुद्गलपरमाणु को गति में सहकारी कारण धर्मद्रव्य है, उसमें कालद्रव्य का क्या प्रयोजन है?

समाधान- ऐसा नहीं कहना चाहिए। गति में सहकारी कारण धर्मद्रव्य विद्यमान होने पर भी मछली को गति करने में जल की भाँति और मनुष्यों को शकट आरोहण आदि की भाँति अन्य भी बहुत से सहकारी कारण होते हैं। कोई कहता है कि कालद्रव्य पुद्गलों की गति में सहकारी कारण है - ऐसा कहाँ पर कहा है? उसका उत्तर देते हैं:- श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने पंचास्तिकाय प्राभृत में कहा है कि **पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु।** इसका अर्थ कहा जाता है:- धर्मद्रव्य विद्यमान होने पर भी, जीवों को गति में कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल सहकारी कारण होते हैं और अणु तथा स्कंध - इन दो भेदवाले पुद्गलों को गमन में कालद्रव्य सहकारी कारण होता है॥२५॥

गाथा २५ पर प्रवचन

जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्य के असंख्यप्रदेश हैं। आकाश के अनंतप्रदेश हैं, मूर्त्त पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनंतप्रदेश हैं, काल द्रव्य का एक प्रदेश है; जिससे वह काय नहीं है।

दीपक के समान संकोच तथा विस्तारयुक्त एक जीव के असंख्यप्रदेश हैं। हाथी अथवा चींटी की पर्याय में भी असंख्यप्रदेश सदृश हैं। कंदमूल के एक शरीर में अनंत जीव हैं, प्रत्येक जीव असंख्यप्रदेशी है। केवलीसमुद्घात के काल में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त केवली भगवान के भी असंख्यप्रदेश हैं तथा सदा स्वभाव से विस्तृत धर्म और अधर्मद्रव्य असंख्यप्रदेशी हैं। इनमें संकोच-विस्तार नहीं होता। आकाशद्रव्य अनंत प्रदेशी, पुद्गलस्कन्ध संख्यात, असंख्यात और अनंतप्रदेशी है। इन्हीं को तीन प्रकार के प्रदेश कहते हैं - क्षेत्र प्रदेशों को नहीं; क्योंकि पुद्गल अनंतप्रदेशी क्षेत्र में नहीं रहता है। अनंतप्रदेशी स्कन्ध दो अथवा असंख्यप्रदेशों में समा जाता है, अनंतप्रदेशी क्षेत्र में नहीं रहता। कालद्रव्य एक प्रदेशी है, अत: काय नहीं है।

कालद्रव्य एक प्रदेशी है, इसमें युक्ति दिखलाते हैं।

जिसप्रकार सिद्धत्व पर्याय का उपादान कारण शुद्ध आत्मद्रव्य है। उस सिद्ध पर्याय की अवगाहना पूर्व के अंतिम शरीर से कुछ न्यून प्रमाणवाली है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय सिद्ध की अवगाहना पूर्व शरीर से भाग प्रमाण कहता है, परन्तु उसकी बात सही नहीं है। सिद्ध की अवगाहना पूर्व शरीर से कुछ कम है अर्थात् सिद्धत्व पर्याय का प्रमाण द्रव्य प्रमाण के समान है। उसीप्रकार कालद्रव्य भी समयरूप पर्याय के अविभागपने से उपादान कारणभूत अविभागी एकप्रदेशी ही होता है अथवा मंदगति से गमन करते हुए पुद्‌गलपरमाणु को एक आकाश प्रदेश तक ही कालद्रव्य गति का सहकारी कारण होता है। अतः ज्ञात होता है कि कालद्रव्य भी एक प्रदेशी ही है।

❑❑❑

संतों की रचना तो देखो!

लोग तो ऐसा मानते हैं कि बाह्य में फेरफार कर दें और बाह्य संयोग-साधन जुटाकर उनमें से सुख प्राप्त कर लें, किन्तु भाई! तेरा सुख संयोगों में नहीं है। अरे! देखो तो सही, यह सर्वज्ञ की वाणी! संतों की रचना तो देखो! सर्वज्ञ के मार्ग के सिवा दूसरे का एक अक्षर भी सच्चा नहीं है, दूसरा तो सभी विपरीत है। सत्य बात समझने से पूर्व भी गहरे-गहरे उसका बहुमान करके जो स्वीकार करता है, उस जीव को अन्य विपरीतता का आदर करनेवाले जीवों की अपेक्षा तो फेर पड़ा है। भले ही अभी स्वभाव की दृष्टि नहीं प्रकट हुई हो; किन्तु सत्य का आदर किया, उसमें भी उतना तो फेर पड़ा है या नहीं ? भव का अभाव तो स्वभाव की दृष्टि करेगा, तभी होगा; परन्तु उससे पूर्व असत्य का पोषण छोड़कर सत्य के आदर का भाव भी जिसे न आये, उसको तो स्वभाव में जाने की पात्रता भी कहाँ से आयेगी? अखण्ड स्वभाव की दृष्टि प्रकट होने से पूर्व उसके बहुमानपूर्वक श्रवण-मनन का भाव आये बिना नहीं रहता। सत्य का स्वीकार करके उसका आदरभाव भी जो नहीं करे, उसे तो अंतरस्वभाव की दृष्टि प्रकट करने का अवसर भी नहीं आता।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२००

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-२६

अब पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है तो भी उपचार से उसे कायत्व है – ऐसा उपदेश देते हैं:-

एयपदेसो वि अणु णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु॥२६॥

एकप्रदेशः अपि अणुः नानास्कन्धप्रदेशतः भवति।
बहुदेशः उपचारात् तेन च कायः भणन्ति सर्वज्ञाः॥२६॥

यद्यपि पुद्गल अणु है मात्र एक प्रदेशमय।
पर बहुप्रदेशी कहें जिन स्कन्ध के उपचार से॥२६॥

गाथार्थ :- एक प्रदेशी (होने पर) भी परमाणु अनेक स्कन्धरूप बहुप्रदेशी हो सकता है – इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार से परमाणु को काय कहते हैं।

टीका :- **एयपदेसो वि अणु णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो** पुद्गल-परमाणु एक प्रदेशी है तो भी भिन्न-भिन्न स्कंधरूप बहुप्रदेशी होता है, **उवयारा** उपचार अर्थात् व्यवहारनय से **तेण य काओ भणंति सव्वण्हु** इस कारण सर्वज्ञदेव उस पुद्गल परमाणु को काय कहते हैं।

विशेष – जिसप्रकार यह परमात्मा शुद्ध निश्चयनय से द्रव्यरूप से शुद्ध तथा एक है तो भी अनादि कर्मबंध के वश स्निग्ध-रूक्षगुण स्थानीय राग-द्वेषरूप परिणमित होकर व्यवहार से नर-नारकादि विभाव-पर्यायरूप से अनेक प्रकार का होता है; उसीप्रकार पुद्गल परमाणु भी स्वभाव से एक और शुद्ध होने पर भी राग-द्वेष स्थानीय बंधयोग्य स्निग्ध-रूक्षगुणरूप से परिणमित होकर द्वि-अणुक आदि स्कंधरूप विभाव-पर्यायरूप से अनेक प्रकार से बहुप्रदेशी होता है – इस कारण बहुप्रदेशत्व जिसका लक्षण है – ऐसे कायत्व के कारण उपचार से काय कहलाता है।

कोई मानता है कि जिसप्रकार पुद्गलपरमाणु को, उसके द्रव्यरूप से एक होने पर भी, द्वि-अणुक आदि स्कन्धपर्यायरूप से बहुप्रदेशरूप कायत्व है, उसीप्रकार कालाणु को भी, उसके द्रव्य से एक होने पर भी, पर्यायों से कायत्व हो! उसका परिहार किया जाता है:- स्निग्ध-रूक्षत्व जिसका कारण है – ऐसे बंध का (काल में) अभाव होने

से वैसा नहीं होता है। वह किसलिए है? क्योंकि स्निग्ध-रूक्षत्व पुद्गल का ही धर्म है।

शंका- अणु पुद्गल की संज्ञा है, काल को अणु संज्ञा किसप्रकार है?

समाधान- अणु शब्द द्वारा व्यवहारनय से पुद्गलों का कथन किया जाता है, निश्चय से तो वर्णादि गुणों के पूरण और गलन के संबंध से उनको पुद्गल कहा जाता है। वास्तविकरूप से अणु शब्द सूक्ष्मता का वाचक है। जैसे कि परमपने अर्थात् प्रकृष्टपने जो अणु है, वह परमाणु है। अणु का अर्थ क्या? सूक्ष्म इस व्युत्पत्ति से परमाणु शब्द अतिसूक्ष्म को कहता है और वह सूक्ष्मतावाचक अणु शब्द निर्विभाग पुद्गल की विवक्षा में पुद्गलाणु को कहता है और अविभागी कालद्रव्य की विवक्षा में कालाणु को कहता है ॥२६॥

गाथा २६ पर प्रवचन

एकप्रदेश का धारक परमाणु भी अनेक स्कन्धरूप बहुप्रदेश है, इसलिए सर्वत्र परमात्मा उपचार से परमाणु को काय कहते हैं।

काय किसे कहा! इसकी बात चलती है। आत्मा के असंख्यप्रदेश हैं, अत: इसे तो 'काय' संज्ञा है। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य भी बहुप्रदेशी होने से 'काय' हैं। कालद्रव्य को 'काय' संज्ञा लागू नहीं पड़ती, क्योंकि वह एकप्रदेशी है।

परमाणु भी एकप्रदेशी है, परन्तु काय संज्ञा उपचार से लागू पड़ती है; क्योंकि संख्यात, असंख्यात और अनंत परमाणुओं का स्कन्ध बनता है और वह स्कन्ध बहुप्रदेशी होता है। इस उपचार से उसे काय कहते हैं। शरीर को व्यवहार से काया कहते हैं। बहुत परमाणुओं में कार्माण स्कन्धों को काय कहना भी व्यवहार है।

पुद्गल परमाणु एकप्रदेशी है, परन्तु बहुत प्रकार से दो से लेकर अनंत परमाणुओं का स्कन्ध है। अत: व्यवहारनय से उसे काय कहा जा सकता है।

अब इसी बात को स्पष्ट करते हैं:-

जिसप्रकार इस भगवानस्वरूप आत्मा का सामान्य स्वरूप वस्तुरूप से देखा जाये तो शुद्ध है, एक है, देह और कर्म आदि से भिन्न है तथा अवस्था को गौण करो तो शुद्ध

निश्चयनय से यह आत्मा शुद्ध और एक है। व्यवहानय से विषयस्वरूप पर्याय और भेदों को गौण करके देखें तो प्रत्येक आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, एकत्वस्वरूप है।

द्रव्यदृष्टि से आत्मा एक और शुद्ध है तो भी अनादिकाल से स्वयं कर्मबन्ध के वशीभूत होता रहा है। वास्तव में कर्म जड़स्वरूप है और आत्मा को पराधीन नहीं करते, अपितु जीव स्वयं अपने ढीले (शिथिल) पुरुषार्थ के कारण कर्मों के वश हो जाता है, जिससे अनादि संसार में घिसटना पड़ता है। अज्ञानी जीव ऐसा नहीं मानता और कहता है कि कर्मबन्ध के कारण संसार में घिसटना पड़ता है। कर्म बहुत बलवान हैं, किसी को नहीं छोड़ते हैं – इत्यादि। परन्तु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है। व्यवहारनय से कहें तो आत्मा स्वयं अनादिकाल से कर्मबन्ध के वशीभूत होकर चार गतिरूप संसार में भटक रहा है। चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण के दु:ख उठा रहा है।

अभी भी यदि वह भूल सुधारे, अपनी आत्मा को जानने का पुरुषार्थ करे, कर्म के कारण परतंत्रता नहीं है – ऐसा माने और शुद्धात्मस्वरूप में रम जाये तो चतुर्गति का चक्कर छूटकर उसे भी सुख की प्राप्ति हो सकती है।

संसारी आत्मा अपनी अक्षय, अनुपम ज्ञाननिधि को भूलकर जड़कर्मों के वश हो जाता है। इसलिए जिसमें लोकालोक स्पष्ट झलकता है – ऐसे अपने स्वभाव की सामर्थ्य को पहिचानना चाहिए। यही कर्मों से छूटने का उपाय है।

आत्मा स्वभाव से शुद्ध और एक है। फिर इसे अनेक प्रकारवाला और अशुद्ध क्यों कहा? और पुद्गल परमाणु एक प्रदेशवाला होकर कायवाला कैसे है? – ये दोनों बातें एक जैसी हैं।

आत्मा स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर राग-द्वेषादि अवस्था को धारण करता है, इसलिए व्यवहारनय से अनेकप्रकार वाला होता है। जैसे आत्मा के स्वभाव में संसार नहीं है, वैसे ही उसकी पर्याय में संसार नहीं है – ऐसा नहीं है। जीव एकस्वभावी, वीतरागी, ज्ञायक, शुद्ध होने पर भी अपने स्वभाव को भूल जाने से व्यवहारनय के विषय को अपना मानने लगता है। जैसे मैं मनुष्य हूँ, देव हूँ, नारकी हूँ, तिर्यञ्च हूँ – इत्यादि तथा इन्हीं वैभाविक पर्यायों में एकत्व बुद्धि करके राग-द्वेष के वशीभूत होता है।

ज्ञेय-लोलुपता तो नहीं छोड़ता; परन्तु ज्ञेयों में यह अच्छा (अनुकूल) और यह बुरा

(प्रतिकूल) इसप्रकार भेद डालता है। वह व्यवहारनय अर्थात् पर्यायदृष्टि से मनुष्य, देव आदि पर्यायों के कारण अनेकरूप होता है। एकपने को भूल गया है; इसलिए अनेकरूप होता है, स्वभाव को छोड़कर विभावरूप होता है।

तथा पुद्गल परमाणु स्वभाव से एक ओर शुद्ध है तो भी स्निग्ध और रूक्षत्व के कारण दो से लेकर अनंत परमाणुवाली स्कन्ध पर्याय उसकी होती है। अतः सर्वज्ञ भगवान उपचार से उसे बहुप्रदेशी कहते हैं।

यहाँ **प्रश्न** है कि स्कन्ध के बहुप्रदेशीपने के कारण पुद्गल को 'काय' कहा जाता है तो कालाणु की पर्याय के समूह से घड़ी, दिवस आदि होते हैं; अतः उपचार से कालाणु को भी काय कहें तो क्या दोष है?

उत्तर- परमाणुओं में स्निग्ध, रूक्षत्व गुण होने से बंध होता है और स्कन्ध बनता है। कालाणु में स्निग्ध, रूक्षत्व गुण नहीं होते; अतः उनमें बंध का अभाव है, वे हमेशा एक-एक और अलग-अलग ही रहते हैं। इसलिए पुद्गल में तो कायपने का उपचार आता है और कालाणु में नहीं आता।

कालाणु एकप्रदेशी है और वैसा ही रहने का उसका स्वभाव है – ऐसा वर्णन सर्वज्ञ भगवान करते हैं।

प्रश्न- अणु तो पुद्गल को कहा जाता है, फिर काल को कालाणु – ऐसा क्यों कहते हो?

उत्तर- 'अणु' शब्द द्वारा व्यवहारनय से पुद्गलों का कथन किया जाता है। निश्चय से तो वर्णादि गुणों के पूरण-गलन के संबंध से उनको पुद्गल कहा जाता है। वास्तव में तो अणु शब्द सूक्ष्मता का वाचक है। प्रकृष्टपने जो अणु है, वह परमाणु है। इस व्युत्पत्ति से परमाणु शब्द अति सूक्ष्मता का सूचक है और वह सूक्ष्मता वाचक अणु शब्द विभागरहित पुद्गल की विवक्षा में पुद्गलाणु को कहता है तथा अविभागी कालद्रव्य की विवक्षा में कालाणु को कहता है। ❑❑❑

मुझे अपने गुण-पर्याय की आवश्यकता है और किसी की नहीं – इसका नाम वैराग्य है। जो अपने में है, उसकी अपेक्षा और अपने में जो नहीं है; उस सबकी उपेक्षा – ऐसे अपने अस्तित्व की प्रतीति होना, वह ज्ञान है।

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२२६

अब प्रदेश का लक्षण कहते हैं:-

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणु उट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥२७॥

यावतिकं आकाशं अविभागिपुद्गलाण्ववष्टब्धम्।
तं खलु प्रदेशं जानीहि सर्व्वाणुस्थानदानार्हम्॥२७॥

एक अणु जितनी जगह घेरे प्रदेश कहें उसे।
किन्तु एक प्रदेश में ही अनेक परमाणु रहें॥२७॥

गाथार्थ :- जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु से रोका जाता है, उसे सर्व अणुओं को स्थान देने में योग्य प्रदेश जानो।

टीका :- **जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं तं खु पदेसं जाणे** हे शिष्य! जितना आकाश अविभागी पुद्गलपरमाणु से व्याप्त हो, उतने आकाश को स्पष्ट रूप से प्रदेश जानो। कैसा है वह? **सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं** वह प्रदेश सर्व अणुओं को- सर्व परमाणुओं को और सूक्ष्म स्कन्धों को - स्थान अर्थात् अवकाश देने में योग्य है। आकाशद्रव्य में ऐसी अवगाहनशक्ति है, इसी कारण ही असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में भी अनंतानंत जीव और उनसे भी अनंतगुणे पुद्गल अवकाश प्राप्त करते हैं। इसीप्रकार जीवों और पुद्गलों के संबंध में अवकाश देने का सामर्थ्य (अन्यत्र इसप्रकार) कहा है:- एक निगोद के शरीर में भूतकाल में हो गये सर्व सिद्धों से अनंतगुणे जीव द्रव्यप्रमाण से[१] देखे गये हैं॥१॥ यह लोक सब और से विविध तथा अनंतानंत सूक्ष्म और बादर पुद्गलों से ठसाठस[२] भरा है॥२॥

शंका- मूर्त ऐसे पुद्गलों में भेद हो, इसमें विरोध नहीं है; परन्तु अमूर्त और अखंड आकाशद्रव्य में भेद कल्पना किसप्रकार संभव है?

समाधान- यह शंका योग्य नहीं है। रागादि उपाधिरहित, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भावना से उत्पन्न सुखामृत के रसास्वाद से तृप्त दो मुनियों के रहने का क्षेत्र एक है या अनेक? यदि दोनों के रहने का क्षेत्र एक हो तो दोनों एकत्व को प्राप्त होते हैं, परन्तु ऐसा तो है नहीं। और यदि कहो कि दोनों का निवास क्षेत्र भिन्न है तो निर्विभाग ऐसे आकाशद्रव्य

में भी घटाकाश, पटाकाश इत्यादि की भाँति विभागकल्पना सिद्ध हुई।।२७।।

इसप्रकार पाँच सूत्रों से पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करनेवाला तीसरा अंतराधिकार पूर्ण हुआ।

गाथा २७ पर प्रवचन

जितना आकाश एक अविभागी पुद्‌गल परमाणु से रोका जाता है, उसे सर्व अणुओं को स्थान देने योग्य प्रदेश जानो।

एक परमाणु जितना स्थान रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं। आकाश के इन प्रदेशों की ताकत इतनी है कि इसमें दुनिया के सभी परमाणु सूक्ष्मपने को धारण कर समा जाते हैं। जिसप्रकार आत्मा के ज्ञान में सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानने की ताकत है, धर्मास्तिकाय में अनंतानंत जीव और पुद्‌गलों की गति में और अधर्मास्तिकाय में उन्हीं की स्थिति में निमित्त होने की ताकत है; उसीप्रकार आकाश के एक प्रदेश में जितने द्रव्य आयें, उन सभी के अवगाहन में निमित्त होने की शक्ति है।

ज्ञान में झलकनेवाले ज्ञेयों का स्वभाव अपरिमित है और ज्ञेयों को जाननेवाले आत्मा का ज्ञानस्वभाव भी अपरिमित है।

अरे भाई! एक समय में सभी ज्ञेयों को जान ले - ऐसी तेरी सामर्थ्य है; परन्तु अज्ञानी को इसका माहात्म्य नहीं आता, राग-द्वेषादि कषाय और परज्ञेयों का ही माहात्म्य आता है।

आकाश तो ज्ञेय है, उसके एक प्रदेश की ताकत कितनी? इसका वर्णन किया, इसे भी ज्ञान जानता है। इससे ज्ञान का माहात्म्य आता है।

हे शिष्य! जितना आकाश एक पुद्‌गल परमाणु से व्याप्त है, उसे स्पष्टरूप से प्रदेश जानो। कैसा है वह प्रदेश? बहुत से परमाणु सूक्ष्मपने परिणमित हों तो उन सभी को अवगाहन देने की शक्ति उसमें है। इसलिए वह प्रदेश अनंत परमाणुओं को अवगाहन देने की सामर्थ्यवाला है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, जिसे सुख-दु:ख होता है, उसके ज्ञान की सामर्थ्य कितनी - यह जानने योग्य है। अत: उसे ही जानना चाहिए।

अहो! वीतराग परमात्मा की बात है कि धर्म बाहर की वस्तु नहीं है, अपितु वस्तु का स्वभाव है। ज्ञान में झलकनेवाले ज्ञेय हमारे नहीं हैं, केवल हमारे द्वारा जाने जाते हैं।

वर्त्तमान में राग-द्वेष और अल्पज्ञता होने पर भी निजस्वभाव का आश्रय लेने पर वीतरागता और केवलज्ञान प्रकट होता है।

असंख्यातप्रदेशी आकाश में अनंतानंत जीव और पुद्गल द्रव्य रहते हैं। यह आकाश के क्षेत्र की शक्ति है। यहाँ क्षेत्र का माहात्म्य नहीं है, परन्तु उसे जाननेवाले असंख्यातप्रदेशी आत्मा के स्वपर-प्रकाशक ज्ञान का माहात्म्य है।

अहा हा! आत्मा है, स्व और पर दोनों को जाननेवाला है और भी पाँच अजीव द्रव्य लोक में हैं। अज्ञानी को उनकी और अपनी खबर नहीं है; न हो तो न हो, परन्तु जाननेवाला तो आत्मा ही है। अज्ञानी राग को, पुण्य को, अपने से भिन्न अन्य द्रव्यों को अपना जानता है। आत्मा का स्वभाव जानना है, इसलिए संसारी जीव पुण्य-पापादि रागपरिणाम और अन्य द्रव्यों को अपना न जानकर अपने को ही जाने तो धर्म होता है।

जीव और पुद्गलों को अवगाह देने की सामर्थ्य आकाशद्रव्य में है - ऐसा कथन आगम में आता है। भूतकाल में जितने सिद्ध हो चुके हैं, उनसे अनंतगुणे जीव एक निगोदिया शरीर में होते हैं, सभी ज्ञानानंदमय है - यही भगवान ने केवलज्ञान में जाना है।

यह लोक अनेक प्रकार के सूक्ष्म और स्थूल अनंतानंत पुद्गलपरमाणुओं से ठसाठस भरा है, इसे भी जानने की ताकत आत्मा में है - इसप्रकार आत्मा का माहात्म्य आये तो पर का, राग का, व्यवहारादि का माहात्म्य नहीं आता है। दया, दान, भक्ति आदि व्यवहार शुभविकल्प हैं और चारित्रगुण की विपरीत दशा है, विभावपर्याय है। विभाव होने से वह अधर्म है। सम्यग्दृष्टि को इनका माहात्म्य नहीं होता।

राग की उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है और राग का उत्पन्न होना ही हिंसा है।

शंका- मूर्त्तिक पुद्गलों के अणु द्वि-अणु स्कंध आदि में भेद हो तो कोई विरोध नहीं, परन्तु अखंड और अमूर्त्त आकाशद्रव्य के भेदकल्पना किसप्रकार संभव है अर्थात्

पुद्गलद्रव्य में एक परमाणु, दो परमाणु और स्कन्ध आदि पृथक्-पृथक् भेदरूप हो जाये, पर आकाशद्रव्य में भेद कैसे हो सकता है?

समाधान- यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अमूर्त्त और अखंड आकाशद्रव्य में भी अंशकल्पना हो सकती है - यह बात जयसेन आचार्य की टीका में भी आती है।

रागादि उपाधि से रहित निज आत्मा की प्रत्यक्ष भावना से अर्थात् स्वसंवेदन से उत्पन्न जो सुखरूप अमृतरस है, जिसके आस्वाद से तृप्त दो मुनियों के रहने का क्षेत्र एक है या अनेक?

देखो! इस दृष्टान्त में वर्णित दोनों मुनि छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए भावलिंगी संत हैं। प्रथम आत्मानुभवरूप सम्यग्दर्शन हुआ, तत्पश्चात् स्वरूपलीनता होने से बहुत रागादि भावों का अभाव जिसके हुआ, वही मुनि है। ऐसे मुनि को अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का जो विकल्प आता है, वह भी उपाधि है - ऐसा वे समझते हैं और उपाधिरहित अपनी आत्मा के शांतस्वरूप ज्ञानस्वभाव के निर्विकल्प दशारूप अनुभूति में लीन हो जाते हैं - ऐसे दोनों मुनियों के रहने का स्थान एक ही है या अलग-अलग?

अरे भाई! यदि दोनों मुनियों के रहने का क्षेत्र एक ही हो तो दोनों में एकत्व हो जाये, दोनों अलग-अलग न रहें, परन्तु ऐसा कभी भी संभव नहीं है। इसलिए निश्चित है कि दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। घटाकाश, पटाकाश आदि से अखंड आकाश में भी भेदकल्पना सिद्ध होती है। आकाश के अखंड होने पर भी दोनों मुनि अलग-अलग क्षेत्र में हैं, अतः आकाश में भिन्न-भिन्न प्रदेशकल्पना सिद्ध है। आकाश के जिस भाग में घड़ा है, वहाँ वस्त्र नहीं है और जहाँ वस्त्र है, वहाँ घड़ा नहीं है। दोनों के ही प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं।

इसप्रकार श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव विरचित द्रव्यसंग्रह में नमस्कारादि सत्ताईस गाथाओं द्वारा तीन अन्तराधिकारों द्वारा छह द्रव्य और पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करनेवाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

❑❑❑

चूलिका

इसके पश्चात् पूर्वोक्त छहद्रव्यों का चूलिका रूप से (उपसंहार रूप से) विशेष व्याख्यान करते हैं:-

परिणामि जीव-मुत्तं सपदेसं एय-खेत्त-किरिया य।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदमिदरंहि यपवेसे ॥१॥
दुण्णि य एयं एयं पंच त्तिय त्तिय एय दुण्णि चउरो य।
पंच य एयं एयं एदेसं एय उत्तरं णेयं ॥२॥

गाथार्थ :- छह द्रव्यों में जीव और पुद्‌गल - ये दो द्रव्य परिणामी हैं, चेतनद्रव्य एक जीव है, मूर्तिक एक पुद्‌गल है, प्रदेश सहित जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश - ये पाँच द्रव्य हैं; एक-एक संख्यावाले धर्म, अधर्म और आकाश - ये तीन द्रव्य हैं, क्षेत्रवान एक आकाश द्रव्य है, क्रियासहित जीव और पुद्‌गल - ये दो द्रव्य हैं, नित्यद्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये चार हैं, कारणद्रव्य पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये पाँच हैं; कर्त्ता एक जीवद्रव्य है, सर्वव्यापक द्रव्य एक आकाश है, (एक क्षेत्रावगाह होने पर भी) इन छहों द्रव्यों को परस्पर प्रवेश नहीं है। इसप्रकार छहों मूल द्रव्यों के उत्तर गुण जानना।

टीका :- **परिणामि** स्वभाव तथा विभाव परिणामों से जीव और पुद्‌गल - ये दो द्रव्य परिणामी हैं, शेष चार द्रव्य विभाव व्यंजनपर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी हैं।

जीव शुद्धनिश्चयनय से विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी शुद्धचैतन्य को प्राण शब्द से कहा जाता है; उस शुद्धचैतन्यरूप प्राण से जो जीता है, वह जीव है। व्यवहारनय से कर्मोदयजनित द्रव्य और भावरूप चार प्रकार के (इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्‌वास) प्राणों से जो जीता है, जीयेगा और पहले जीता था; वह जीव है।

मुत्तं अमूर्त शुद्धात्मा से विलक्षण स्पर्श, रस, गंध और वर्णरूप मूर्त कहलाता है, उसके सद्‌भाव से पुद्‌गल मूर्त है। जीवद्रव्य अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहार से मूर्त है, परन्तु शुद्धनिश्चयनय से अमूर्त है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य अमूर्त हैं।

सपदेसं लोकमात्रप्रमाण असंख्य प्रदेशयुक्त जीवद्रव्य से लेकर पाँच द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश) पंचास्तिकाय संज्ञक सप्रदेश हैं। कालद्रव्य को, बहुप्रदेश जिसका लक्षण है - ऐसे कायत्व का, अभाव होने से वह अप्रदेश है।

एय द्रव्यार्थिकनय से धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं। जीव, पुद्गल, काल द्रव्य अनेक हैं। **खेत्त** सर्व द्रव्यों को अवकाश देने में समर्थ होने से क्षेत्र एक आकाशद्रव्य है, शेष पाँच द्रव्य अक्षेत्र हैं।

किरिया य जिनमें एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में गमन करने रूप, परिस्पन्दरूप अथवा चलनेरूप क्रिया है, वे क्रियावान जीव और पुद्गल - ये दो द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं। **णिच्चं** धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य यद्यपि अर्थपर्यायवाले होने की अपेक्षा से अनित्य हैं तो भी मुख्यरूप से उनमें विभाव व्यञ्जनपर्याय का अभाव होने से वे नित्य हैं, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से भी नित्य हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्य हैं तो भी अगुरुलघुगुण के परिणमनरूप स्वभाव पर्याय की अपेक्षा से तथा विभावव्यंजनपर्याय की अपेक्षा से अनित्य हैं।

कारण पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य व्यवहारनय से जीव के शरीर-वाणी-मन-प्राण-उच्छ्वास, गति, स्थिति, अवगाहन और वर्तनारूप कार्य करते हैं; अतः कारण हैं। जीवद्रव्य यद्यपि गुरु-शिष्यादिरूप से परस्पर उपकार करते हैं तो भी पुद्गलादि पाँच द्रव्यों का कुछ भी कार्य नहीं करते हैं, अतः जीव अकारण हैं।

कत्ता शुद्ध-पारिणामिक-परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव यद्यपि बंध-मोक्ष, द्रव्य-भावरूप पुण्य-पाप और घट-पटादि का अकर्ता है तो भी अशुद्धनिश्चय से शुभ और अशुभोपयोगरूप परिणमित होकर पुण्य-पापबंध का कर्ता और उनके फल का भोक्ता होता है, विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी निज शुद्धात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्धोपयोग से परिणत होता हुआ मोक्ष का भी कर्ता और उसके फल का भोक्ता होता है। सर्वत्र जीव को शुभ, अशुभ तथा शुद्ध परिणामों के परिणमनरूप ही कर्तृत्व जानना। पुद्गलादि पाँच द्रव्यों को तो अपने-अपने परिणाम से जो परिणमन है, वही कर्तृत्व है; वास्तव में पुण्य-पापादिरूप से अकर्तृत्व ही है।

सव्वगदं लोक और अलोक में व्याप्त होने की अपेक्षा से आकाश को सर्वगत कहा जाता है। लोकाकाश में व्याप्त होने की अपेक्षा से धर्म और अधर्मद्रव्य सर्वगत हैं। जीवद्रव्य, एक जीव की अपेक्षा से लोकपूरण नामक समुद्घात की अवस्था के अतिरिक्त असर्वगत है, परन्तु भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा से सर्वगत ही है। पुद्‌गलद्रव्य लोकव्यापक महास्कन्ध की अपेक्षा से सर्वगत है और शेष पुद्‌गलों की अपेक्षा से सर्वगत नहीं है। कालद्रव्य, एक कालाणुद्रव्य की अपेक्षा से सर्वगत नहीं है, लोकाकाश के प्रदेश के बराबर भिन्न-भिन्न कालाणुओं की विवक्षा से कालद्रव्य लोक में सर्वगत है।

इदरंहि य पवेसे यद्यपि सर्व द्रव्य व्यवहारनय से एक क्षेत्र अवगाह होने से एक दूसरे में प्रवेश करके रहते हैं तो भी निश्चयनय से चेतना आदि अपने-अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं।

सारांश यह है कि इन छह द्रव्यों में वीतराग, चिदानंद, एक आदि गुणस्वभावी और शुभाशुभ मन, वचन और काया के व्यापाररहित निज शुद्धात्मद्रव्य ही उपादेय है।

(हेय-उपादेयस्वरूप का विशेष विचार)

इसके पश्चात्, पुनः छह द्रव्यों में हेय-उपादेय स्वरूप का विशेष विचार करते हैं। वहाँ शुद्ध निश्चयनय से शक्तिरूप से सर्व जीव शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावी होने से उपादेय हैं और व्यक्तिरूप से पंच परमेष्ठी ही उपादेय हैं। उनमें भी (पंचपरमेष्ठियों में भी) अरहन्त और सिद्ध - ये दो ही उपादेय हैं। इन दोनों में भी निश्चय से सिद्ध ही उपादेय है और परम शुद्ध निश्चयनय से तो भोगाकांक्षादिरूप समस्त विकल्पजालरहित परमसमाधि -काल में सिद्धसमान स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सर्व द्रव्य हेय हैं - यह तात्पर्य है।

शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव इस पद का क्या अर्थ है? मिथ्यात्व-रागादि समस्त विभावरहित होने से आत्मा शुद्ध कहलाता है और केवलज्ञानादि अनंतगुणों से सहित होने से आत्मा बुद्ध कहलाता है। शुद्ध-बुद्ध का लक्षण सर्वत्र इसप्रकार जानना।

अब चूलिका शब्द का अर्थ कहा जाता है- किसी पदार्थ के विशेष व्याख्यान को, कथन किये गये विषय में अकथित विषय के व्याख्यान को और कहे गये तथा नहीं कहे गये विषय के मिश्र व्याख्यान को चूलिका कहते हैं।

इसप्रकार छह द्रव्यों की चूलिका समाप्त हुई।

चूलिका पर प्रवचन

पूर्वोक्त छहों द्रव्यों में जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य परिणामी हैं, जिनमें जीवद्रव्य चेतन और अमूर्तिक, पुद्गलद्रव्य अचेतन और मूर्तिक है तथा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश – ये पाँच द्रव्य प्रदेशसहित हैं।

धर्म, अधर्म और आकाश – ये तीनों द्रव्य संख्या में एक-एक ही हैं। क्षेत्रवाला अकेला आकाशद्रव्य है। क्रियासहित जीव और पुद्गलद्रव्य हैं। नित्यद्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये चार हैं। कारणद्रव्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये पाँच हैं। कर्त्ताद्रिव्य एक जीवद्रव्य है, सर्वव्यापक आकाश है (एक क्षेत्रावगाह होने पर भी)। इन छहों द्रव्यों में परस्पर प्रवेश नहीं है अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कभी भी प्रवेश नहीं करता। ये छहों मूलद्रव्यों के उत्तरगुण जानना। अब विशेष व्याख्यान करते हैं।

देखो! यहाँ मूल में कहा है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कारण नहीं है। परस्पर किसी का किसी में प्रवेश भी नहीं होता। छुरी के निमित्त से शरीर में घाव का होना और खून का निकलना दिखायी देता है, परन्तु छुरी के कारण ऐसा नहीं होता, छुरी की मौजूदगी अर्थात् संयोग होता है; पर उससे न तो घाव होता है और न ही खून निकलता है। वास्तव में तो छुरी ने शरीर को छुआ ही नहीं, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रवेश करता ही नहीं, अत: छुरी के कारण खून निकला, घाव हुआ – ऐसा मानना ठीक नहीं है और छुरी के कारण शरीर में घाव हुआ, आत्मा को दुख हुआ – ऐसा मानना भी मिथ्या है। तथा अँगुलियों के कारण छड़ी नहीं चलती है, क्योंकि छड़ी और अँगुली दोनों में ही क्रियावती शक्ति है तथा दोनों में ही जो क्रिया होती है वह एक-दूसरे में प्रवेश किये बिना स्वतंत्र होती है।

यहाँ कहते हैं कि एक परमाणु दूसरे परमाणु में प्रवेश नहीं करता। अनंत पुद्गल परमाणुओं का स्कन्ध अन्य स्कन्धों के साथ एकक्षेत्रावगाह होकर भी परस्पर अछूते रहते हैं। इसप्रकार सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं और सबकी क्रिया भी अलग-अलग हो रही है, इस व्यवहारज्ञान बिना प्रतीति भी सम्यक् नहीं होती।

इन अँगुलियों के द्वारा लकड़ी घूमती है – ऐसा अज्ञानी मानता है, क्योंकि वह संयोग

को देखता है। लकड़ी का क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होना स्वभाव है, अज्ञानी उसे नहीं देखता। आत्मा का शरीर में प्रवेश नहीं – ऐसा यथार्थ ज्ञान किये बिना व्यवहारश्रद्धा भी नहीं होती। निश्चयश्रद्धा की तो बात ही क्या है!

अब 'परिणामी' शब्द की व्याख्या करते हैं :-

स्वभाव और विभाव पर्यायों के परिणमनवाले जीव और पुद्गल द्रव्य हैं। शेष चार धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों के विभाव व्यंजनपर्याय नहीं होती है, इसलिए वे अपरिणामी हैं।

यहाँ जीव व पुद्गल द्रव्यों को ही परिणामी कहा है, वह विभाव व्यंजनपर्याय की मुख्यता से जानना, वास्तव में तो परिणमन स्वभाववाले होने से छहों ही द्रव्य परिणामी हैं। जीव में संकोच-विस्तार होता है, पुद्गल का आकार विभावरूप होता है, अन्य चार द्रव्यों का नहीं – यही अपेक्षा यहाँ समझना चाहिए।

अनंत जीव और अनंतानंत पुद्गलद्रव्य स्वभावरूप अथवा विभावरूप, अपने कारणों से अर्थात् स्वसामर्थ्य से परिणमित होते हैं; क्योंकि सभी द्रव्यों का परिणमन स्वभाव है।

यहाँ कोई कहे कि जीव स्वभावरूप परिणमन अपने कारणों से ही करता है – यह ठीक है, परन्तु विभावरूप परिणमन तो कर्म के कारण करता होगा?

नहीं, कर्म के कारण परिणमन नहीं होता। यह सिद्ध है कि परिणमन चाहे स्वभावरूप हो अथवा विभावरूप, स्वयं की सामर्थ्य से ही होता है। विचाररहित प्राणी को कर्म का जोर-सा मालूम पड़ता है। कर्म के कारण जीव विकाररूप परिणमित होता है – यह बात ही खोटी है। हाँ, इतना है कि उस विभावपरिणमन में कर्म निमित्त होता है, परन्तु उसकी अपेक्षा यहाँ नहीं है, क्योंकि परिणमन स्वभाव किसी की अपेक्षा ही नहीं रखता है।

तथा कर्मों का अभाव करने के लिए आत्मा शुभकर्मरूप परिणमन करता हो – ऐसा भी नहीं है। पुद्गलकर्म स्वयं ही विभावरूप परिणमन करते हैं। परमाणु अकेला अथवा स्कन्धरूप होकर अथवा दोनों ही अवस्थाओं में अपनी-अपनी योग्यता के कारण परिणमन करता है, अन्य किसी के कारण से नहीं। एक परमाणु से लेकर अचेतन

महास्कन्ध तक परिणमन होता है, पर होता है सब अपने-अपने ही कारण से।

जीव और पुद्गल द्रव्यों में ही क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होने की योग्यता है। यह क्षेत्रान्तर परद्रव्यों के कारण नहीं होता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – ये तीन सत् के अंश हैं, इनमें से एक अंश भी पर के कारण माने तो सत् के नाश होने का प्रसंग आता है।

सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोहनीय के कारण संसार में रहना पड़ता हो – ऐसी बात नहीं है। कर्म के कारण जीव परतन्त्र होकर संसार में नहीं घूमता, परन्तु अपने स्वभाव को भूलकर घूमता है। तथा यदि वह अपने स्वभाव को पहिचान ले, उसी में लीन हो जाये तो फिर कर्म उसे संसार में रहने के लिए नहीं रोक सकते। गोम्मटसार में इसप्रकार का कथन आता है तो वह निमित्त की अपेक्षा है – ऐसा समझना चाहिए। परनिमित्त की रुचि अर्थात् निमित्तदृष्टि हो जाये तो आत्मा की रुचि अर्थात् आत्मदृष्टि नहीं होती है।

इसप्रकार विभाव व्यंजनपर्याय की मुख्यता से जीव और पुद्गल – दो द्रव्य परिणामी कहे। इससे शेष चार द्रव्य अपरिणामी होते हैं – यह निर्णय हुआ। चारों की ही विभाव व्यंजनपर्याय नहीं होती है।

अब 'जीव' शब्द की व्याख्या करते हैं:-

शुद्ध निश्चयनय से निर्मलज्ञान-दर्शनस्वभाव को प्राण कहते हैं और उन चैतन्यप्राणों से जो जीता है, वह जीव है। शुद्ध द्रव्यदृष्टि से देखें तो आत्मा शुद्ध ज्ञाता-दृष्टारूप चैतन्यप्राणों को धारण करनेवाला है।

सभी आत्मायें अपने शुद्ध चैतन्यप्राणों से जीती हैं। सम्यग्दर्शन का विषय चैतन्यवस्तु है।

व्यवहारनय से कहा जाये तो कर्मों के उदय के कारण उत्पन्न द्रव्य-भावरूप चार प्रकार के प्राण भी हैं, जिनकी संख्या दश है – पाँच इन्द्रियप्राण, तीन बल, एक आयु और एक श्वासोच्छ्वास। इनके द्वारा भी जीव जीता है।

जड़प्राण और अशुद्ध भावप्राण दोनों ही जानने योग्य हैं, आश्रय करने योग्य या आदर करने योग्य नहीं हैं। आश्रयणीय अथवा आदरणीय तो शुद्ध एक चैतन्यप्राण ही है। इसप्रकार मानने पर ज्ञान के प्रमाणपना आता है।

ज्ञान स्वतंत्रपने सभी द्रव्यों को जानता है, इसप्रकार ज्ञान-सामर्थ्य की प्रतीति (रुचि)

धर्म है। खुद को जानते हुए भी पर को जानना ही ज्ञान का स्वभाव है।

सभी द्रव्य सत्स्वरूप हैं। अतः अस्तिपना तो सभी द्रव्यों के सिद्ध हैं।

स्वलक्ष्य से साधकपना तथा परलक्ष्य से बाधकपना होता है - यह नियम है। यदि परपदार्थों के कारण परलक्ष्यी वृत्ति और उससे ही बाधकपना होता है - ऐसा माने तो मिथ्यात्व है; क्योंकि परलक्ष्य परपदार्थों के कारण से नहीं, अपितु परलक्ष्यी स्वयं की रुचि से होता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप आत्मद्रव्य में ध्रुव अंश का अवलम्बन होने पर साधकदशा होती है।

प्रश्न - उत्पाद-व्यय तो प्रत्येक द्रव्य में होता है और वह अवलम्बन करने योग्य नहीं - ऐसा कहा, तो फिर वह जीव में उत्पन्न ही क्यों होता है?

उत्तर - एक के एक बाद पर्याय है, यह भी ठीक है। पर उसके अवलम्बन से धर्म नहीं होता, यह भी ठीक है; क्योंकि धर्म तो ध्रुव के अवलम्बन से ही होता है।

उत्पाद-व्यय की धारा कभी नहीं टूटती है, प्रतिसमय उत्पाद-व्यय होता रहता है। ध्रुव का अवलम्बन लेने से क्रमबद्धता आती है और उसकी प्रतीति होने से स्वलक्ष्यी उत्पाद होता है। पर्याय के लक्ष्य से 'क्रमबद्ध' का निर्णय नहीं होता। ध्रुव परमात्मा निजद्रव्यस्वभाव का अवलम्बन होने पर ही 'क्रमबद्ध' के निर्णय में श्रद्धा होती है और पर्यायबुद्धि मिट जाती है।

उत्पाद-व्यय की धारा कभी नहीं टूटती है तथा जो पर्याय जब होनी है, तभी होती है - ऐसी श्रद्धा होने पर, परपदार्थों की रुचि मिटकर स्वरुचि हो जाती है और सम्यग्दर्शन के उत्पादरूप धारा चलती है। पर्यायदृष्टि रहने पर संसार की धारा चलती है।

सभी द्रव्यों की परिणति क्रमबद्ध है - ऐसा निर्णय ध्रुव के अवलम्बन से होता है, पर्याय के अवलम्बन से नहीं, यह मानना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

जैनागम का चाहे कोई अनुयोग हो, चाहे कोई शास्त्र हो, कोई भी गाथा हो या कोई भी शब्द हो - सभी का तात्पर्य वीतरागता ही है।

द्रव्य है और पर से भिन्न है - ऐसा कहने पर भी भिन्नता पर के कारण अथवा

पर के आश्रित नहीं है – यह निर्णय हो जाये तो पर की रुचि नहीं रहती, आत्मबुद्धि ध्रुवतत्त्व के श्रद्धानपूर्वक होती ही है। वीतरागता हुए बिना नहीं रहती।

इसलिए छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ आदि सभी में द्रव्यदृष्टि की ही बात है, द्रव्यदृष्टि करो – यही प्रेरणा है।

सभी द्रव्यों की सभी पर्यायें '**क्रमबद्ध**' ही हैं, यह निर्णय करने पर द्रव्यदृष्टि होती है, द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन होता है। सम्यग्दर्शन कहो या '**क्रमबद्ध**' का निर्णय कहो, एक ही बात है। '**क्रमबद्ध**' के निर्णय बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अज्ञानी जीवों को ऐसा भ्रम है कि आत्मा के कारण शरीर चलता है, उठता–बैठता है तथा हाथ की अँगुलियों के कारण लकड़ी ऊँची होती है। इस भ्रम को दूर करने के लिए इस गाथा में स्पष्टीकरण किया।

प्रश्न – आत्मा में अथवा पुद्गल में स्वभावपर्याय होती है, तब तो अन्य की जरूरत नहीं पड़ती; परन्तु विभावपर्याय तो अन्य वस्तु के होने पर ही होती है, नहीं होने पर नहीं होती – इसका क्या कारण है?

उत्तर – जीव और पुद्गल – दोनों ही द्रव्यों में विभाव व्यंजनपर्यायरूप परिणमन करने की जो योग्यता है, वह दूसरे द्रव्यों के कारण नहीं है। केवली भगवान के भी पहले जो विभाव व्यंजनपर्याय थी, वह भी अपने कारण से थी, कर्म के कारण से नहीं। संसारी जीवों के अभी जो अशुद्धता है, वह विभाव व्यंजनपर्याय है।

यहाँ जीव अपने चैतन्यप्राणों से जीता है – यह निश्चय कथन है और द्रव्यप्राणों के निमित्त से अथवा अशुद्ध भावप्राणों की योग्यता से जीता है; यह व्यवहार कथन है। शास्त्र का कोई भी बोल हो, वह द्रव्यदृष्टि ही कराता है; तदनुसार द्रव्य का आश्रय करें तो पर्याय का ज्ञान यथार्थ होता है। वर्तमान पर्याय में जितनी योग्यता है, मात्र उतना ही जीव नहीं है; क्योंकि पर्याय की योग्यता तो एक समय की है और जीव त्रिकाली है; इसलिए ध्रुवरूप शुद्ध चैतन्यप्राणों से जीता है, वह जीव है।

अब '**मुत्तं**' शब्द का खुलासा चलता है:–

अमूर्त्त शुद्ध आत्मा से विलक्षण स्पर्श, रस, गंध तथा वर्णवाली जो वस्तु है, उसे

मूर्त्त कहते हैं और इस मूर्त्तपने को धारण करनेवाला अर्थात् मूर्त्तपने का सद्भाव जिसमें है – ऐसा एक पुद्गलद्रव्य ही है। यह जड़ होता है, इसमें ज्ञान नहीं होता। आत्मा मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों को ही जानता है। यही कारण है कि पहले अमूर्त्त आत्मा की बात की और आत्मा से विलक्षण (विपरीत लक्षणवाला) द्रव्य मूर्त्त है – यह कहा। पुद्गल के अलावा पाँचों द्रव्य अमूर्त्त हैं – यह न समझकर अज्ञानी संयोग के कारण आत्मा को मूर्त्त समझता है, इसी बात का खुलासा करते हैं।

जीव अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से मूर्त्त है और शुद्धनिश्चयनय से अमूर्त्त है। तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य तो सभी अपेक्षाओं से अमूर्त्त है।

भगवानस्वरूप आत्मा चिदानंद घनस्वभाव का धारक अमूर्त्त है। केवल उसकी पर्याय में विकार है, उस विकार में निमित्त मूर्त्तिक कर्म है और कर्मों का एकक्षेत्रावगाही संबंध आत्मा से है – यह बताने के लिए असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा को मूर्त्तिक कहा है, परन्तु अमूर्त्त आत्मा कदापि कर्मों के संयोग से मूर्त्तिक नहीं होता। उसकी तो प्रत्येक पर्याय अमूर्त्त ही रहती है, स्पर्शादिरूप नहीं हो जाती। यही कारण है कि असद्भूत कहा।

तथा विकार आत्मा की पर्याय में होता है, त्रिकालस्वभाव में नहीं है। अरे! विकारोत्पत्ति में निमित्तभूत कर्म तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं है। यह अनुपचरित कथन हुआ।

कर्म आत्मा के लिए परपदार्थ होने से कर्म का आश्रय व्यवहार है।

इसप्रकार अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा को मूर्त्तिक कहा है, परन्तु आत्मा मूर्त्त नहीं है, अमूर्त्त ही है; क्योंकि कर्म और आत्मा दोनों ही भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं – यह बताने के लिए असद्भूत कहा। जिससे सिद्ध होता है कि भिन्न कर्मों के कारण आत्मा में विकार नहीं होता है।

कर्म के कारण विकार होता है, जो ऐसा मानते हैं; उन्हें व्यक्त और स्थूल अपनी पर्याय की स्वतंत्रता भी भासित नहीं होती है। इसलिए जो ऐसा कहते हैं कि अव्यक्त और त्रिकाली ध्रुवस्वभावी आत्मा की स्वतंत्र दृष्टि हमें हुई, उनकी यह मान्यता खोटी है; क्योंकि जिसे पर्याय की स्वतंत्रता भासित नहीं होती, उसे ध्रुव आत्मा की या साक्षात्

परमात्मा की श्रद्धा न तो होती है और कभी हो भी नहीं सकती।

निश्चयनय और व्यवहानय का यथार्थ ज्ञान तो धर्मी (सम्यग्दृष्टि जीव) को ही होता है, मिथ्यादृष्टि को नहीं।

जो पहले तो निश्चयनय से आत्मा को अमूर्त्त जाने, पश्चात् व्यवहारनय से उसे मूर्त्त कहे तो उसका ज्ञान सच्चा होता है; परन्तु नय विवक्षा न समझने से आत्मा अमूर्त्त है – ऐसा यथार्थ ज्ञान अज्ञानी को नहीं होता तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी अमूर्त्त द्रव्य हैं, यह ज्ञान भी उसे नहीं होता है।

आत्मा को जाने बिना शास्त्र में लिखे अनुसार मात्र धारणारूप ज्ञान यथार्थ नहीं होता है।

आत्मा को व्यवहार से मूर्त्त कहा। इसका अर्थ यह है कि आत्मा के समीपवर्ती जो मूर्त्त कर्म हैं, वे आत्मा में नहीं हैं – यह जतलाने के लिए आत्मा को व्यवहार से मूर्त्त कहा है। इस बात को समझे बिना क्षुल्लक कर्मानंदजी, जो आज अन्य धर्मों को मानते हैं, आत्मा मूर्त्त है – ऐसा मानते हैं। इतना ही नहीं 'तत्त्वार्थसार' का आधार देते हैं और कहते हैं कि आचार्यदेव ने जीव को मूर्त्त कहा है, इसलिए आत्मा मूर्त्त है; परन्तु उनकी यह बात खोटी है।

अज्ञानदशा में आत्मा के साथ पर का संबंध है – यह बताने के लिए व्यवहारनय से आत्मा को मूर्त्त कहा है, आत्मा मूर्त्त हो नहीं गया है।

अब '**सपदेसं**' शब्द की व्याख्या करते हैं:-

लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेशों को आत्मा धारण करनेवाला है। आत्मा (जीव), पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये सब मिलकर पंचास्तिकाय कहलाते हैं तथा सप्रदेशी हैं। कालद्रव्य एक से अधिक प्रदेशवाला नहीं होने से अप्रदेशी है। एक प्रदेशवाले द्रव्य को उपचार से अप्रदेशी कहा जाता है। यह जैन आगम की शैली है।

भगवान आत्मा एकरूप अखंड होकर भी असंख्यप्रदेशी है, उसके असंख्यप्रदेश आत्मा में ही हैं, पुद्गल आदि अन्य द्रव्यों के प्रदेश भी अपने-अपने द्रव्यों में हैं। आत्मा का अस्तित्व आत्मा से है, अन्य द्रव्यों के कारण नहीं है तथा अन्य द्रव्यों का अस्तित्व भी अपने-अपने द्रव्य के कारण है, अन्य किसी द्रव्य के कारण नहीं।

जिसे अपने ज्ञान की पर्याय उग्र करना हो, उत्कृष्ट करना हो; वह अपने में ही ज्ञानपर्याय को समा दे अर्थात् उपयोग को अपनी आत्मा में ही टिकाये, आत्मा में ही रहे। इसके लिए परपदार्थों की किंचित्मात्र भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपना आत्मा स्वयं अनंत गुणों का स्वामी है, असंख्यप्रदेशी आत्मा के गुण और पर्याय भी आत्मा के प्रमाण के बराबर हैं।

'**एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्**' - यह कहा। यहाँ एकाग्र होने के लिए पर की आवश्यकता नहीं, आत्मस्वरूप से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक आत्मा असंख्यप्रदेशी है - यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है।

इसप्रकार स्पष्टीकरण हो जाने पर भी वेदान्त और जैन के सिद्धान्त में थोड़ा-सा अन्तर है - ऐसा कोई कोई विद्वान (पंडित) मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि दोनों के वचनों में पूर्व और पश्चिम दिशा के बराबर या जमीन और आसमान जैसा अन्तर है। बहुत द्रव्य, बहुत गुण आदि होने पर भी वेदान्ती एक द्रव्य और एक गुण आदि मानते हैं - यह बात प्रसिद्ध है।

फिर भी अज्ञानी इसमें अनेकान्त लगाता है कि निश्चय से जैन और वेदान्त एक हैं और व्यवहार से उनमें फर्क (अन्तर) है, परन्तु उसने अनेकान्त को समझा ही कब है?

जैनों को छोड़कर किसी ने भी आत्मा को असंख्यप्रदेशी नहीं माना है, इसलिए भी अन्य मतावलम्बियों के साथ जैनों का मेल नहीं बैठता है।

आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है, ज्ञेय पदार्थ जितने और जैसे हैं; ज्ञान उनको ज्यों का त्यों जानता है। आत्मा का ज्ञानरूप स्वभाव ही धर्म है और वह आत्मा को छोड़कर अन्यत्र बाहर कहीं भी नहीं जाता है। इसलिए आत्मा को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी धर्म नहीं है और न ही खोजना चाहिए।

आत्मा असंख्यप्रदेशी है, अनंतगुणों का धारक है, ध्रुव परमात्मा है - ऐसी श्रद्धा हो जाने पर धर्म होता है।

अब '**एय**' (एक) शब्द का अर्थ कहते हैं:-

द्रव्यार्थिकनय से धर्म, अधर्म और आकाश - ये तीनों ही द्रव्य एक-एक हैं और जीवद्रव्य, पुद्गल और कालद्रव्य - ये तीनों द्रव्य अनेकानेक हैं। जैसे- जीव अनंत हैं, पुद्गल अनंतानंत हैं और कालाणु असंख्य हैं। इसप्रकार छह द्रव्यों को वास्तविकरूप से जानकर जो अपनी आत्मा का आराधक है, वही मोक्ष को प्राप्त करता है और आत्मस्वरूप की विराधना करनेवाला त्रसपर्याय की आयु पूर्ण कर नियम से निगोद में जाता है।

स्वतत्त्व की वास्तविक रुचि बिना परपदार्थों की रुचि कम नहीं होती तथा टलती भी नहीं है।

अब **'खेत्त'** (क्षेत्र) शब्द का अर्थ समझाते हैं:-

समस्त द्रव्यों को अवगाह देने की सामर्थ्य एक आकाशद्रव्य में ही है, शेष पाँच द्रव्यों में नहीं। आकाश में पाँचों प्रकार के द्रव्य रहते हैं। इसलिए आकाश को क्षेत्र कहते हैं। न्याय से समझ में आनेवाली बात है। क्षेत्र से आकाश विस्तृत है, फिर भी गुणों की अपेक्षा सभी द्रव्यों के समान अनंतगुणोंवाला है, एक पुद्गल परमाणु में अनंत गुण हैं। ज्ञान एक समय में सबको जानता है, चैतन्यस्वभावी आत्मा सबको जाननेवाला है - ऐसा अज्ञानी स्वीकार नहीं करता है।

अब **'किरिया य'** शब्द की व्याख्या चलती है :-

एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन अथवा हलन-चलनरूप क्रिया केवल जीव और पुद्गल दो ही द्रव्यों में होती है, शेष द्रव्यों में नहीं।

स्वास्तिकवाला आठ सौ मन का पत्थर जयपुर से यहाँ आया है तो वह अपनी क्रियावती शक्ति से आया है, रेल से नहीं आया; रेल थी इसलिए आया है - ऐसा भी नहीं है। यदि दूसरों के कारण आये तो उसकी क्रियावती शक्ति मानने में नहीं आती और क्रियावान वस्तुयें ही सिद्ध नहीं होतीं और ज्ञान खोटा हो जाता है। मिथ्याज्ञान से आत्मा जानने में नहीं आता है, इसलिए वह आत्मा को भी नहीं मानता है।

टीकाकार कहते हैं कि जीव और पुद्गलों में ही, क्षेत्रान्तर होकर, गमन करने की शक्ति है; अन्य चार द्रव्यों में नहीं।

कितने ही लोग यह मानते हैं कि जीव और पुद्गल द्रव्यों में क्रिया तो होती है, पर निमित्त के आने पर होती है, निमित्त के बिना नहीं होती। अत: उन्होंने वस्तुत: क्रिया को नहीं माना।

देखो! यह हाथ चलाया। यहाँ चलानेरूप क्रिया का वर्त्तमान उपादान कारण हाथ के परमाणु हैं, जो अपनी स्वतंत्र परिणमन शक्ति के कारण क्षेत्रान्तर होते हैं। आत्मा की उपस्थिति अथवा धर्मास्तिकाय के कारण क्षेत्रान्तर होते हों – ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा एवं धर्मद्रव्य प्रेरक होकर हाथ को नहीं चलाते। आत्मा का क्षेत्रान्तर शरीर के कारण एवं शरीर का क्षेत्रान्तर आत्मा के कारण होता है। तथा यह भी नहीं है कि आत्मा के कारण कर्म को दूसरे क्षेत्र में जाना पड़े और कर्म के कारण आत्मा को क्षेत्रान्तर होना पड़े।

संयोग के कारण परिणमन होता है – ऐसा मानने पर कर्मों के कारण आत्मा में विकार होता है – मानना पड़ेगा, जो आगम-सम्मत नहीं है। क्षेत्रान्तर होने की क्रिया जीव और पुद्गल दोनों ही द्रव्यों में अपने कारण से स्वयमेव होती है – ऐसा न मानकर अन्य-अन्य कारणों से होती है, यह मानें तो जीव और पुद्गल क्रियावान सिद्ध नहीं होंगे।

अग्नि के संयोग होने पर जल से बनी भाप (वाष्प) के कारण इंजन नहीं चलता। पेट्रोल के कारण मोटर नहीं चलती। घोड़े के कारण गाड़ी नहीं चलती और हाथी के कारण गजरथ नहीं चलते, क्योंकि प्रेरक निमित्त के कारण कोई वस्तु नहीं चलती। प्रत्येक परमाणु अथवा स्कन्धों में क्षेत्रान्तर होने की क्रिया स्वयं ही उनकी वर्त्तमान योग्यता के कारण ही होती है। अष्टसहस्री आदि शास्त्रों में निमित्त का कथन तो है, पर उसका आशय यह नहीं कि निमित्त प्रेरक होकर क्रिया करता अथवा कराता है, अपितु निमित्त को नहीं माननेवाले वेदान्तादि मत वाले को यह बताने के लिए हैं कि निमित्त भी है – इस प्रयोजन से, व्यवहारनय से निमित्त का कथन वहाँ किया गया है।

द्रव्य स्वतंत्र है और उसकी पर्याय भी स्वतंत्र है – ऐसा माने बिना द्रव्यदृष्टि नहीं होती। पण्डित फूलचन्दजी ने पंचाध्यायी के अनुवाद में लिखा है कि निमित्त के कारण उपादान में कार्य मानने पर अनवस्था दोष आता है; क्योंकि हाथ आत्मा की इच्छा के कारण चलता है, इच्छा कर्म के कारण होती है और कर्म का परिणमन भी काल के

कारण होता है – इत्यादि मानने पर काल का परिणमन किस कारण से माना जाये? कहीं भी बात ठहरती नहीं है, इसप्रकार अनवस्था दोष आता है।

अज्ञानी कहता है कि निमित्त से उपादान में कुछ कार्य होता है – ऐसा माना जाये तभी निमित्त को मानना होता है, नहीं तो नहीं होता।

उक्त बात ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों का कार्य स्वतंत्र है। निमित्त निमित्त में है और उपादान उपादान में, यही मानना यथार्थ है। राजवार्तिक में लिखा है कि यदि दवा से रोग नहीं मिटता हो तो सारे आयुर्वेदशास्त्र के झूठे होने का प्रसंग आता है। यहाँ कहने का आशय यह है कि जब रोग मिटता है, तब दवा का निमित्त होता है, दवा के कारण रोग मिटा हो – ऐसी बात नहीं है। वहाँ निमित्त के कर्तृत्व का पोषण नहीं, उपस्थिति का संकेत है।

देखो, आज जगह-जगह चर्चा चलती है कि निमित्त-उपादान की यह चर्चा सोनगढ़ वालों ने नई चलाई है, पहले नहीं थी; परन्तु लोगों को कुछ भी खबर नहीं है। भाई! निमित्त-उपादान की बात (चर्चा) अनादि से है, शाश्वत है।

पर क्या करें? लोग पहले से चली आ रही अपनी मिथ्या मान्यताओं को ही सही मानते आ रहे हैं, भगवान की बात सुनते ही नहीं हैं। यहाँ तो आचार्य कहते हैं कि निमित्त-उपादान तो हमेशा से हैं। हमने आज तक उसे नहीं जाना था – यह भूल थी। जब तक इसका ख्याल नहीं होगा, भूल मिटने का अवकाश भी नहीं है।

रोटी बनती है, पर स्त्री के कारण नहीं; बेलन आदि के कारण भी नहीं, बेलन आदि भी हाथ की अँगुलियों से नहीं चलाये जाते; क्योंकि बेलन, रोटी आदि अनंत पुद्गल परमाणुओं के स्कन्ध हैं, उन्हें कौन परिणमाये? किसमें ऐसी सामर्थ्य है? पुद्गल भी जड़ेश्वर है। क्रिया करने की सामर्थ्य स्वयं उसकी है, उसे कौन लूट सकता है? जिसकी जो शक्ति है सो है, दूसरा कोई भी उसे लूट नहीं सकता, न ही कुछ सहायता कर सकता है अर्थात् न ही उसमें अपनी शक्ति मिला सकता है।

स्वतंत्रतामूलक दृष्टि हुए बिना अनादिमूढ़ता समाप्त नहीं होती। अत: स्वतंत्रस्वभाव की दृष्टि करना चाहिए। पर से भिन्न प्रत्येक द्रव्य सदा ही स्वतंत्र है। गुण और पर्यायें भी स्वतंत्र हैं – ऐसा जानकर स्वभावदृष्टि करना – यही धर्म है।

अब '**णिच्चं**' शब्द का अर्थ करते हैं:-

धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये चारों द्रव्य अर्थपर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं तथापि मुख्यवृत्ति से इनमें व्यंजनपर्याय नहीं है, इसलिए नित्य हैं। तथा द्रव्यार्थिकनय से जीव और पुद्गल द्रव्य भी नित्य हैं, फिर भी अगुरुलघुगुण के परिणाम और व्यंजनपर्याय की अपेक्षा दोनों को अनित्य कहा जाता है।

देखो! छह द्रव्यों में कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य और अनित्य नहीं, नित्यानित्य हैं; क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रुवपना सभी द्रव्यों का स्वरूप है; परन्तु यहाँ पर दूसरी अपेक्षा से बात की है कि अर्थपर्याय के परिणमित होने पर भी व्यंजनपर्याय नहीं है, इसलिए चार द्रव्यों को नित्य कहा है। अस्तित्वादि अनंतगुणों का परिणमन हो रहा है, इसे मुख्य न करके विभाव व्यंजनपर्याय की मुख्यता से नित्य और अनित्य भेद पड़ते हैं।

जीव और पुद्गल में विभाव व्यंजनपर्याय होती है - इस अपेक्षा से उनको अनित्य कहा है। उनकी विभाव व्यंजनपर्याय अन्य के कारण होती हो - ऐसी बात भी नहीं है। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में विभाव व्यंजनपर्याय की व्याख्या है कि अन्य निमित्त से जो पर्याय हो, वह विभाव व्यंजनपर्याय है। इस कथन में निमित्त के कर्तृत्व को लेकर बात नहीं है, अपितु विभाव व्यंजनपर्याय के होने में कोई अन्य निमित्त होता है, इतना बताना है। अत: जहाँ जिस अपेक्षा से जो कथन किया गया हो, उसे वैसा ही समझना चाहिए।

किसी के माथे पर पोटली रखी है - इसका आशय यह है कि वह माथे के आधार पर नहीं है। पोटली पोटली के आधार पर एवं माथा माथे के आधार पर है। एक परमाणु के ऊपर पोटली नहीं रहती है, उसे छूती नहीं है तो माथे पर कैसे रह सकती है? नहीं रह सकती; क्योंकि माथे में रहनेवाले अनंत पुद्गल परमाणु परस्पर एकमेक नहीं होते, पृथक्-पृथक् ही रहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि पोटली अपने आधार पर अपनी योग्यता से रहती है।

पन्द्रह मनुष्यों ने मिलकर पत्थर को ऊँचा किया - यह बात सिद्धान्त के हिसाब से सही नहीं है; क्योंकि पन्द्रह मनुष्यों की शक्ति भिन्न-भिन्न है, एक नहीं है। जब एक मनुष्य पत्थर नहीं उठा सकता तो पन्द्रह मनुष्यों ने पत्थर उठाया - यह बात कहाँ से

आयी? वास्तव में बात यह है कि पत्थर अपनी योग्यता से ऊँचा उठा है, मनुष्य तो मात्र निमित्त है। जैसे कई पुद्गलपरमाणुओं से मिलकर स्कन्ध बना है - यह व्यवहार है, वैसे ही सभी ने मिलकर पत्थर उठाया, यह भी व्यवहार है।

जब एक भी परमाणु आत्मा को विकार नहीं कराता तो अनंत परमाणु मिलकर कर्मरूप होकर आत्मा को विकार करायें - यह संभव नहीं है।

इस गाथा में प्रथम 'परिणामी' कहकर जीव और पुद्गल द्रव्यों को विभाव व्यंजनपर्याय होने के कारण परिणामी और शेष को अपरिणामी कहा था। अब '**णिच्चं**' शब्द से उसी को स्पष्ट किया है कि चार द्रव्यों की विभाव व्यंजनपर्याय नहीं होती, इसलिए वे नित्य हैं तथा जीव और पुद्गल की विभाव व्यंजनपर्याय होने से उन्हें अनित्य कहा है - इसप्रकार 'परिणामी' बोल के साथ मेल बैठता है।

अब '**कारण**' शब्द की व्याख्या करते हैं:-

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल - ये पाँचों द्रव्य जीव के शरीर, वाणी, मन, प्राण, उच्छ्वास, गति, स्थिति, अवगाहन और वर्तनारूप कार्य में निमित्त होने से व्यवहारनय से कारण कहे गये हैं। गुरु-शिष्य परस्पर एक-दूसरे को व्यवहार से उपकार करते हैं, परन्तु पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों के लिए जीव थोड़ा भी कारण नहीं है, उनका कुछ भी उपकार नहीं करता, इसलिए अकारण है।

तत्त्वार्थसूत्र में जीव का उपकार पुद्गल करता है, शरीर-वाणी आदि का निमित्त होने से उपकार निश्चित होता है - ऐसा कहा गया है तथा आत्मा के दु:ख में भी पुद्गल का उपकार स्पष्टरूप से वर्णित है। वास्तव में उपकार का अर्थ वहाँ निमित्तकारण से लिया गया है।

संसार में आत्मा के परिभ्रमण का निमित्तकारण कर्म और नोकर्म है। आत्मा जब बोलने का भाव करता है, तब वाणी पुद्गल के निमित्तपूर्वक निकलती है, यह उपकार जीव के लिए हुआ। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जहाँ-जहाँ परद्रव्य से कार्य का होना कहा है, वह व्यवहारनय से कहा गया है, यथार्थत: नहीं। मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ २५१ पर कहा है - "व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को अथवा उनके भावों को अथवा कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे

श्रद्धान से मिथ्यात्व है।''

जब जीव स्वयं गति करता है, तब उसकी गति में धर्मास्तिकाय को निमित्तकारण कहते हैं – ऐसे ही स्थिति में अधर्मास्तिकाय, अवगाहन में आकाश और परिणमन में कालद्रव्य निमित्त है। पुद्‌गल की बात ऊपर आ ही गई है। इसप्रकार पुद्‌गल आदि पाँचों को निमित्तकारण कह कर जीव के सिवाय जगत में अन्य पाँच द्रव्यों का भी अस्तित्व है – यह ज्ञान कराया है।

अब जीव जीव का उपकार करता है, यह भी व्यवहार का कथन है, स्पष्ट करते हैं। गुरु समझाता है और शिष्य अपने क्षयोपशम के अनुसार समझता है। यहाँ गुरु निमित्तरूप उपकार करता है – यह आशय है तथा गुरु की आत्मा में अपने योग्यताप्रमाण परिणमन होता है, तब शिष्य की उपस्थिति वहाँ होती है – यही कारण है कि शिष्य वहाँ निमित्तरूप उपकार करता है – यह कहा जाता है। आत्मा को आत्मा निमित्त होता है, यह बात तो कही ही गई है, परन्तु आत्मा पुद्‌गल आदि द्रव्यों को निमित्तकारण भी नहीं है – यह बात भी यहीं कह दी है।

छहों (सभी) द्रव्य अपने-अपने कारण परिणमित होते हैं – इतना व्यवहारज्ञान भी जिसको नहीं है, उसे द्रव्यस्वभाव की खबर ही नहीं है। प्रत्येक द्रव्य की वर्त्तमान पर्याय स्वतंत्र है – ऐसा यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान जिसको नहीं, उसे द्रव्य की स्वतंत्रता की बात नहीं बैठती। बैठे भी तो कैसे? जीव की नैमित्तिकदशा जब अपने कारण से होती है, तब पुद्‌गल आदि पाँचों द्रव्यों को निमित्त कहते हैं, इससे पाँच द्रव्य भी कारण हैं।

अब जीव द्रव्य किसमें कारण है और किसमें अकारण – स्पष्ट करते हैं। गुरु-शिष्य परस्पर एक-दूसरे का उपकार करते हैं – यहाँ एक जीव दूसरे को निमित्त है। गुरु के शब्दों का शिष्य के प्रति उपकार है अर्थात् पुद्‌गल जीव में कारण पड़ता है – यह बात तो आ गई है। यहाँ तो जीव में जीव को निमित्त कहा है; क्योंकि गुरु जो कहना चाहते हैं, वह शिष्य जानता है तथा उसी समय गुरु शिष्य की विनय भी जानता है। यहाँ गुरु का कहना और शिष्य की विनय परस्पर एक-दूसरे का उपकार हैं। गुरु का उपदेश और शिष्य द्वारा गुरु की सेवा आदि कार्य होना – यह बात पुद्‌गल को लेकर नहीं है, मात्र जीव में जीव की बात को लेकर है। तथापि पुद्‌गलादि पाँच द्रव्यों के प्रति जीव कुछ

भी उपकार नहीं करता, इससे अकारण है।

निगोद का जीव अपने कारण परिणमित होता है, तब उसमें कर्म निमित्त है। जीव गति करे इसमें धर्मद्रव्य, स्थित रहे इसमें अधर्मद्रव्य, परिणमन करे उसमें कालद्रव्य और जीव को अवगाहन देने में आकाशद्रव्य निमित्त है। इसप्रकार पाँचों द्रव्य जीव की अवस्थाओं में निमित्त हैं, परन्तु पाँचों द्रव्यों की अवस्थाओं में जीव निमित्त नहीं है, अत: अकारण है।

'घड़ा बना' - इसमें कुम्हार निश्चयकारण तो है ही नहीं, व्यवहारकारण भी नहीं है - ऐसा समझना। भाषावर्गणा और कार्माणवर्गणाओं की पर्यायें स्वतंत्र हैं, उनके होने में जीव व्यवहार से भी कारण नहीं है, इस कारण भी आत्मा अकारण है।

देखो! यहाँ बहुत सरल बात कहते हैं कि जब आत्मा स्वयं विकार करे, तब कर्म को कारण कहा जाता है, किन्तु आत्मा जड़कर्मों की पर्याय के होने में निश्चयकारण तो है ही नहीं, व्यवहारकारण भी नहीं है।

भाषा के परिणमन में और शरीर के क्षेत्रांतर होने में आत्मा कारण नहीं है। यह वस्त्र ऊँचा उठा तो अपने कारण से - उसके ऊपर उठने में जीव निमित्तकारण नहीं है, क्योंकि जीव पुद्गल को अकारण है।

एक द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य की पर्याय का कर्त्ता नहीं है। यहाँ तो जीव के व्यवहार से कारणपने का भी निषेध करते हैं। कोई भी जीव अन्य की अवस्था में व्यवहार से भी कारण नहीं।

एकबार निर्णय करके पुद्गल आदि की स्वतंत्र अवस्था में जीव कारण नहीं - इस निरपेक्ष क्रिया को समझ लेना चाहिए, क्योंकि इसे समझे बिना सापेक्षपना भी ख्याल में नहीं आता। इसप्रकार जीव अकारण है।

अब '**कर्त्ता**' शब्द का स्पष्टीकरण देखिये:-

शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव बंध-मोक्ष, द्रव्य-भावरूप, पुण्य-पाप और घट-पट आदि का कर्त्ता नहीं है। सम्यग्दर्शन स्वयं वीतरागी निर्मल पर्याय है, परन्तु उसका ध्येय परम स्वभाव है। शुद्धद्रव्य को ही देखनेवाला ज्ञानपक्ष से बात करता है तथा शुद्ध द्रव्यार्थिकनय

से ज्ञात शुद्धपारिणामिकभाव अथवा अनादि-अनंत एकस्वरूप को ही ग्रहण करता है अथवा जानता है। पुण्य-पाप की पर्याय अथवा मोक्षमार्ग की एक समय की पर्याय को गौण करके नित्यानंद ध्रुवज्ञायक आत्मा शुद्धनिश्चयनय का विषय है। इस दृष्टि को मुख्य करके जाना जाये तो आत्मा मोक्ष की कारणभूत सम्यग्दर्शन आदि पर्यायों का कर्त्ता नहीं है तथा बंध के कारणभूत पुण्य-पाप आदि भावों का भी कर्त्ता नहीं है। कर्त्ता शब्द का अर्थ यहाँ परिणमन करानेवाले से है। शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय में परिणमन और परिणमनकर्त्ता - ये दो भेद नहीं होते। संसार दशा के कारणभूत पुण्य-पाप का परिणमन और मोक्ष दशा के कारणभूत सम्यग्दर्शन आदि वीतरागी पर्याय का परिणमन दोनों ही शुद्धद्रव्य में नहीं है तथा द्रव्यदृष्टि भी इस परिणमन को स्वीकार नहीं करती है।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय ध्रुवपदार्थ है, परिणमन अथवा उत्पाद-व्यय व्यवहारनय का अथवा अशुद्ध निश्चयनय का विषय है। प्रत्येक पदार्थ में तीनों अंश एक साथ हैं। जैसे नई पर्याय का उत्पाद, पुरानी पर्याय का व्यय और ध्रुव-सदृशपने कायम रहना। इसप्रकार '**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**' - यह आगमवाक्य कहा गया है।

उत्पाद-व्यय तो परिणमनरूप है, बदलता है, एकरूप नहीं रहता; इसलिए व्यवहारनय अथवा अशुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय है।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय स्वयं श्रुतज्ञान की पर्याय है और वह उत्पाद-व्यय धर्मरूप पर्याय है, फिर भी उसका विषय ध्रुव अर्थात् शुद्धस्वभाव है। इसप्रकार शुद्धस्वभाव को जाननेवाले जीव उत्पाद-व्यय को अशुद्धनिश्चयनय से जान लेते हैं, उनका ज्ञान यथार्थ है तथा 'मैं सदा शुद्धस्वभावी हूँ, एक हूँ' - इत्यादि का भान हुए बिना निश्चयनय का ज्ञान तो सच्चा होता ही नहीं, व्यवहार-पर्याय का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता है।

कोई पूछता है कि सभी जीव सिद्धसमान हैं - ऐसा कहना चाहिए न?

समाधान - सभी जीव सिद्धसमान हैं - यह बात बिलकुल ठीक है, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अज्ञानी भी सिद्धसमान है - ऐसा ज्ञान हो जाने पर भी अज्ञानी को इस तथ्य का सही भावभासन नहीं होता, ख्याल नहीं आता। सम्यक् श्रुतज्ञानी के ही नय होते हैं, अत: वे ही यथार्थत: यह जानते हैं कि अज्ञानी और ज्ञानी सभी सिद्धसमान हैं।

शुद्धद्रव्य पर दृष्टि हुए बिना रागपर्याय अथवा निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता

है। यही कारण है कि शुद्धद्रव्यार्थिकनय की बात पहले कही है। जिसका ज्ञान हो जाने पर पर्याय आदि का ज्ञान अशुद्धनय से कराते हैं।

शुद्धद्रव्य कैसा है ? अब यह ज्ञान कराते हैं। शुद्ध आत्मद्रव्य जैसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि पर्याय का कर्त्ता नहीं है, वैसे ही पुण्य-पाप भावों का तथा घट-पट आदि जड़ पदार्थों का कर्त्ता नहीं है। एक रजकण भी आत्मा यहाँ से वहाँ नहीं करता।

जिसप्रकार राग वर्त्तमान पर्याय में होता है, वस्तु में नहीं; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन पर्याय भी वस्तुस्वभाव में नहीं होती, वर्तमान पर्याय में ही होती है। इसप्रकार ध्रुव पदार्थ का ज्ञान जिसको होता है, उस जीव को रागादि का यथार्थ ज्ञान होता है।

अशुद्धनिश्चयनय से शुभ तथा अशुभ उपयोग से परिणत होनेवाला आत्मा पुण्य-पाप परिणामों का कर्त्ता और हर्ष-विषाद आदि भावों का भोक्ता है। दया, दान आदि के परिणाम और हर्ष, शोक, रति, अरति आदि के परिणाम भी जीव की पर्याय में ही होते हैं; अत: अशुद्धनिश्चयनय आदि सभी जानने योग्य हैं, परन्तु कब जानने योग्य हैं – यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जब यह जान लिया जाये कि ये परिणाम शुद्धद्रव्य में नहीं हैं, तब ही इस विस्तार में जाना चाहिए।

इस रीति से सच्ची समझपूर्वक ज्ञान करना चाहिए। पर अज्ञानी को सच्ची समझ की महिमा आती ही नहीं, वह तो बिना समझे ही प्रतिमा और मुनिपना आदि धारण कर लेता है, पर यह सब सच्ची समझ बिना व्यर्थ है, समझकर ही यह सब धारणा करना चाहिए। पुण्यरूपी भाव अंशमात्र भी जीवतत्त्व अर्थात् शुद्ध आत्मा में नहीं हैं। यह दृष्टि हुए बिना पुण्य-पाप का व्यवहार भी जानने योग्य नहीं है अर्थात् लाभदायक नहीं है।

पुण्य-पाप का परिणाम जीव में कर्म के कारण होता है – इस मान्यतावाले को व्यवहार का भी ज्ञान नहीं है। दया, दान आदि विकारी परिणाम हैं – यह अशुद्धता स्वयं जीव का परिणमन है और अशुद्धनिश्चयनय से पुण्य-पाप के परिणामों का कर्त्ता आत्मा है।

कर्म का ऐसा उदय है कि हमें विकार करने ही पड़ते हैं – ऐसा अज्ञानी कहता है। पर्याय स्वभाव की खबर जिसे नहीं, उसे द्रव्यस्वभाव और स्वतंत्रता की खबर कैसे

होगी? अपने शुभाशुभभावों का कर्त्ता जीव स्वयं है, कर्म राग-द्वेष नहीं कराते। जीव हर्ष और शोक का भोक्ता है, जड़ का नहीं। अज्ञानी जीवों की यह मान्यता अज्ञान है कि देह का दंड देह भोगे और पूर्वकृत कर्म भोगे बिना नहीं छूटते हैं। कर्म, शरीर आदि जड़ हैं, उन्हें आत्मा कैसे भोग सकता है? वह तो स्वयं में उत्पन्न हर्ष-शोक आदि को भोगता है, कर्म के कारण बाह्य पदार्थों को नहीं भोगता।

जीव अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से राग-द्वेष भावों का कर्त्ता है, शुद्धनिश्चयनय से नहीं - ऐसा प्रामाणिक ज्ञान करना चाहिए।

अब अविकारी दशा की बात करते हैं। आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वभाव का धारक है - ऐसी सच्ची श्रद्धा, ज्ञान और राग रहित आचरणरूप शुद्धोपयोग से परिणत आत्मा मोक्ष का कर्त्ता और फलभोक्ता है। जब पूर्ण शुद्धता का कर्त्ता है तो अधूरी शुद्धता अर्थात् मोक्षमार्ग का कर्त्ता जीव हो ही गया।

मोक्ष का फल जो परम आनंद का वेदन है, उसका भोक्ता आत्मा अशुद्धनिश्चयनय से है। यह बात साधक के लिए कही गई है, केवली और सिद्धभगवान को नय नहीं होते। इसी से वे मोक्ष के फल को भोगते हैं - यह अशुद्धनिश्चयनय से भी नहीं कहा जाता।

साधक जीव यह विचार करता है कि मैं साधकदशा छोड़कर मोक्षदशा प्राप्त करूँ - ऐसे मोक्ष का विचार करने पर भेद पड़ता है, क्योंकि अशुद्धनय से मोक्षफल का भोक्ता जीव को कहा है। पर्याय और भेद को गौणकर मोक्ष का भोक्ता कहा है, यह समझना। द्रव्यदृष्टि कराना इसका (नय का) मूल प्रयोजन है। स्वभाव की तरफ झुकने के लिए और भेद पर से लक्ष्य हटाने के लिए मोक्ष का भोक्ता जीव अशुद्धनिश्चयनय से है - ऐसा कह दिया है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सिद्धभगवान अशुद्धनय से मोक्ष को भोगते हैं। सिद्ध और केवली भगवान के नय-विवक्षा होती ही नहीं है। यहाँ पर साधक की बात है, यही अपेक्षा समझना चाहिए।

आत्मा अपने शुभ-अशुभ परिणामों का तथा शुद्धभावों का कर्त्ता है, अन्य का नहीं। भाई! विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव का धारक अपना ही आत्मा है, जो अपनी ही सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान और आचरणरूप शुद्ध उपयोग से परिणत होकर मोक्ष का कर्त्ता तथा

भोक्ता होता है – ऐसा अशुद्धनिश्चयनय से कहने में आता है। साधक जीव जब विचार करता है तो जीवद्रव्य और मोक्षपर्याय यह भेद पड़ता है – इसलिए अशुद्ध कहा है। अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी के नय ज्ञान नहीं होता है, परन्तु साधकजीव को भेद का विचार आता ही है, जिसका कथन अशुद्धनय से होता है।

सभी शुभ, अशुभ तथा शुद्ध परिणामों का कर्त्ता जीव है; क्योंकि जीव स्वयं ही उन परिणामों को करता है। पर के कारण वे परिणाम नहीं हुए, यह कर्त्तापन की स्वतंत्रता है।

तथा पुद्गल आदि पाँचों द्रव्य अपने-अपने परिणामों से परिणमन कर रहे हैं, अतः अपने-अपने परिणामों के कर्त्ता हैं। कर्म का परिणमन कर्म के कारण होता है, आत्मा के राग के कारण नहीं। इच्छा के कारण भाषा नहीं बोली जाती, क्योंकि शरीर और भाषा की पर्याय परमाणु से होती है, आत्मा से नहीं। मकान की अवस्था परमाणु से बनती है, कारीगर से नहीं। तथा पैसे की पर्याय पैसे के परमाणुओं के कारण है, आत्मा के कारण नहीं; परन्तु अज्ञानी जीव व्यर्थ में ही कर्तृत्व का अभिमान करता है।

'जड़ की पर्यायों का कर्त्ता आत्मा है' जो ऐसा मानता है – वह 'ईश्वर जगत का कर्त्ता है' – ऐसी मान्यतावालों के समान ही मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ यह सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ कि द्रव्य में जो-जो परिणमन हो रहा है, उसका कर्त्ता वह-वह द्रव्य स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं। इसप्रकार विचार करने पर पर-संबंधी अहंकार गिर जाता है।

जड़ और चेतन सभी पदार्थ अपने-अपने कारण ही परिणमित होते हैं। निमित्त मिला-इसलिए इनकी ऐसी अवस्था हुई, यह बात है ही नहीं। इस द्रव्यसंग्रह शास्त्र में तो छहों द्रव्यों का परिणमन स्वतंत्र होता है, यही बताया गया है। पुद्गल द्रवित-परिणमित होता है, शरीर, मकान आदि जितनी भी अवस्थायें होती हैं, वे सभी पुद्गल से ही होती हैं। घड़े का कर्त्ता मिट्टी है, कुम्हार नहीं। रोटी का कर्त्ता उसके परमाणु हैं, बाई नहीं।

अज्ञानी जीव को परकर्तृत्व का अभिमान होता है। उसके दिमाग में यह बात आती ही नहीं कि जड़ में भी स्वयं की परिणमन शक्ति है।

वास्तव में जीव के पुण्य-पापरूपी परिणामों का कर्त्ता कर्म नहीं है। राग अपने कारण से होता है, पर के कारण से नहीं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल में पाँचों ही द्रव्य जीव के परिणामों के अकर्त्ता हैं। पुण्य-पाप, आस्रव, बंध वगैरह विकारी परिणामों का कर्त्ता कर्म नहीं है।

कर्म के कारण उपसर्ग होता है तथा कर्मों की बलजबरी से अमुक-अमुक गतियों में जाना पड़ता है - यह बात ठीक नहीं है।

'बुद्धि कर्मानुसारी होती है' - ऐसा कुछ लोगों का कहना है। यह उनका निमित्त की अपेक्षा से नैमित्तिक कथन है। वास्तव में तो कर्म किसी को भी बलजबरी से विकार कराता ही नहीं है।

काललब्धि आये तो मुक्ति हो जाये तथा कर्म का उदय मंद पड़ जाये तो निगोद में से जीव बाहर निकले - यह बात खोटी है; क्योंकि काल अथवा कर्म कोई भी किसी को पुण्य-पाप नहीं कराते। जीव स्वयं अपने-अपने परिणामों के कर्त्ता हैं। समयसार में जीव को पुण्य-पाप परिणामों का अकर्त्ता कहा है, वहाँ दूसरी अपेक्षा है। वहाँ वर्तमान परिणाम को स्वतंत्र माना है, पश्चात् त्रिकाली स्वभाव में अशुद्धता नहीं है - यह बतलाने के लिए स्वभाव की अधिकता बताकर पुण्य-पाप का कर्त्ता जीव नहीं है - ऐसा द्रव्यदृष्टि करानेवाला कथन किया है, परन्तु जो जीव ऐसा मानता है कि कर्म के कारण अपने में परिणमन होता है, उसे द्रव्यदृष्टि नहीं होती है। धर्मी जीव पूर्ण आत्मा को श्रद्धा में लेकर भी चारित्र धारण क्यों नहीं करता? इस प्रश्न के जवाब में अज्ञानी जीव कहता है कि चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के कारण उसे चारित्र प्रकट नहीं होता है; परन्तु उसकी यह बात सही नहीं है; क्योंकि प्रत्येक परिणाम अपने कारण होता है। पुद्गलकर्म जीव के परिणामों का अकर्त्ता है।

अब '**सर्वगत**' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं:-

आकाश लोक तथा अलोक में व्याप्त है, अत: सर्वव्यापक है तथा लोक में धर्म तथा अधर्म द्रव्य व्याप्त हैं, इसलिए उनको सर्वगत कहा है।

जीवद्रव्य में सभी जीव समुद्घात नहीं करते - इस कारण जीव असर्वगत है, परन्तु आकाश में सभी जीव रहते हैं - इस अपेक्षा भी आकाश सर्वगत है।

तथा पुद्गलद्रव्य लोकाकाश के बराबर महास्कन्ध की अपेक्षा से सर्वगत है, शेष सभी पुद्गलों की अपेक्षा असर्वगत है तथा एक कालाणु की अपेक्षा कालद्रव्य सर्वगत नहीं है; परन्तु लोकाकाश में रत्नों की राशि के समान ठसाठस व्याप्त असंख्य कालाणुओं की अपेक्षा से कालद्रव्य भी लोक में सर्वगत है।

व्यवहारनय की अपेक्षा से सभी द्रव्य परस्पर एकक्षेत्र में रहते हैं। आत्मा और कर्म एकक्षेत्र में रहते हैं, पर ऐसा होने पर भी कर्म आत्मा में प्रवेश नहीं करते। यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्य में प्रवेश करे तो अनंत द्रव्य नहीं रह सकते; सभी मिलकर एक हो जायेंगे। कर्म कर्म में रहता है, आत्मा में नहीं; आत्मा आत्मा में रहता है, कर्म में नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने में ही परिणमन कर रहा है। एक आकाशक्षेत्र में रहनेवाले होने से जीव और कर्म साथ-साथ हैं - ऐसा बोला जाता है, परन्तु अज्ञानीजीव व्यवहार कथन को सही नहीं समझता - इसलिए भूल करता है।

जीव का चेतना गुण कर्म में प्रवेश नहीं करता और कर्म का रूपीपना आत्मा में प्रवेश नहीं करता। धर्म का गतिहेतुत्व गुण जीव में प्रवेश नहीं करता। तथा जीव भी अपना जीवत्व स्वभाव और पुद्गल अपना रूपीपना नहीं छोड़ता। व्यवहारनय एक-दूसरे का एक-दूसरे में ज्ञान कराता है, परन्तु वस्तु एक-दूसरे में प्रवेश नहीं करती। व्यवहार तो ज्ञान करने के लिए है, आदरणीय नहीं। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है।

यहाँ कोई कहे कि मंत्र से साँप का जहर उतर जाता है, फिर आप कैसे कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है?

समाधान- भाई! एक परमाणु दूसरे परमाणु को छूता ही नहीं है। अनंत पुद्गल परमाणुओं का स्कन्धरूप जो मंत्र बोला जाता है, वह भाषावर्गणा का शब्दरूप परिणमन है। तथा शरीररूप परमाणुओं का स्कन्ध शब्दरूप स्कन्धों से पृथक् है। भाषा के परमाणु शरीर के परमाणुओं को स्पर्श ही नहीं करते तथा स्कन्ध में भी एक परमाणु दूसरे परमाणु को नहीं छूता है। एक परमाणु की पर्याय का अन्य परमाणु की पर्याय के साथ अन्योन्याभाव है। अभाववाली वस्तु अन्य में प्रवेश करे - ऐसा नहीं बनता। दो गुण स्निग्धवाला परमाणु चार गुण स्निग्धवाले परमाणु से मिलकर चार गुण स्निग्धवाला हो जाता है तो वह अपनी ही वैसी योग्यता होने के कारण हुआ है, दूसरे परमाणु के साथ

उसका संयोग हुआ – इस कारण नहीं। इस रीति से छहों द्रव्य परस्पर प्रवेशरहित हैं।

अब कथन का तात्पर्य बताते हैं कि छहों द्रव्यों में पुण्य-पापरहित शुद्धात्मा उपादेय है।

प्रत्येक आत्मा परपदार्थों से रहित है। आत्मा रागरहित स्वभाववाला है। ज्ञान और आनंद उसका स्वरूप है। दया-दानादि शुभभावों, हिंसादि अशुभभावों और मन, वचन, काय के निमित्त से उत्पन्न योगों से रहित होने के कारण शुद्ध है, सदैव एक है; वही उपादेय है।

यहाँ पर्यायदृष्टि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि करायी गई है। पहले कहा था न कि आत्मा में उत्पन्न राग के कारण कर्म नहीं है। प्रत्येक परिणाम स्वतंत्र है। शुभाशुभभावों तथा योग का कंपन क्षणिक है, अशुद्धभाव है और तेरा स्वरूप नहीं है; इसलिए पर्याय की रुचि छोड़कर त्रिकालीस्वभाव की रुचि कर।

जो जीव पर के कारण अपने में कार्य मानता है तथा कर्म के कारण मेरे परिणाम होते हैं – ऐसा मानता है तो वह निमित्त से भी जुदा नहीं हुआ। वह पर्याय की रुचि छुड़ाने के लिए और द्रव्यबुद्धि करने के लिए कहा है कि शुद्ध आत्मा उपादेय है।

परपदार्थ तथा निमित्त आदरणीय नहीं, शरीर कर्म आदि भी आदरणीय नहीं। पैसा सुखरूप और सुख देनेवाला नहीं। परपदार्थों में सुख है – यह कल्पना भी शुद्ध आत्मा के नहीं है। पुण्य-पाप भावों से रहित आत्मा शुद्ध है और एक वही आदरणीय है, परन्तु जो जीव पर में अटककर द्रव्यदृष्टि नहीं कर सकते हैं, उनके लिए भावकर्म का कर्त्ता आत्मा है – ऐसा निश्चय प्रथम भूमिका में कराते हैं। ऐसी समझ रखनी चाहिए।

इस अध्याय में छह द्रव्यों का वर्णन है। भगवान सर्वज्ञदेव ने छहों द्रव्य गुण-पर्याय सहित जैसे देखे और जाने हैं, वैसा ही उपदेश दिया है। यहाँ पर तो अभी यह विचार चलता है कि उन द्रव्यों में कौन हेय हैं और कौन उपादेय?

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये पाँचों ही द्रव्य आदरणीय नहीं है; क्योंकि शरीर, कर्म वगैरह पाँचों द्रव्य ज्ञान के ज्ञेय तो हैं, परन्तु आश्रय (अंगीकार) करने योग्य नहीं हैं। अब जीव द्रव्य की बात करते हैं। शुद्ध निश्चयनय से देखा जाये तो सभी जीव शक्तिपने शुद्ध ही हैं तथा ज्ञान और आनंद के पिंड हैं, एक समय की विकारी

पर्याय को गौण करके देखें तो सभी जीव आनंद के कंद हैं, ज्ञानरूप एक ही स्वभाव को धारण करनेवाले हैं, वास्तव में तो सभी परमात्मा समान हैं।

इसप्रकार का निश्चय करने पर निजशक्ति की प्रतीति होती है कि मैं स्वयं परमात्मा के समान हूँ। यह निर्णय करनेवाले जीव को सभी जीव पूर्ण हैं, शुद्ध हैं - ऐसा जानने में आता है। अपने आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान सही होते ही सभी जीव ज्ञान और आनंद आदि शक्तियों से भरे हुए हैं - यह ज्ञान हो जाता है। इसलिए शुद्धनिश्चयनय से शक्तिरूप से सर्व जीव शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावी होने से उपादेय हैं।

व्यक्ति विशेष की अपेक्षा से अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पाँचों ही परमेष्ठी उपादेय हैं। अरहन्त और सिद्धपरमेष्ठी सर्वज्ञ अर्थात् पूर्णज्ञान के धारी हैं तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी अल्पज्ञ हैं। इस अपेक्षा देखें तो अरहन्त और सिद्ध उपादेय हैं। निश्चयनय की दृष्टि से एक सिद्ध ही उपादेय हैं अथवा वे सभी उपादेय हैं, जो परम आनंद का अनुभव कर रहे हैं।

परमनिश्चयनय से कहा जाये तो भोगादि की अभिलाषा से रहित तथा सम्पूर्ण (शुभाशुभ) विकल्पों से रहित परमध्यान के काल में सिद्ध भगवंतों के समान निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। शरीर, मन, वाणी - आत्मा नहीं, आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं, पृथक् द्रव्य हैं और जो व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प उठते हैं, वे सभी हेय हैं, उनसे भिन्न आत्मा शुद्ध चिदानंद-स्वरूप प्रभु है, सर्व सामर्थ्य का धारी है।

आत्मा स्वयं ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी। त्रिकाली ध्रुव परमात्मा ज्ञेय और वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय जाननेवाली होने से ज्ञान (ज्ञाता) है, इसप्रकार ज्ञान पर्याय की स्वज्ञेय में एकता है, यही एकता परम ध्यान है, निर्विकल्प अनुभव है। निर्विकल्प अनुभव अरहन्त, सिद्ध परमात्माओं के तो होता ही है, परन्तु आंशिकरूप से साधक को भी होता है। जिस समय एकमात्र चिदानंद आत्मा को निजज्ञान का ज्ञेय बनाया जाता है, उससमय निज शुद्ध आत्मा उपादेय है। आत्मध्यान चौथे, पाँचवें, सातवें और आगे के सभी गुणस्थानों में होता है। गुणस्थानातीत सिद्ध परमात्मा भी परम ध्यान में लीन हैं - ऐसा समझना।

राग के काल में साधक जीव का लक्ष्य निमित्त की तरफ होता है, परन्तु दृष्टि शुद्ध

चैतन्यतत्त्व को ही स्वीकार करती है। इसप्रकार श्रद्धा दृढ़ीभूत होने के पश्चात् निर्विकल्प ध्यान के काल में स्वरूपस्थिरतापूर्वक शुद्धचैतन्य को अंगीकार करना - मात्र यही उपादेय है। राग की भूमिका में कुदेवादि संबंधी विनय हटी और सुदेवादि संबंधी विनय उपजी, पर दृष्टि तो अकेले स्वभाव को ही स्वीकार करती है।

निजशुद्धात्मद्रव्य को छोड़कर शेष सभी द्रव्य हेय हैं - यह तात्पर्य समझना।

शुद्ध-बुद्ध स्वभाव का अर्थ क्या है? ऐसा पूछने का आचार्य उत्तर देते हैं:-

मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण विभावों से रहित होने के कारण आत्मा शुद्ध है। केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों से परिपूर्ण होने के कारण बुद्ध है। अहा हा! आत्मा का स्वभाव शुद्ध-बुद्ध एकत्वस्वरूप है। जहाँ-जहाँ शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव पद आये, वहाँ-वहाँ पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार उनका अर्थ समझना चाहिए। श्रीमद् रायचन्द्रजी ने वृहद्-द्रव्यसंग्रह ईडर में बाँचा था। उनकी आत्मसिद्धि में भी ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

''शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम''

इसप्रकार छह द्रव्यों की चूलिका पूर्ण हुई।

अब चूलिका शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं। किसी भी पदार्थ का विशेष व्याख्यान करना अथवा पूर्व में कहे हुए विषय में जो बात नहीं कही गई, उसको कहना तथा दोनों का एक साथ कथन करना चूलिका है।

इस चूलिका के पश्चात् जीव तथा पुद्गलद्रव्य की पर्यायरूप जो आस्रव आदि सात पदार्थ हैं, उन्हें ग्यारह गाथाओं द्वारा दूसरे अधिकार में समझाया गया है।

इसप्रकार श्रीमद् नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित वृहद्-द्रव्यसंग्रह पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी के प्रवचन पूर्ण हुए।